ज्ञातृपुत्र (महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, वे अशेष ज्ञान और दर्शन के ज्ञाता हैं। हमारे चलते, ठहरते, सोते, जागते समस्त अवस्थाओं में सदैव उनका ज्ञान और दर्शन उपस्थित रहता है। उन्होंने कहा है :— निर्ग्रन्थों! तुमने पूर्व (जन्म) मे पाप कर्म किए है, उनकी इस घोर दुश्चर तपस्या से निर्जरा कर डालो। मन, वचन और काय की सवृत्ति से (नये) पाप नहीं बधते और तपस्या से पुराने पापों का क्षय हो जाता है। इस प्रकार नये पापों के रुक जाने से कर्मों का क्षय होता है, कर्मक्षय से दु खक्षय होता है। दु खक्षय से वेदनाक्षय और वेदनाक्षय से सर्व दु खो की निर्जरा हो जाती है।" इस पर बुद्ध कहते हैं कि "यह कथन हमारे लिए रुचिकर है और हमारे मन को ठीक जचता है।" पाली रचना मे आगत बुद्धदेव के ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं, "त च पन् अम्हाक रुच्चति चेव खमति च तेन च अम्हा अत्तमना ति" (मज्झिमनिकाय, P. T. S. P. ९२–९३)। महावीर भगवान की सर्वज्ञता के प्रति बुद्धदेव की रुचि का भाव मनोवैज्ञानिक तथ्य विशेष पर आश्रित है, कारण राजा मिलिन्द के प्रश्न का उत्तर देते हुए बौद्ध भिक्षु नागसेन ने कहा है, "बुद्ध का ज्ञान सदा नही रहता था। जिस समय बुद्ध किसी बात का विचार करते थे, तब उस पदार्थ की ओर मनोवृत्ति जाने से उसे वे जान लेते थे।" (१) अत सर्वकाल विद्यमान रहने वाले तीर्थंकर महावीर की सर्वज्ञता के प्रति उनकी स्पृहापूर्ण ममता स्वाभाविक है।

सर्वज्ञ होने के कारण इन तीर्थंकरो ने तत्व का सर्वांगीण बोध प्राप्तकर जीवो के हितार्थ जो मगलमयी देशना दी, वह अलौकिक एव मार्मिक है।

इस पुस्तक के लेखन में पूज्य १०८ आदिसागरजी दि० मुनिराज (दक्षिण) का आरा से मुद्रित लघुकाय ट्रेक्ट "त्रिकालवर्ती महापुरुष" मूल कारण है। सन् १९५८ में उक्त मुनि महाराज का सिवनी में चातुर्मास हुआ था। सशोधन हेतु उक्त मुनि महाराज ने अपना ट्रेक्ट हमे दिया। उस रचना की अपूर्णता

---

1 Venerable Nagasena, was the Buddha Omniscient ? Yes, O King, he was. But the insight of knowledge was not always and continously present with him The Omniscience of the Blessed One was dependent on reflection. But if he did reflect, he knew whatever he wanted to know .. . . . (Sacred books of the East, Vol XXXV P. 154—"Milinda-Panha")

देख हमने स्वतंत्र रूप से करीब चार सौ पृष्ठ की रचना बनाई। वह रचना मुनि महाराज को देते समय यह विचार उत्पन्न हुआ कि त्रिकालवर्ती चक्रवर्ती, कामदेव, नारायण, नारद आदि महापुरुषों के चरित्रादि में से यदि तीर्थंकर के विषय की बातों को पृथक करके परिवर्धन किया जाय तो तीर्थंकर रूप में स्वतंत्र रचना बन जायगी। इस विचार का ही यह परिणाम है, जो यह तीर्थंकर पुस्तक बन गई। इस रचना का अक्षरशः बहुभाग मुनि महाराज के नाम से छपी पुस्तक में निबद्ध हुआ है। इस विषय में भ्रम निवारणार्थ यह लिखना उचित जँचता है कि पूज्य मुनि महाराज ने हमारी इच्छानुसार ही अपनी संग्रह रूप पुस्तक में हमारी लिखी सामग्री का उपयोग किया है।

जब हम पंचकल्याणकों का वर्णन लिख रहे थे, तब हमारे पूज्य पिता सिंघई कुंवरसेनजी इसे बड़े प्रेम से सुना करते थे। इससे उनका हृदय बड़ा आनन्दित होता था। वे जिनेन्द्र पंचकल्याणक महोत्सव के महान प्रेमी थे। उन्होंने बड़े-बड़े पंचकल्याणक महोत्सवों में भाग लिया था तथा बड़े-बड़े विघ्नों का अपने बुद्धि-कौशल द्वारा निवारण किया था। उनकी इच्छा भी थी कि शास्त्रोक्त पूर्ण विधिपूर्वक एक पंचकल्याणक प्रतिष्ठा स्वयं करावें। उनकी जिनेन्द्र भक्ति अपूर्व थी। लगभग बीस वर्ष से वे समाधिमरण के लिए अभ्यास कर रहे थे। एक विशाल परिवार के प्रमुख व्यक्ति होते हुए भी उन्होंने धर्म पुरुषार्थ की साधना को मुख्यता दी थी। शास्त्र श्रवण, तत्वचिन्तन तथा जिनेन्द्र नाम-स्मरण उनके मुख्य कार्य थे। वे मुझसे कहा करते थे, "बेटा ! मेरा समाधिमरण करा देना।" मैंने भी कहा था,समय आने पर आपकी कामना पूर्ण करूँगा।

इस तीर्थंकर पुस्तक के प्रकाशन कार्य में शीघ्रता निमित्त मैं जबलपुर १७ मार्च सन् १९६० को गया; वहाँ तारीख २४ मार्च को टेलीफोन द्वारा समाचार मिला, बापाजी की तबियत विशेष खराब है; दस मिनिट के अनंतर वज्रपात तुल्य दूसरा फोन आया कि परम धार्मिक बापाजी का स्वर्गवास हो गया। पहले उन्होंने "जिया, समकित बिना न तरो, बहु कोटि यतन करो, जिया समकित बिना न तरो" यह भजन मेरे छोटे भाई अभिनंदन कुमार दिवाकर एम. ए. एल-एल. बी. एडवोकेट से सुना था; पश्चात् भक्तामर का पाठ सुना। इसके अनंतर सहस्रनाम पाठ सुनाया गया। वे परम शान्त भाव से धर्मामृत का रस पान कर रहे थे। सहस्रनाम का पुनः पाठ प्रारम्भ किया गया, कि सवा नौ बजे दिन को बापाजी ने जराजीर्ण देह को छोड़ दिया और अपूर्व समाधिमरण के प्रसाद से उन्होंने दिव्य शरीर को प्राप्त किया।

में जबलपुर से सिवनी आया, पिताजी नहीं मिले। उनका शरीर मात्र था, जो निश्चेष्ट था। शास्त्रोक्त बातें सामने आईं। "लाख कोड की धरी रहेगी, मङ्ग न जै है एक तगा, प्रभु सुमरन में मन लगा-लगा", यह भजन बापाजी गाया करते थे। सचमुच में चैतन्य ज्योति चली गई। शेष सभी पदार्थ जहाँ के तहाँ पड़े रह गए। उनके अंत समय में काम न आ पाया, यह विचार मन में मूक वेदना उत्पन्न करता है। अब क्या किया जा सकता है? मैंने सोचा कि यह तीर्थंकर ग्रन्थ उन परम प्रभावशाली, शास्त्रज्ञ एवं धार्मिक नररत्न की पावन स्मृति में ही प्रकाश में लाया जाय। तीर्थंकरत्व में कारणरूप षोडश कारण भावनाओं के प्रति उनकी महान तथा अपूर्व श्रद्धा थी। उनके लोकोपकारी जीवन में आदर्श धार्मिक गृहस्थ की अपूर्व विशेषताओं का सुन्दर सङ्गम था। अत इस रचना को उनकी पुण्य स्मृति रूप में प्रकाश में लाना परम उपयुक्त लगा।

जैन समाज के महान् विद्वान् तथा दिवगत होने के पूर्व दिगम्बर मुद्रा को धारणकरने वाले सत्पुरुष पूज्य न्यायाचार्य क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी (१०८ मुनि गणेशकीर्ति जी महाराज) ने अपने पत्र मे लिखा था:—"आपका कल्याणमय जीवन व्यतीत हो। आपके पिताजी तो बहुत ही योग्य पुरुष हैं।"

जैन समाज के उद्भट विद्वान्, अखिल भारत वर्षीय दि० जैन शास्त्रि परिषद के सरक्षक, विद्वद्रत्न सिद्धान्तमहोदधि, तर्करत्न प० माणिकचन्द जी *न्यायाचार्य ने लिखा था, "आपके पूज्य पिताजी बड़े प्रतिभाशाली, धार्मिक,* वीर पुरुष थे। जैन विद्वानो से अक्षुण्ण प्रमाद भावना रखते थे। समाज मे अनेक कार्य कर विशेष ख्याति प्राप्त कर चुके थे। ऐसे नर-रत्न को धन्य है। ऐसे महान् नर श्रेष्ठ अब कहाँ हैं?"

यह पुस्तक लिखते समय छोटे भाई शांतिलाल दिवाकर के चिरंजीव ऋषभकुमार ने बहुत सहायता दी। धर्मप्रिय ऋषभ प्रतिभासम्पन्न बालक है। उसने लेखनकार्य में बहुत परिश्रमपूर्वक अपूर्व सहयोग दिया। छोटे भाई प्रोफेसर सुशीलकुमार एम० ए० बी० काम० एल-एल० बी० ने मुद्रण-व्यवस्था, प्रूफ देखना, महत्वपूर्ण सुझाव देना आदि कार्यों द्वारा उल्लेखनीय सहयोग दिया है। भाई श्रेयासकुमार बी० एस० सी० ने भी उचित सहायता दी है। इस प्रकार के सहयोग द्वारा यह सस्करण प्रकाश में आ सका।

दिवाकर सदन
सिवनी (म. प्र.)
१ जुलाई १९६०

सुमेरुचन्द दिवाकर

'जयउ सुयदेवदा'

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

इस रचना के प्रति विद्वानों, त्यागियों तथा जनसाधारण ने अपना आशातीत प्रेमभाव व्यक्त किया, जिसके परिणामस्वरूप दो वर्ष के भीतर ही प्रथम संस्करण समाप्त हो गया। लोगों की माँग बहुत होने से इसके पुनः मुद्रण के लिए उद्योग करना पड़ा। समस्त रचना की बारीकी से जाँच करके अनेक आवश्यक संशोधन और परिवर्तन किए। इस कार्य में चि० ऋषभकुमार दिवाकर ने, जो इस समय बी० ए० का विद्यार्थी है, बहुत परिश्रमपूर्वक महत्वपूर्ण सहायता दी है। हमारे छोटे भाई प्रोफेसर सुशीलकुमार दिवाकर एम० ए० बी० काम० एल० एल० बी०, हेड ऑफ दी डिपार्टमेंट ऑफ कामर्स, जबलपुर विश्वविद्यालय ने भी महत्वपूर्ण सहयोग दिया। हम साहित्यिक सेवा आर्थिक लाभ की दृष्टि से न कर उसे आत्म-कल्याण और लोकसेवा का अत्यन्त पवित्र साधन मानते हैं। ऐसी स्थिति में ग्रन्थ के प्रकाशन तथा प्रचार हेतु निम्नलिखित जैनागम के प्रसार प्रेमी बन्धुओं ने सहर्ष आर्थिक सहायता दी :—

(१) श्री मदनलाल जी काला ने (फर्म श्री छांगमल जी रतनलाल जी, कलकत्ता) अपने धार्मिक पिता श्री भँवरलालजी काला की स्मृति में निर्मित ट्रस्ट से १५०० रु०

(२) सेठ प्रेमसुख पन्नालाल जी काला फर्म के मालिक गुरुभक्त किशनलालजी काला कलकत्ता ने ५०० रु०

(३) सेठ भँवरीलालजी बाकलीवाल, अध्यक्ष भा० व० दि० जैन महासभा, इम्फाल, मणिपुर स्टेट ने ५०० रु०

इस दानशीलता और औदार्य के लिए उनको धन्यवाद है।

इस संस्करण के प्रकाशन में सिघई प्रेस के व्यवस्थापक भाई अमृतलाल जी परवार ने विशेष रुचि ली। अतः में उनके प्रति भी आभार प्रदर्शित करता हूँ।

दिवाकर सदन, सिवनी म० प्र०
२३ अगस्त १९६९, रक्षाबंधन

सुमेरुचन्द दिवाकर

तीर्थंकर

जब जगत् में अन्धकार का अखण्ड साम्राज्य छा जाता है, तब नेत्रों की शक्ति कुछ कार्य नहीं कर पाती है । अन्धकार, नेत्रयुक्त मानव को भी अन्ध सदृश बना देता है । इस पौद्गलिक अन्धकार से गहरी अंधियारी मिथ्यात्व के उदय से प्राप्त होती है । उसके कारण यह ज्ञानवान् जीव अपने स्वरूप को नहीं जान पाता है । मोहनीय कर्म के आदेशानुसार यह निन्दनीय कार्य करता फिरता है । जड़ शरीर में यह मिथ्यात्वांध व्यक्ति आत्म-बुद्धि धारण करता है । जब इसे कोई सत्पुरुष समझाते हैं कि तुम चैतन्यपुञ्ज ज्ञायक स्वभाव आत्मा हो, शरीर का तुमसे कोई सम्बन्ध नहीं है, तो यह अविवेकी उस वाणी को विष समान समझता है ।

धर्म-सूर्य

सूर्योदय होते ही अन्धकार का क्षय होता है, उसी प्रकार तीर्थंकर रूपी धर्म-सूर्य के उदय होते ही जगत् में प्रवर्धमान मिथ्यात्व का अन्धकार भी अंतःकरण से दूर होकर प्राणी में निजस्वरूप का अवबोध होने लगता है ।

किन्हीं की मान्यता है कि शुद्ध अवस्था प्राप्त परमात्मा मानवादि पर्यायों में अवतार धारण करता है । जिस प्रकार बीज के दग्ध होने पर वृक्ष उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार राग-द्वेष, मोह आदि विकारों के बीज के आत्म-समाधि रूप अग्नि से नष्ट होने पर परम पद को प्राप्त आत्मा का राग-द्वेष पूर्ण दुनियाँ में पुनः आना है । सर्वदोषमुक्त जीव द्वारा मोहमयी प्रदर्शन उचित नहीं कहा जायगा ।

उदय-काल

इस स्थिति में आचार्य रविषेण एक मार्मिक तथा सुयुक्ति समर्थित बात कहते हैं कि जब जगत् में धर्म-ग्लानि बढ़ जाती है, सत्पुरुषों को कष्ट उठाना पड़ता है तथा पाप-बुद्धि वालों के पास विभूति का उदय होता है, तब तीर्थंकर रूप महान् आत्मा उत्पन्न होकर सच्चे आत्म-धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाकर जीवों को पाप से विमुख बनाते हैं। उन्होंने पद्मपुराण में लिखा है—

> आचाराणां विघातेन कुदृष्टीनां च संपदा।
> धर्मग्लानिं परिप्राप्त मुच्छ्रयन्ते जिनोत्तमाः॥५—२०६॥

जब उत्तम आचार का विघात होता है, मिथ्याधर्मियों के समीप श्री की वृद्धि होती है, सत्य धर्म के प्रति घृणा निरादर का भाव उत्पन्न होने लगता है, तब तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और सत्य धर्म का उद्धार करते हैं।

तीर्थ का स्वरूप

इस तीर्थंकर शब्द के स्वरूप पर विचार करना उचित है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है,—"तीर्थमागम. तदाधारसंघश्च" अर्थात् जिनेन्द्र कथित आगम तथा आगम का आधार साधुवर्ग तीर्थ है। तीर्थ शब्द का अर्थ घाट भी होता है। अतएव "तीर्थं करोतीति तीर्थंकर" का भाव यह होगा कि जिनकी वाणी के द्वारा संसार सिंधु से जीव तिर जाते हैं, वे तीर्थ के कर्त्ता तीर्थंकर कहे जाते हैं। सरोवर में घाट बने रहते हैं, उस घाट से मनुष्य सरोवर के बाहर सरलतापूर्वक आ जाता है; इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् के द्वारा प्रदर्शित रत्नत्रय पथ का अवलम्बन लेने वाला जीव संसार-सिन्धु में न डूब कर चिन्तामुक्त हो जाता है।

तीर्थ के भेद

मूलाचार में तीर्थ के दो भेद कहे हैं—एक द्रव्य तीर्थ,

दूसरा भाव तीर्थ। द्रव्य तीर्थ के विषय में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है—

> दाहोपसमण-तण्हा-छेदो-मलपंकपवहणं चेव।
> तिहिं कारणेहिं जत्तो तम्हा तं दव्वदो तित्थं ॥५५६॥

द्रव्य तीर्थ में ये तीन गुण पाए जाते हैं। प्रथम तो सन्ताप शान्त होता है, द्वितीय तृष्णा का विनाश होता है तथा तीसरे मल-पंक की शुद्धि होती है। इस कारण आचार्य ने "सुदधम्मो एत्थ पुण तित्थं"—शास्त्र रूप धर्म को तीर्थ कहा है। जिनवाणी रूप गंगा में अवगाहन करने से संसार का सन्ताप शान्त होता है, विषयों की मलिनता का निवारण होता है। अतएव जिनवाणी को द्रव्य तीर्थ कहना उचित है। श्रुत तीर्थ स्वरूप जिनवाणी के विषय में भागचंद जी का यह भजन बड़ा मार्मिक है:—

> सांची तो गङ्गा यह वीतराग वानी,
> अविच्छिन्न धारा निजधर्म की कहानी ॥टेक॥
> जामें अति ही विमल अगाध ज्ञान पानी।
> जहाँ नहीं संशयादि पंक की निशानी ॥१॥
> सप्तभङ्ग जहँ तरङ्ग उछलत सुखदानी।
> संत चित्त मराल वृन्द रमें नित्य ज्ञानी ॥२॥

कवि के ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं:—

> जाके अवगाहन तें शुद्ध होय प्रानी।
> भागचंद निहचै घट माँहि या प्रमानी ॥३॥

सरस्वती पूजन में कहा है—

> इह जिणवर वाणि विसुद्ध मई,
> जो भवियण णिय मण धरई।
> सो सुर-णरिंद-संपइ लहइ,
> केवलणाण वि उत्तरई ॥

जो विशुद्ध बुद्धि भव्य जीव इस जिनवाणी को अपने मन म स्थान देता है, वह देवेन्द्र तथा नरेन्द्र की विभूति प्राप्त करते हुए

केवलज्ञान को प्राप्त करता है ।

जिनेन्द्र भगवान को भाव तीर्थ कहा है—

दंसण-णाण-चरित्ते णिज्जुत्ता जिणवरा दु सव्वेपि ।
तिहि कारणेहिं जुत्ता तम्हा ते भावदो तित्थं ।।५६०।।मू० श्रा०

सभी जिनेन्द्र भगवान सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चरित्र संयुक्त हे । इन तीन कारणो से युक्त है, इससे जिन भगवान भाव तीर्थ है ।

जिनेन्द्र वाणी के द्वारा जीव अपनी आत्मा को परम उज्ज्वल बनाता है । ऐसी रत्नत्रय भूपित आत्मा को भाव तीर्थ है । जिनेन्द्र रूप भाव तीर्थंकर के समीप में पोडश कारण भावना को भाने वाला सम्यक्त्वी जीव तीर्थंकर बनता है । रत्न-त्रय-भूषित जिनेन्द्र रूप भाव तीर्थ के द्वारा अपवित्र आत्मा भी पवित्रता को प्राप्त कर जगत् के सन्ताप को दूर करने मे समर्थ होती है । इन जिनदेव रूप भाव तीर्थ के द्वारा प्रवर्धमान आत्मा तीर्थकर बनती है और पश्चात् श्रुत-रूप तीर्थ की रचना में निमित्त होती है ।

धर्म-तीर्थंकर

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति होती है इससे उनको धर्म तीर्थकर कहते हे । मूलाचार के इस अत्यन्त भाव पूर्ण स्तुति-पद्य मे भगवान को धर्म तीर्थकर कहा है—

लोगुज्जोयरा धम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहंते ।।
कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहि मम दिसतु ।।५३६।।

जगत् को सम्यक्ज्ञान रूप प्रकाश देने वाले धर्म तीर्थ के कर्ता, उत्तम, जिनेन्द्र, अर्हन्त केवली मुझे विशुद्ध बोधि प्रदान करें अर्थात् उनके प्रसाद से रत्न-त्रय-धर्म की प्राप्ति हो ।

तीर्थंकर शब्द का प्रयोग

तीर्थकर शब्द का प्रयोग भगवान महावीर के समय मे

अन्य सम्प्रदायों में भी होता था, यद्यपि प्रचार तथा रूढ़िवश तीर्थंकर शब्द का प्रयोग जिनेन्द्र भगवान के लिये किया जाता है। जैन शास्त्रों में भी तीर्थंकर शब्द का प्रयोग श्रेयांस राजा के साथ करते हुए उनको दान-तीर्थंकर कहा है।* अतएव तीर्थंकर शब्द के पूर्व में धर्म शब्द को लगा कर धर्म तीर्थंकर रूप में जिनेन्द्र का स्मरण करने की प्रणाली प्राचीन है।

साधन रूप सोलह भावनाएँ

समीचीन धर्म की व्याख्या करते हुए आचार्य समंतभद्र ने लिखा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूप धर्म है, जिससे जीव संसार के दुःखों से छूटकर श्रेष्ठ मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। इस धर्म तीर्थ के कर्ता इस अवसर्पिणी काल की अपेक्षा वृषभदेव आदि महावीर पर्यन्त चौबीस श्रेष्ठ महापुरुष हुए हैं। तीर्थंकर का पद किसी की कृपा से नहीं प्राप्त होता है। पवित्र सोलह प्रकार की भावनाओं तथा उज्ज्वल जीवन के द्वारा कोई पुण्यात्मा मानव तीर्थंकर पद प्रदान करने में समर्थ तीर्थंकर प्रकृति नाम के पुण्य कर्म का बंध करता है। यह पद इतना अपूर्व है कि दस कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण इस अवसर्पिणी काल में केवल चौबीस ही तीर्थंकरों ने अपने जन्म द्वारा इस भारत क्षेत्र को पवित्र किया है। असंख्य प्राणी रत्नत्रय की समाराधना द्वारा अर्हन्त होते हुए सिद्ध पदवी को प्राप्त करते हैं, किन्तु भरत क्षेत्र में तीर्थंकर रूप में जन्म धारण करके मोक्ष जाने वाले महापुरुष चौबीस ही होते हैं। ऐरावत क्षेत्र में भी यही स्थिति है।

---

*जिनसेन स्वामी ने महापुराण में बताया है कि ऋषभ भगवान को आहार देने के पश्चात् चक्रवर्ती भरत द्वारा राजा श्रेयांस के लिये दानतीर्थंकर तथा महापुण्यवान् शब्द कहे गए थे। ग्रन्थकार कहते हैं— त्वं दानतीर्थकृत् श्रेयान् त्वं महापुण्यभागसि ॥ पर्व २०, १२८ महापुराण ॥

तीर्थंकर प्रकृति के बध मे कारण ये सोलह भावनाएं आगम मे कही गई हे, दर्शन-विशुद्धि, विनय सम्पन्नता, शील तथा व्रतो का निरतिचार रूप से पालन करना, अभीक्ष्ण अर्थात् निरन्तर ज्ञानोपयोग, सवेग, शक्तित. त्याग, शक्तितः तप, साधु-समाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हंत-भक्ति, आचार्य-भक्ति, बहुश्रुत-भक्ति, प्रवचन-भक्ति, आवश्यकापरिहाणि अर्थात् आत्मा को निर्मल बनाने वाले आवश्यक नियमो के पालन मे सतत सावधान रहना, रत्नत्रय धर्म को प्रकाश मे लाने रूप मार्ग प्रभावना तथा प्रवचनवत्सलत्व अर्थात् साधर्मी वन्धुओ मे गो-वत्स सम प्रीति धारण करना । इन सोलह प्रकार की श्रेष्ठ भावनाओ के द्वारा श्रेष्ठ पद तीर्थंकरत्व की प्राप्ति होती है ।

महाबध ग्रंथ में तीर्थंकर प्रकृति का तीर्थंकर-नाम-गोत्रकर्म कहकर उल्लेख किया गया है, यथा—"एदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवो तित्थयरणामागोद कम्म बधदि" (ताम्रपत्र प्रति पृष्ठ ५) । उस महाबंध के सूत्र में सोलह कारणभावनाओ के नामों का इस प्रकार कथन आया है—

कदिहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामागोद-कम्मं बंधदि ? तत्थ इमेणाहि सोलसकारणेहि जीवा तित्थरणामा-गोदं कम्मं बंधदि । दंसण विसुज्झदाए, विणयसंपण्णदाए, सीलवदेसु णिरदि-चारदाए, आवासएसु अपरिहोणदाए 'खणलव पडिमज्झ (बुज्झ) णदाए', लद्धिसवेग-संपण्ण-दाए अरहंतभत्तीए, बहुसुदभत्तीए, पवयणभत्तीए, पवयणवच्छलदाए, पवयणप्रभावणदाए, अभिक्खण णाणोपयुत्तदाए ।

उपरोक्त नामो में प्रचलित भावनाओं से तुलना करने पर विदित होगा कि यहाँ आचार्य-भक्ति का नाम न गिनकर उसके स्थान में खणलव-पडिवुज्झणदा भावना का संग्रह किया गया है । इसका अर्थ है—क्षण में तथा लव में अर्थात् क्षण-क्षण में अपने रत्नत्रय धर्म के कलक का प्रक्षालन करते रहना क्षणलव-प्रतिबोधनता है ।

इन सोलह कारणो के द्वारा यह मनुष्य धर्म तीर्थंकर जिन केवली होता है । कहा भी है—जस्स इण कम्मस्स उदयेण सदेवासुर-

माणुसस्स लोगस्स अच्चणिज्जा वंदणिज्जा णमंसणिज्जा धम्म-तित्थयरा जिणा केवली (केवलिणो) भवंति।

तीर्थंकर प्रकृति के बंधक

जिस तीर्थंकर प्रकृति के उदय से देव, असुर तथा मानवादि द्वारा वन्दनीय तीर्थंकर की पदवी प्राप्त होती है, उस कर्म का बंध तीनों प्रकार के सम्यक्त्वी करते हैं। सम्यक्त्व के होने पर ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है। किन्हीं आचार्य का कथन है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल अंतर्मुहूर्त प्रमाण अल्प है। उसमें सोलह भावनाओं का सद्भाव संभव नहीं है। अतः उसमें तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होगा।

यह भी बात स्मरण योग्य है, कि इसका बंध मनुष्यगति में ही केवली अथवा श्रुतकेवली के चरणों के समीप प्रारम्भ होता है। तित्थयरबंध-पारंभया णरा केवली-दुगंते। (९३ गो० कर्मकांड) इस प्रकृति का बंध तिर्यंच गति को छोड़ शेष तीन गतियों में होता है। इसका उत्कृष्टपने से अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष न्यून दो कोटि पूर्व अधिक तेतीस सागर प्रमाण काल पर्यन्त बन्ध होता है। केवली श्रुतकेवली का सानिध्य आवश्यक कहा है, क्योंकि तदन्यत्र तादृग्वि-शुद्धिविशेषासंभवात्" उनके सानिध्य के सिवाय वैसी विशुद्धता का अन्यत्र अभाव है।

नरक की प्रथम पृथ्वी में तीर्थंकर प्रकृति का बंध पर्याप्त तथा अपर्याप्त अवस्था में होता है। दूसरी तथा तीसरी पृथ्वी में इस प्रकृति का बंध अपर्याप्ति काल में नहीं होता है। कहा भी है—

घम्मे तित्थं बंधदि वंसामेघाण पुण्णगो चेव ॥१०६॥गो० कर्म०

गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ३६ में लिखा है कि तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध अविरत सम्यक्त्वी के होता है। "तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ"। इसकी संस्कृत टीका में लिखा है: "तीर्थंकरं उत्कृष्ट-स्थितिकं नरकगति-गमनाभिमुख-मनुष्यासंयत

सम्यग्दृष्टिरेव बध्नाति" (बडी टीका पृ० १३४)—उत्कृष्ट स्थिति सहित तीर्थकर प्रकृति को नरक गति जाने के उन्मुख असयत सम्यक्त्वी मनुष्य बाँधता है, कारण उसके तीव्र सक्लेश भाव रहता है। उत्कृष्ट स्थिति बध के लिये तीव्र सक्लेश युक्त परिणाम आवश्यक है। नरक गति मे गमन के उन्मुख जीव के तीव्र सक्लेश के कारण तीर्थकर रूप शुभ प्रकृति का अल्प अनुभाग बध होगा क्योकि "सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण सकिलेसेण" (१६३)—शुभ प्रकृतियो का तीव्र अनुभाग बध विशुद्ध भावो से होता है तथा अशुभ प्रकृतियो का तीव्र अनुभाग बध सक्लेश से होता है।

अपूर्वकरण गुणस्थान के छठवें भाग तक शुद्धोपयोगी तथा शुक्लध्यानी मुनिराज के इस तीर्थकर रूप पुण्य प्रकृति का बध होता है। वहाँ इसका उत्कृष्ट अनुभाग बंध पड़ेगा। स्थिति बंध का रूप विपरीत होगा अर्थात् वह न्यून होगा।

सोलह कारण भावनाओ मे दर्शनविशुद्धि की मुख्यता मानी गई है। प० आशाधर जी ने सागारधर्मामृत अध्याय ८ के ७३वें श्लोक की टीका में लिखा है—"एकया-असहायया विनयसंपन्नतादि-तीर्थकरत्वकारणान्तर-रहितया, दृग्विशुद्ध्या श्रेणिको नाम मगध महामडलेश्वरो तीर्थकृत धर्म-तीर्थकर' भविता भविष्यति"। अर्थात् विनय-सपन्नतादि तीर्थकरत्व के कारणान्तरो से रहित केवल एक दर्शन विशुद्धि के द्वारा श्रेणिक नामक मगधवासी महामडलेश्वर धर्म-तीर्थकर होगें।

भिन्न-दृष्टि

उत्तरपुराण में प्रकृत प्रसग पर प्रकाश डालने वाली एक भिन्न दृष्टि पाई जाती है। वहाँ पर्व ७४ में श्रेणिक राजा ने गणधरदेव से पूछा है, मेरी जैन धर्म में बड़ी भारी श्रद्धा प्रगट हुई है तथापि में व्रतो को क्यों नही ग्रहण कर सकता? उत्तर देते हुए गणधरदेव ने कहा—तुमने नरकायुका बध किया है। यह नियम है कि देवायु के

बंध को छोड़कर अन्य आयु का बंध करनेवाला फिर व्रतों को स्वीकार नहीं कर सकता। इसी कारण तुम व्रत धारण नहीं कर सकते। हे महाभाग! आज्ञा, मार्ग, बीज आदि दस प्रकार की श्रद्धाओं में से आज तुम्हारे कितनी ही श्रद्धाएं विद्यमान हैं। इनके सिवाय दर्शन-विशुद्धि आदि शास्त्रों में कहे हुए जो सोलह कारण हैं, उनमें से सब या कुछ कारणों से यह भव्यजीव तीर्थंकर नाम कर्म का बंध करता है। इनमें से दर्शनविशुद्धि आदि कितने ही कारणों से तू तीर्थंकर नामकर्म का बंध करेगा। मर कर रत्नप्रभा नरक में जायगा और वहाँ से आकर उत्सर्पिणी काल में महापद्म नामक प्रथम तीर्थंकर होगा। ग्रन्थकार के शब्द इस प्रकार हैं—

> एतास्वपि महाभाग तव संत्यद्य काश्चन।
> दर्शनाद्यागमप्रोक्त-शुद्ध-षोडशकारणैः ॥४५०॥—७४॥
> भव्यो व्यस्तैः समस्तैश्च नामात्मीकुरुतेतिमम्।
> तेषु श्रद्धादिभिः कैश्चिद् तन्नामकारणैः॥४५१॥
> रत्नप्रभां प्रविष्टः संस्तत्फलं मध्यमायुषा।
> भुक्त्वा निर्गत्य भव्यास्मिन् महापद्माख्य-तीर्थकृत ॥४५२॥

इस विषय में तत्वार्थ-श्लोकवार्तिकालंकार का यह कथन ध्यान देने योग्य है। विद्यानंदि-स्वामी कहते हैं—

> दृग्विशुध्यादयो नाम्नस्तीर्थकृत्वस्य हेतवः।
> समस्ता व्यस्तरूपा वा दृग्विशुध्या समन्विताः ॥पृष्ठ ४५६—पद्य १७॥

दर्शनविशुद्धि आदि तीर्थंकर नाम कर्म के कारण हैं, चाहे वे सभी कारण हों या पृथक्-पृथक् हों किन्तु उनको दर्शन विशुद्धि समन्वित होना चाहिये। वे इसके पश्चात् तीर्थंकर प्रकृति के विषय में बड़े गौरवपूर्ण शब्द कहते हैं—

> सर्वातिशायि तत्पुण्यं त्रैलोक्याधिपतित्वकृत् ॥१८॥

वह पुण्य तीन लोक का अधिपति बनाता है। वह पुण्य सर्वश्रेष्ठ है।

दर्शनविशुद्धि आदि भावनाएं पृथक् रूप में तथा समुदाय

रूप में तीर्थंकर पद की प्राप्ति में कारण है, ऐसा भी अनेक स्थलो मे उल्लेख आता है, यथा हरिवंश पुराण में कहा है—

तीर्थंकरनामकर्माणि षोडश-सत्कारणान्यमूनि।
व्यस्तानि समस्तानि भवंति सद्भाव्यमानानि॥

अकलंक स्वामी राजवर्तिक में लिखते हैं :—

तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि समस्तानि च। तीर्थंकरनामकर्मास्त्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि॥ अध्याय ६, सूत्र २४, पृष्ठ २६७॥

इन भावनाओ में दर्शनविशुद्धि का स्वरूप विचार करने पर उसकी मुख्यता स्पष्ट रूप से प्रतिभासमान होती है। तीर्थंकर-प्रकृति रूप धर्म-कल्पतरु पूर्ण विकसित होकर सुख रूप सुमधुर फलो से समलकृत होते हुए अगणित भव्यो को अवर्णनीय आनन्द तथा शान्ति प्रदान करता है, उस कल्पतरु की बीजरूपता का स्पष्टरूप से दर्शन प्रथम भावना में होता है।

दर्शन-विशुद्धि में आगत 'दर्शन' शब्द सम्यग्दर्शन का वाचक है। दर्शन का अर्थ है वे पुण्यप्रद उज्ज्वल भाव, जिनका सक्लेश की कालिमा से सम्बन्ध न हो, कारण विशुद्धभाव से शुभ प्रकृतियो में तीव्र अनुभाग पडता है और संक्लेश परिणामो से पाप प्रकृतियो मे तीव्र अनुभाग पड़ता है (गो० कर्मकाण्ड गाथा १६३)

इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान में रखना उचित है कि तीर्थंकर प्रकृति के बध रूप बीज बोने का कार्य *केवली-श्रुतकेवली के पादमूल अर्थात् चरणों के समीप होता है। भरत क्षेत्र में इस काल मे अब उक्त साधन युगल का अभाव होने से तीर्थंकर प्रकृति का बंध

---

*श्रुत केवली के निकट भी षोड़शकारण भावनाएँ भाई जा सकती हैं। यदि षोडशकारणभावना भाने वाला स्वय श्रुतकेवली हो, तो उसे अन्य श्रुतकेवली का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक नही होगा। जिसका सानिध्य अन्य व्यक्ति को तीर्थंकर प्रकृति का बध करने में सहायक हो सकता है, वह स्वय उस प्रकृति का बध नही कर सकेगा, ऐसा मानना उचित नही प्रतीत होता।

नहीं हो सकता है।

केवली के चरणों की समीपता का क्या कारण है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि उन जिनेन्द्र की दिव्य वाणी के प्रसाद से देव, मनुष्य, पशु सभी जीवों को धर्म का अपूर्व लाभ होता है। यह देखकर किसी महाभाग के हृदय में ऐसे अत्यन्त पवित्र भाव उत्पन्न होते हैं कि मिथ्यात्वरूप महा अटवी में मोह की दावाग्नि जलने से अगणित जीव मर रहे हैं, उनके अनुग्रह करने को प्रभो ! आपके समान क्षमता, शक्ति तथा सामर्थ्य मेरी भी आत्मा में उत्पन्न हो, जिससे मैं सम्पूर्ण जीवों को आत्मज्ञान का अमृत पिलाकर उनको सच्चे सुख का मार्ग बता सकूं। इस प्रकार की विश्वकल्याण की प्रबल भावना के द्वारा सम्यक्त्वी जीव तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है।

विनय-सम्पन्नता, अर्हन्त भक्ति, आचार्य भक्ति, प्रवचन-भक्ति, मार्ग प्रभावना, प्रवचन वात्सल्य सदृश अनेक भावनाएँ सम्यक्त्वके होने पर सहज ही उसके अङ्ग रूप में प्राप्त हो जाती हैं। जिस प्रकार अक्षरहीन मन्त्र विष वेदना को दूर नहीं कर सकता है, इसी प्रकार अङ्गहीन सम्यक्त्व भी जन्म संतति का क्षय नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में सम्यक्त्व यदि सांगोपांग हो तथा उसके साथ सर्व जीवों को सम्यक्ज्ञानामृत पिलाने की विशिष्ट भावना या मङ्गल कामना प्रबल रूप से हो जाय, तो तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है। दर्शन विशुद्धि भावना परिपूर्ण होने पर अनेक भावनाएं अस्पष्ट रूप से उसकी सहचरी रूप में आ जाती हैं। यदि सहचरी रूप भावनाओं के निरूपण को गौण बनाकर कथन किया जाय, तो तीर्थंकर पद में कारण दर्शन-विशुद्धि को भी (मुख्य मानकर) कहा जा सकता है।

श्रेणिक राजा का उदाहरण

इस प्रसङ्ग में पहले महामंडलेश्वर राजा श्रेणिक का उदाहरण

आ चुका है। श्रेणिक महाराज अव्रती थे, क्योंकि वे नरकायुका बंध कर चुके थे। वे क्षायिक सम्यक्त्वी थे। उनके दर्शन-विशुद्धि भावना थी, यह कथन भी ऊपर आया है। महावीर भगवान का सानिध्य होने से केवली का पादमूल भी उनको प्राप्त हो चुका था। उनमें शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, आवश्यकापरिहाणि, शील-व्रतो मे निरतिचारता सदृश सयमी जीवन से सम्बन्धित भावनाओ को स्वीकार करने मे कठिनता आती है, किन्तु अर्हन्तभक्ति, गणधरादि महान् गुरुओ का श्रेष्ठ सत्सङ्ग रहने से आचार्य-भक्ति, बहुश्रुत-भक्ति, प्रवचन-भक्ति, मार्ग-प्रभावना, प्रवचन-वत्सलत्व सदृश सद्‌गुणो का सद्भाव स्वीकार करने मे क्या बाधा है? ये तो भावनाए सम्यक्त्व की पोषिकाए है। क्षायिक सम्यक्त्वी के पास इनका अभाव होगा, ऐसा सोचना तक कठिन प्रतीत होता है। अतएव दर्शन-विशुद्धि की विशेष प्रधानता को लक्ष्य में रख कर उसे कारणो में मुख्य माना गया है। इस विवेचन के प्रकाश मे प्रतीयमान विरोध का निराकरण करना उचित है।

सम्यग्दर्शन तथा दर्शन-विशुद्धि भावना में भेद

इतनी बात विशेष है, सम्यग्दर्शन और दर्शन-विशुद्धि-भावना मे भिन्नता है। सम्यग्दर्शन आत्मा का विशेष परिणाम है। वह बध का कारण नही हो सकता। इसके सद्भाव मे एक लोक-कल्याण की विशिष्ट भावना उत्पन्न होती है, उसे दर्शन-विशुद्धि-भावना कहते है। यदि दोनो मे अन्तर न हो, तो मलिनता आदि विकारो से पूर्णतया उन्मुक्त सभी क्षायिक सम्यक्त्वी तीर्थंकर प्रकृति के बधक हो जाते, किन्तु ऐसा नही होता, अत. यह मानना तर्क सङ्गत है, कि सम्यक्त्व के साथ मे और भी विशेष पुण्य-भावना का सद्भाव आवश्यक है, जिस शुभ राग से उस प्रकृति का बध होता है।

आगम में कहा है कि तीनों सम्यक्त्वो मे तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है, अत. यह मानना उचित है कि सम्यक्त्व रूप

आत्मनिधि के स्वामी होते हुए भी लोकोद्धारिणी, शुभराग रूप विशुद्ध-भावना का सद्भाव आवश्यक है। उसके बिना क्षायिक सम्यक्त्वी भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं कर सकेगा।

क्षायिक सम्यक्त्व मात्र यदि तीर्थंकर प्रकृति का कारण होता, तो सिद्ध पदवी की प्राप्ति के पूर्व सभी केवली तीर्थंकर होते, क्योंकि केवलज्ञानी बनने के पूर्व क्षपक श्रेणी आरोहण करते समय क्षायिक सम्यक्त्वी होने का अनिवार्य नियम है। भरत क्षेत्र में एक अवसर्पिणी में चौबीस ही तीर्थंकर हुए हैं। इतनी अल्पसंख्या ही तीर्थंकर प्रकृति की लोकोत्तरता को स्पष्ट करती है। क्षायिक सम्यक्त्वी होने मात्र से यदि तीर्थंकर पदवी प्राप्त होती, तो महावीर तीर्थंकर के समवशरण में विद्यमान ७०० केवली सामान्य केवली न होकर तीर्थंकर केवली हो जाते; किन्तु ऐसा नहीं होता। एक तीर्थंकर के समवशरण में दूसरे तीर्थंकर का सद्भाव नहीं होता। एक स्थान पर *एक ही समय जैसे दो सूर्य या दो चन्द्र प्रकाशित* नहीं होते, उसी प्रकार दो तीर्थंकर एक साथ नहीं पाए जाते हैं।

हरिवंशपुराण में कहा है—

तान्योन्यदर्शनं जातु चक्रिणां धर्मचक्रिणाम्।
हलिनां वासुदेवानां त्रैलोक्यप्रतिचक्रिणाम् ॥सर्ग ५४–५६॥

चक्रवर्ती, धर्मचक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव तथा बलदेव इनका और अन्य चक्रवर्ती, धर्मचक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव तथा बलदेव का क्रमशः परस्पर दर्शन नहीं होता है।

तीर्थंकर प्रकृति के सद्भाव का प्रभाव

तीर्थंकर प्रकृति का उदय केवली अवस्था में होता है। "तित्थं केवलिणि" यह आगम का वाक्य है। यह नियम होते हुए भी तीर्थंकर भगवान के गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक तथा तपकल्याणक रूप कल्याणकत्रय तीर्थंकर प्रकृति के सद्भाव मात्र से होते हैं। होनहार तीर्थंकर के गर्भकल्याणक के छह माह पूर्व ही विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर

होने लगता है। भरत तथा ऐरावत क्षेत्र म पंचकल्याणक वालेही तीर्थंकर होते है। वे देवगति से आते है या नरक से भी चयकर मनुष्य पदवी प्राप्त करते है। तिर्यच पर्याय से आकर तीर्थंकर रूप से जन्म नही होता है। तिर्यचो मे तीर्थंकर प्रकृति के सत्व का निषेध है। "तिरिये ण तित्थसत्त" यह वाक्य गोम्मटसार कर्मकाँड (३४५ गा०) मे आया है।

पंचकल्याणक वाले तीर्थंकर

पचकल्याणक वाले तीर्थंकर मनुष्य पर्याय से भी चयकर नही आते। वे नरक या देवगति से आते है। अपनी पर्याय परित्याग के छह माह शेष रहने पर नरक मे जाकर देव होनहार तीर्थंकर के असुरादि कृत उपसर्ग का निवारण करते है। स्वर्ग से आने वाले देव के छह माह पूर्व माला नही मुरझाती है। त्रिलोकसार मे कहा है—

तित्थयरसतकम्मुवसग्ग णिरए णिवारयति सुरा।
छम्मासाउगसेसे सग्गे अमलाणमालका ॥१९५॥

भरत क्षेत्र सम्बन्धी वर्तमान चौबीस तीर्थंकर स्वर्ग-सुख भोग कर भरत क्षेत्र मे उत्पन्न हुए थे। इनमे नरक से चयकर कोई नही आए। आगामी तीर्थंकर भगवान महापद्म, अभी प्रथम नरक में चौरासी हजार वर्ष की आयु धारण कर नरक पर्याय मे है। वे नरक से चयकर उत्सर्पिणी काल के आदि-तीर्थंकर होगे।

नरक से निकलकर आने वाली आत्मा का तीर्थंकर रुप मे विकास तत्वज्ञो को बडा मधुर लगता है, किन्तु भक्त-हृदय को यह ज्ञातकर मनोव्यथा होती है, कि हमारे भगवान नरक से आवेगे। ईश्वर कर्तृत्व सिद्धान्त मानने वालो को तो यह कहकर सन्तुष्ट किया जा सकता है कि नरक के दुखो का प्रत्यक्ष परिचयार्थ तथा वहाँ के जीवो के कल्याण निमित्त परम कारुणिक प्रभु ने वराहावतार धारणादि के समान नरकावतार रूपता अङ्गीकार की, किन्तु जैन सिद्धान्त के अनुसार उपरोक्त समाधान असम्यक् है। ऐसो

स्थिति में उपरोक्त समस्या पर इस दृष्टि से विचार करना तर्कपूर्ण प्रतीत होता है।

स्वर्ग या नरक गमन का कारण

जीव विशुद्ध भावों से पुण्य का संचय कर स्वर्ग जाता है तथा संक्लेश परिणामों के कारण पाप का संग्रह कर नरक जाता है। पुण्य-कर्म को उदयावली द्वारा क्षय करने के लिये जैसे होनहार तीर्थंकर का स्वर्गगमन सुसङ्गत है, उसी न्यायानुसार संचित पाप राशि को उपभोग द्वारा क्षय करने के लिये नरक पर्याय में जाना भी तर्क पूर्ण है। मोक्ष को प्राप्त करने के हेतु संचित पुण्य एवं पाप का क्षय आवश्यक है।

जो लोग सम्यक्त्व की अपूर्व महिमा से परिचित हैं, उनकी दृष्टि में इन्द्रिय जनित स्वर्ग का सुख तथा नरक के दुःख समान रूप से अनात्म भाव हैं। आत्मसुख का अनुभव करने वाला सम्यक्त्वी जीव हीनावस्था में भी तत्वतः दुःखी नहीं रहता है। सम्यक्त्वी जीव अपने को मनुष्य, देव, नारकी आदि न सोचकर ज्ञानमयी आत्मा अनुभव करता है।

तत्वज्ञानी आचार्य अमितगति के शब्दों में वह सोचता है, मेरी आत्मा अकेली है। उसका विनाश नहीं होता। वह मलिनता रहित है, ज्ञान स्वरूपवाली है। शेष समस्त पदार्थ मेरी आत्मा से जुदे हैं। कर्म की विविध विपाकरूप अवस्थाएं मेरी नहीं हैं। वे कुछ काल तक टिकनेवाली हैं।

इस आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर इन्द्रियजनित दुःख के समान इन्द्रियजन्य सुख की स्थिति का बोध होता है। अतः तीर्थंकर चाहे नरक से आकर नरपर्याय धारण करें, चाहे सुर पदवी के पश्चात् मानव देह को प्राप्त करें, उनके तीर्थंकरत्व में कोई क्षति नहीं पहुंचती है। आचार्य श्री १०८ शांतिसागर महाराज ने एक बार हमसे कहा था, सम्यक्त्व के सद्भाव में चाहे जीव किसी भी पर्याय म रहे, उसकी

आध्यात्मिक शांति मे कोई बाधा नही आती। उन्होंने एक सुन्दर दृष्टांत दिया था, एक व्यक्ति सुवर्ण पात्र मे रखकर अमृत सदृश मधुर भोजन करता है और दूसरा मृत्तिका पात्र में उस मिष्टान्न का सेवन करता है, आधार की उच्चता, लघुता से पदार्थ के स्वाद में कोई अन्तर नहीं रहता है, इसी प्रकार देव, नरकादि पर्याय रूप भिन्न आधारों के होते हुए भी सम्यक्ज्ञानी जीव के आत्मरस पान की अलौकिक छटा को कोई भी क्षति नहीं प्राप्त होती।

गुणजन्य विशेषता

तीर्थंकर की विशेषता उनके आत्मगत गुणो को दृष्टिपथ में रखकर अवगत करनी चाहिये। महाकवि धनजय की यह उक्ति कितनी मधुर तथा मार्मिक है :—

> तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव।
> त्वां येऽवगायन्ति कुलं प्रकाश्य।
> तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं
> पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति ॥२३॥विषापहार स्तोत्र

हे आदि जिनेन्द्र! जो आपके कुल को प्रकाशित करते हुए आपको नाभिराय के नन्दन कहते है, भरतराज के पिता प्रतिपादन करते है, इस प्रकार कुल के गौरव-गान द्वारा आपकी महिमा के निरूपण से ऐसा प्रतीत होता है कि वे विशुद्ध सुवर्ण को प्राप्त करके उसकी स्तुति करते हुए उसकी पाषाण से उत्पत्ति का प्रतिपादन करते है, अर्थात् कहाँ पाषाण और कहाँ सुवर्ण! इसी प्रकार कहाँ आपके कुल की कथा और कहाँ आपका त्रिभुवन मे अलौकिक जीवन, जिसकी समता कही भी दृष्टिगोचर नही होती है।

तीर्थंकर भक्ति

पुण्यशाली नरेन्द्र एवं देवेन्द्र भगवान की स्तुति करते हैं। इसमें उतनी अपूर्वता नही दिखती, जितनी वीतरागी महाज्ञानी

मुनीन्द्रों द्वारा तीर्थंकर की वंदना तथा भक्ति में लोकोत्तरता स्पष्ट होती है। तीर्थंकर भक्ति का यह पाठ बड़े-बड़े साधुजन पढ़ा करते हैं—

"इच्छामि भंते चउवीस-तित्थयरभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सा-लोचेउं पंचमहाकल्लाणसंपण्णाणं अट्ठमहापाडिहेरसहियाणं चउतीस-अति-सयविसेस-संजुत्ताणं, बत्तीस-देविंद-मणिमउड-मत्थयमहियाणं, बलदेव-वासुदेव-चक्कहर-रिसि-मुणि-जइ-अणगारोवगूढाणं थुइसयसहस्स णिलयाणं उसहाइ-वीरपच्छिममंगलमहापुरिसाणं भत्तिए णिच्चकालं अच्चेमि पुज्जेमि वंदामि णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइ-गमणं समाहि-मरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवान्! मैं समस्त दोषों को दूर करने के लिए चौबीस तीर्थंकरों की भक्तिरूप कायोत्सर्ग धारण करता हुआ अपने पूर्वकृत कर्मों की आलोचना करता हूँ। पंचमहाकल्याणकों से सुशोभित, अष्टमहाप्रातिहार्य से युक्त चौतीस अतिशय विशेष संयुक्त, बत्तीस देवेन्द्रों के मणिमय मुकुट समलंकृत मस्तकों के द्वारा पूजित, बलदेव वासुदेव, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, यति, अनगार इनके द्वारा वेष्टित, शत-सहस्र अर्थात् लाखों स्तुतियों के स्थान, वृषभादि महावीर पर्यन्त मङ्गल पुरुषों की मैं सर्वकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ। मैं उनको प्रणाम करता हूँ। मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय का लाभ हो, सुगति में गमन हो। समाधि पूर्वक मरण हो। जिनेन्द्र की गुण-सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो।

इस तीर्थंकर भक्ति में उनकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। वृषभादि महावीर पर्यंत चौबीस तीर्थंकरों का प्रथम विशेषण है, "पंच-महाकल्लाणसंपण्णाणं"—वे पंच महान कल्याणकों को प्राप्त हैं, अतएव प्रभु के पंच कल्याणकों आदि के विषय में प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है, कारण वे तीर्थंकर को छोड़ अन्य जीवों में नहीं पाए जाते।

आध्यात्मिक शांति में कोई बाधा नही आती। उन्होंने एक सुन्दर दृष्टांत दिया था, एक व्यक्ति सुवर्ण पात्र में रखकर अमृत सदृश मधुर भोजन करता है और दूसरा मृत्तिका पात्र में उस मिष्टान्न का सेवन करता है, आधार की उच्चता, लघुता से पदार्थ के स्वाद में कोई अन्तर नहीं रहता है, इसी प्रकार देव, नरकादि पर्याय रूप भिन्न आधारों के होते हुए भी सम्यक्ज्ञानी जीव के आत्मरस पान की अलौकिक छटा को कोई भी क्षति नही प्राप्त होती।

गुणजन्य विशेषता

तीर्थंकर की विशेषता उनके आत्मगत गुणों को दृष्टिपथ में रखकर अवगत करनी चाहिये। महाकवि धनंजय की यह उक्ति कितनी मधुर तथा मार्मिक है —

> तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव।
> त्वां येऽवगायन्ति कुलं प्रकाश्य।
> तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं
> पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति ॥२३॥विषापहार स्तोत्र

हे आदि जिनेन्द्र ! जो आपके कुल को प्रकाशित करते हुए आपको नाभिराय के नन्दन कहते हैं, भरतराज के पिता प्रतिपादन करते हैं, इस प्रकार कुल के गौरव-गान द्वारा आपकी महिमा के निरूपण से ऐसा प्रतीत होता है कि वे विशुद्ध सुवर्ण को प्राप्त करके उसकी स्तुति करते हुए उसकी पाषाण से उत्पत्ति का प्रतिपादन करते हैं, अर्थात् कहाँ पाषाण और कहाँ सुवर्ण ! इसी प्रकार कहाँ आपके कुल की कथा और कहाँ आपका त्रिभुवन में अलौकिक जीवन, जिसकी समता कही भी दृष्टिगोचर नही होती है।

तीर्थंकर भक्ति

पुण्यशाली नरेन्द्र एवं देवेन्द्र भगवान की स्तुति करते हैं। इसमें उतनी अपूर्वता नही दिखती, जितनी वीतरागी महाज्ञानी

मुनीन्द्रों द्वारा तीर्थंकर की वंदना तथा भक्ति में लोकोत्तरता स्पष्ट होती है। तीर्थंकर भक्ति का यह पाठ बड़े-बड़े साधुजन पढ़ा करते हैं—

"इच्छामि भंते चउवीस-तित्थयरभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं पंचमहाकल्लाणसंपण्णाणं अट्ठमहापाडिहेरसहियाणं चउतीस-अतिसयविसेस-संजुत्ताणं, बत्तीस-देविंद-मणिमउड-मत्थयमहियाणं, बलदेव-वासुदेव-चक्कहर-रिसि-मुणि-जइ-अणगारोवगूढाणं थुइसयसहस्स णिलयाणं उसहाइ-वीरपच्छिममंगलमहापुरिसाणं भत्तिए णिच्चकालं अच्चेमि पुज्जेमि वंदामि णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो सुगइ-गमणं समाहि-मरणं, जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

हे भगवान्! मैं समस्त दोषों को दूर करने के लिए चौबीस तीर्थंकरों की भक्तिरूप कायोत्सर्ग धारण करता हुआ अपने पूर्वकृत कर्मों की आलोचना करता हूँ। पंचमहाकल्याणकों से सुशोभित, अष्टमहाप्रातिहार्य से युक्त चौतीस अतिशय विशेष संयुक्त, बत्तीस देवेन्द्रों के मणिमय मुकुट समलंकृत मस्तकों के द्वारा पूजित, बलदेव वासुदेव, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, यति, अनगार इनके द्वारा वेष्टित, शत-सहस्त्र अर्थात् लाखों स्तुतियों के स्थान, वृषभादि महावीर पर्यन्त मङ्गल पुरुषों की मैं सर्वकाल अर्चा करता हूँ, पूजा करता हूँ, वंदना करता हूँ। मैं उनको प्रणाम करता हूँ। मेरे दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, रत्नत्रय का लाभ हो, सुगति में गमन हो। समाधि पूर्वक मरण हो। जिनेन्द्र की गुण-सम्पत्ति मुझे प्राप्त हो।

इस तीर्थंकर भक्ति में उनकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। वृषभादि महावीर पर्यंत चौबीस तीर्थंकरों का प्रथम विशेषण है, "पंच-महाकल्लाणसंपण्णाणं"—वे पंच महान कल्याणकों को प्राप्त हैं, अतएव प्रभु के पंच कल्याणकों आदि के विषय में प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है, कारण वे तीर्थंकर को छोड़ अन्य जीवों में नहीं पाए जाते।

पंच-कल्याणक

इस संसार को पच प्रकार के संकटो-अकल्याणों की आश्रय-भूमि माना गया है। उनको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भावरूप पंच परावर्तन कहते हैं। तीर्थंकर भगवान के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान तथा मोक्ष का स्वरूप चितवन करने वाले सत्पुरुप को उक्त पंच परावर्तन-रूप संसार में परिभ्रमण का कप्ट नही उठाना पड़ता है। उनके पुण्य-जीवन के प्रसाद से पच प्रकार के अकल्याण छूट जाते हैं तथा यह जीव मोक्षरूप पचमगति को प्राप्त करता है। पंच अकल्याणो की प्रतिपक्ष रूप तीर्थंकर के जीवन की गर्भ, जन्मादि पच अवस्थाओ की पचकल्याण या पचकल्याणक नाम से प्रसिद्धि है।

★

गर्भ-कल्याणक

जिनेन्द्र भगवान के जननी के गर्भ में आने के छह माह पूर्व से ही इस वसुन्धरा में भावी तीर्थंकर के मङ्गलमय आगमन की महत्ता को सूचित करने वाले अनेक शुभ कार्य सम्पन्न होने लगते हैं

जन्मपुरी का सौन्दर्य

भगवान ऋषभदेव के माता मरुदेवी के गर्भ में आने के छह माह पूर्व ही इन्द्र की आज्ञानुसार देवों ने स्वर्गपुरी के समान अयोध्या नगरी की रचना की थी। उसे साकेता, विनीता तथा सुकोशलापुरी भी कहते हैं। उस नगरी की अपूर्व रमणीयता का कारण महाकवि जिनसेन स्वामी के शब्दों में यह था—

स्वर्गस्यैव प्रतिच्छंदं भूलोकेऽस्मिन् विधित्सुभिः।
विशेषरमणीयैव निर्ममे सामरैः पुरी ॥१२—७१॥

देवों ने उस अयोध्या नगरी को विशेष मनोहर बनाया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि देवताओं की यह इच्छा थी, कि मध्यलोक में भी स्वर्ग की प्रतिकृति रक्खी जावे।

पंच-कल्याणक

इस संसार को पच प्रकार के संकटो-अकल्याणो की आश्रय-भूमि माना गया है। उनको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भावरूप पंच परावर्तन कहते हैं। तीर्थंकर भगवान के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान तथा मोक्ष का स्वरूप चितवन करने वाले सत्पुरुष को उक्त पंच परावर्तन-रूप ससार में परिभ्रमण का कष्ट नही उठाना पड़ता है। उनके पुण्य-जीवन के प्रसाद से पच प्रकार के अकल्याण छूट जाते हैं तथा यह जीव मोक्षरूप पचमगति को प्राप्त करता है। पंच अकल्याणो की प्रतिपक्ष रूप तीर्थंकर के जीवन की गर्भ, जन्मादि पच अवस्थाओ को पचकल्याण या पचकल्याणक नाम से प्रसिद्धि है।

★

गर्भ-कल्याणक

जिनेन्द्र भगवान के जननी के गर्भ में आने के छह माह पूर्व से ही इस वसुन्धरा में भावी तीर्थंकर के मङ्गलमय आगमन की महत्ता को सूचित करने वाले अनेक शुभ कार्य सम्पन्न होने लगते हैं

जन्मपुरी का सौन्दर्य

भगवान ऋषभदेव के माता मरुदेवी के गर्भ में आने के छह माह पूर्व ही इन्द्र की आज्ञानुसार देवों ने स्वर्गपुरी के समान अयोध्या नगरी की रचना की थी। उसे साकेता, विनीता तथा सुकोशलापुरी भी कहते हैं। उस नगरी की अपूर्व रमणीयता का कारण महाकवि जिनसेन स्वामी के शब्दों में यह था—

स्वर्गस्यैव प्रतिच्छंदं भूलोकेऽस्मिन् विधित्सुभिः।
विशेषरमणीयैव निर्ममे सामरैः पुरी ॥१२—७१॥

देवों ने उस अयोध्या नगरी को विशेष मनोहर बनाया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि देवताओं की यह इच्छा थी, कि मध्यलोक में भी स्वर्ग की प्रतिकृति रही आवे।

उस नगरी के मध्य में सुरेन्द्रभवन से स्पर्धा करने वाला महाराज नाभिराज के निवासार्थ नरेन्द्रभवन की रचना की गई थी। उसकी दीवालों में अनेक प्रकार के दीप्तिमान मणि लगे थे। वह सुवर्णमय स्तम्भों से समलंकृत था तथा पुष्प, मूँगा, मुक्तादि की मालाओं से शोभायमान था।

सर्वतोभद्र प्रासाद

हरिवंशपुराण में लिखा है कि उस राजभवन का नाम सर्वतोभद्र था। उसके इक्यासी मंजले थे। वह परकोटा, वाटिका उद्यानादि

से शोभायमान था। हरिवंशपुराणकार के शब्द इस प्रकार हैं—

सर्वतोभद्रसंज्ञोऽसौ प्रासाद. सर्वतो मतः।
संकाशीति पदः शालवाप्युद्यानाद्यलङ्कृत. ।।सर्ग ८—४।।

शातकुम्भमयस्तम्भो विचित्रमणिभित्तिकः।
पुष्पविद्रुम-मुक्तादिमालाभिरुपशोभित ।।३।।

तीर्थंकर आदिनाथ भगवान जिस नगरी मे जन्म लेने वाले है, तथा जहाँ सभी देव, देवेन्द्र निरन्तर आया करेंगे, उसकी श्रेष्ठ रचना मे सदेह के लिये स्थान नही हो सकता। इसका कारण महापुराणकार इस प्रकार प्रगट करते है—

सुत्रामा सूत्रधारोऽस्याः शिल्पिनः कल्पजा सुरा.।
वास्तुजात मही कृत्स्ना सोढा नारतु कथ पुरी ।।१२—७५।।

उस जिनेन्द्रपुरी के निर्माण मे इन्द्र महाराज सूत्रधार थे, कल्पवासी देव शिल्पी थे, तथा निर्माण के योग्य समस्त पृथ्वी पडी थी, वह नगरी प्रशसनीय क्यों न होगी ? वह नगरी द्वादश योजन प्रमाण विस्तारयुक्त थी।

जिनसेन स्वामी का कथन है—'उस अयोध्या नगरी में सब देवो ने हर्षित होकर शुभ दिन, शुभ मुहूर्त्त, शुभ योग तथा शुभ

---

१ इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि वैज्ञानिक जैन सस्कृति मे मुहूर्त शोधन आदि ज्योतिष-शास्त्रोक्त बातो का सम्मानपूर्ण स्थान है। जैनागम के द्वादश अङ्गो में ज्योतिर्विद्या की भी परिगणना की गई है। जो व्यक्ति यह कह दिया करते हैं कि मुहूर्त आदि विचार सब व्यर्थ की बाते हैं, इसमें कुछ सार नहीं है, वे जैन-दृष्टि से अपरिचित हैं। आचार्य वीरसेन ने धवला टीका में बताया है कि महाज्ञानी मुनीन्द्र धरसेनाचार्य ने भूतबलि पुष्पदंत मुनियुगल को जो महाकम्म पयडिपाहुड का उपदेश देना प्रारम्भ किया था, वह शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभवार में सम्पन्न किया गया था। धवला टीका (पृ ७०, भाग १) के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

"धरसेण—भडारएण सोम-तिहि-णक्खत्त-वारे गथो पारद्धो"

[1]लग्न में पुण्याह वाचन किया। जिन्हें अनेक संपदाओं की परम्परा प्राप्त हुई है, ऐसे महाराज नाभिराज तथा महारानी मरुदेवी ने हर्षित हो समृद्धियुक्त अयोध्या नगरी में निवास प्रारम्भ किया।

विश्वदृश्वैतयोः पुत्रो जनितेति शतक्रतुः।
तयोः पूजां व्यधात्तोच्चैः अभिषेकपुरस्सरम् ॥१२--८३॥

इन राजदंपति के सर्वज्ञ पुत्र उत्पन्न होने वाले हैं; इसलिए इन्द्र ने अभिषेक पूर्वक उन दोनों की बड़ी पूजा की थी।

रत्न-वृष्टि

भगवान के जन्म के १५ माह पूर्व से उस नगरी में प्रभात, मध्यान्ह, सायंकाल तथा मध्य रात्रि में चार बार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती थी। इस प्रकार चौदह करोड़ रत्नों की प्रतिदिन वर्षा हुआ करती थी। महापुराण एवं हरिवंशपुराण में लिखा है कि

---

१ मैंने देखा था कि, आचार्य शांतिसागर महाराज सदा महत्वपूर्ण धार्मिक अनुष्ठानों के विषय में पंचाङ्ग देखा करते थे। एक दिन मैंने पूछा था--"महाराज! मुहूर्त देखने में क्या सार है? किसी आदमी के मन में वैराग्य उत्पन्न होते ही उसे दीक्षा देना चाहिये। आप दीक्षा का मुहूर्त क्यों विचारा करते हैं?" महाराज ने कहा था--"शास्त्र में लिखा है, किस मुहूर्त में दीक्षा देना ठीक है, कब ठीक नहीं है। असमय में जिनकी दीक्षादि विधि हुई है, उनमें अनेकों को हमने भ्रष्ट होते देखा है। अतः विचारकर योग्य समय पर कार्य करना चाहिये।"

आजकल ज्योतिर्विद्या की योग्यता रखने वाले व्यक्ति कम मिलते हैं। अल्पज्ञानी मुहूर्त-शुद्धि के नाम पर प्रायः अत्यन्त अशुभ काल को ही अविवेकवश शुभ मुहूर्त बता देते हैं। इसका कुफल देख जन-साधारण भ्रम-वश शास्त्र को ही दोष देने लगते हैं। विचारक व्यक्ति का कर्तव्य है कि सुयोग्य विद्वान् से परामर्श ले अपना कार्य सम्पन्न करें।

महाराज नाभिराज ने जब योग्य मुहूर्त में अयोध्या महानगरी में प्रवेश किया था, तब अन्य पुरुषों का क्या कर्तव्य है यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

यह रत्नवर्षा राजभवन मे होती थी । वर्धमान चरित्र में कहा है कि तिर्यग्विजृंभक नामके देवगण कुबेर की आज्ञा से चारों दिशा मे साढे तीन कोटि रत्नो की वर्षा करते थे । (सर्ग १७—श्लोक ३६)

सुरांगनाओं द्वारा माता की सेवा

अनेक देवागनाएँ जिनेन्द्र जननी की सेवार्थ राजभवन मे पहुँची, श्री देवी भगवान के पिता से कहने लगी ।

> निर्जरासुर-नरोरगेषु ते कोऽधुनापि गुणसाम्यमृच्छति ।
> अग्रजन् सुतरा यतो गुरुस्त्वं जगत्त्रय-गुरोर्भविष्यसि ॥५--२६
> धर्मशर्माभ्युदय ॥

देव, असुर, मानव तथा नागकुमारो मे अब कौन आपके गुणो से समानता को प्राप्त करेगा, क्योकि आप त्रिलोक के गुरु के भी गुरु होगे ?

इसके पश्चात् वे देवियाँ माता की सेवा के लिए अन्त.पुर मे प्रवेश करती हैं । अशग कवि ने लिखा है कि कुण्डल पर्वत पर निवास करने वाली चूलावती, मालनिका, नवमालिका, त्रिशिरा, पुष्पचूला, कनकचित्रा, कनकादेवी तथा वारुणी देवी नाम की अष्ट-दिक् कन्याए इन्द्र की आज्ञा से जिनमाता की सेवार्थ गई थी ।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इन चारो दिशाओ मे सामान्य दृष्टि से समानता होते हुए भी पूर्व दिशा को विशेष महत्व इसलिए दिया जाता है कि भूमडल मे अपना उज्वल प्रकाश प्रदान करने वाला भास्कर उसी दिशा मे उदय को प्राप्त होता है । प्रभातकाल मे सूर्योदय के बहुत पहले से ही पूर्व दिशा मे विशेष ज्योति की आभा दिखाई पडती है और वह दिशा सबके नेत्रो को विशेष रमणीय लगती है । इसी प्रकार जिनेन्द्र जननी के गर्भ के सूर्य तीर्थंकर परमदेव का जन्म होने के पहले ही अपूर्व सौभाग्य और सातिशय पुण्य की प्रभा दृष्टिगोचर होती है । तीर्थंकर भगवान के जन्म लेने के पहले से ही वह भावी जिनमाता मनुष्यो की तो [illegible] देवेन्द्रो तथा इन्द्राणियो के द्वारा भक्तिपूर्वक [illegible] है । यह

पूजा वस्तुतः माता की स्वयं की विशेषता के कारण नहीं है, किन्तु जिनेन्द्रदेव की जननी होने के कारण है। यदि ऐसा न होता, तो पहले भी माता की सुरेन्द्रादिकों के द्वारा पूजा तथा सेवा होनी चाहिये थी।

सबकी दृष्टि भगवान की ओर केन्द्रित हुआ करती है। सचमुच में जिनेन्द्र की जननी का भाग्य और पुण्य अलौकिक है। नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ में गर्भकल्याणक के प्रकरण में भगवान की माता की आदरपूर्वक पूजा करते हुए यह पद्य लिखा गया है—

> विश्वेश्वरे विश्वजगत्सवित्रि पूज्ये महादेवि महासति त्वाम्।
> सुमङ्गलेऽर्घ्यैः बहुमंगलार्थैः सम्भावयामो भव नः प्रसन्नाः ॥पृष्ठ ३६०॥

हे विश्वेश्वरा, विश्वजगत्-सवित्री, पूज्या, महादेवी, महासती, सुमङ्गला माता! अनेक मङ्गल रूप पदार्थों के अर्घ्य द्वारा हम आपकी समाराधना करते हैं। हे माता! हम पर प्रसन्न हो।

इस अवसर्पिणी में सभी तीर्थंकर स्वर्ग से चलकर भरत-क्षेत्र में आए थे। जब स्वर्ग से चय करने को छह माह शेष रहे, तब उन भावी तीर्थंकर रूप पूज्य आत्मा के प्रति सुर समुदाय का महान् आदर भाव उत्पन्न होने लगा था। वर्धमानचरित्र में बताया है कि जिनेन्द्र होने वाले उस स्वर्गवासी देव को सभी देवता लोग प्रणाम करने लगते थे। कवि ने महावीर भगवान के जीव प्राणतेन्द्र के विषय में जो बात लिखी है, वह अन्य तीर्थंकरों के विषय में भी उपयुक्त है। कवि ने लिखा है—

> भक्त्या प्रणेमुरथ तं मनसा सुरेन्द्रं
> षण्मासशेषसुरजीवितमेत्य देवाः।
> तस्मादनंतरभवे वितनिष्यमाणं
> तीर्थं भवोदधि-समुत्तरणैकतीर्थम् ॥१७—३०॥

जिनकी देवगति सम्बन्धी आयु के छह माह शेष रहे हैं तथा जो आगामी जन्म में संसार-समुद्र को तर कर जाने के लिए अद्वितीय

घाट सदृश धर्मतीर्थ का प्रसार करने वाले है, ऐसे उस प्राणतेन्द्र के समीप जाकर अनेक देवता अन्त करण पूर्वक प्रणाम करने लगे थे ।

ऐसी भक्तिपूर्वक समाराधना पूर्णतया स्वाभाविक है । होनहार तीर्थंकर को देवरूप मे स्वर्ग मे देखकर देवो को, देवियो को तथा देवेन्द्रो को ऐसा ही हर्ष होता है, जैसे सूर्य के दर्शन से कमलो को आनन्द प्राप्त होता है और वे विकास को प्राप्त होते है । जिस प्रकार किसी जगह पर कोई अद्भुत निधि अल्पकाल के लिये आ जाए, तो उसके दर्शन के लिये सभी नागरिक और ग्रामवासी गए बिना नही रहते; इसी प्रकार छह माह के पश्चात् स्वर्ग को छोडकर मनुष्य लोक को प्रयाण करने वाली उस परम पावन आत्मा की सभी देव अभिवदना द्वारा अपने को कृतार्थ अनुभव करते है । भगवान छह माह पश्चात् स्वर्गलोक का परित्याग करने वाले हैं इसलिए ही उन पुण्यात्मा का अनुगमन करनेवाली लक्ष्मी छह माह पूर्व ही स्वर्ग से मध्यलोक मे रत्नवृष्टि के बहाने से जा रही थी । जिनसेन स्वामी की कल्पना कितनी मधुर है—

> सक्रन्दननियुक्तेन धनदेन निपातिता।
> साभात् स्वसंपदौत्सुक्यान् प्रस्थितेवाग्रतो विभोः ॥१२—८५।

इन्द्र के द्वारा नियुक्त हुए कुबेर के द्वारा जो रत्नों की वर्षा हो रही थी, वह इस प्रकार शोभायमान होती थी, मानो जिनेन्द्रदेव की सम्पत्ति उत्सुकतावश उनके आगमन के पूर्व ही आ गई हो ।

अयोध्या का सौभाग्य

स्वर्ग से अवतरण के छह मास के समय मे जैसे-जैसे दिन न्यून हो रहे थे, वैसे-वैसे यहाँ अयोध्यापुरी की सर्वाङ्गीण श्री, वैभव, सुख आदि की वृद्धि हो रही थी । शीघ्र ही वह समय आ गया, कि देवायु का उदय समाप्त हो गया । मनुष्यगति, मनुष्यायु तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी का उदय आ जाने से वह स्वर्ग की विभूति मानव-लोक मे आई और उसने माता मरुदेवी को सोलह स्वप्न-दर्शन

द्वारा उक्त बात की सूचना देने के साथ अपने मङ्गल जीवन की महत्ता को पहले से ही प्रगट कर दिया।

स्वप्न-दर्शन

प्रत्येक जिनेन्द्र-जननी सोलह स्वप्नों को रात्रि के अन्तिम प्रहर में दर्शन के पश्चात् अपने पतिदेव से उनका फल पूछती है, जिससे माता को अपार आनन्द प्राप्त होता है, कारण वे स्वप्न भगवान के गर्भ में आगमन की सूचना देते हैं। माता अपने पतिदेव से स्वप्नों का वर्णन करती हुई उनका फल पूछती है; तब भगवान के पिता कहते हैं—

नागेन तुंगचरितो वृषतो वृषात्मा
सिंहेन विक्रमधनो रमयाऽधिकश्रीः।
स्रग्भ्यां धृतश्च शिरसा शशिना क्लमच्छित्
सूर्येण दीप्तिमहितो झषतः सुरूपः॥२८॥
कल्याणभाक्कलशतः सरसः सरस्तो
गम्भीरधीरुदधितासनतस्तदीशः।
देवाहिवास-मणिराश्यनलैः प्रतीत-
देवोरगागमगुणोद्गम-कर्मदाहः॥२९—३॥मुनिसुव्रतकाव्य

हे देवि! गजेन्द्र दर्शन से सूचित होता है, कि तुम्हारा पुत्र उच्च चरित्रवाला होगा। वृषभदर्शन से धर्मात्मा, सिंहदर्शन से पराक्रमी, लक्ष्मी से अधिक श्री सम्पन्न, माला से सबके द्वारा शिरोधार्य, चन्द्रमा से संसार के सन्ताप को दूर करनेवाला, सूर्यदर्शन से अधिक तेजस्वी, मत्स्यदर्शन से रूप सम्पन्न, कलश से कल्याण को प्राप्त, सरोवर से वात्सल्यभाव युक्त, समुद्र से गम्भीर बुद्धिवाला, सिंहासन से सिंहासन का स्वामी, देवविमान से देवों का आगमन, नागभवन से नागकुमार देवों का आगमन, रत्नराशि से गुणों का स्वामी तथा अग्नि-दर्शन से सूचित होता है कि वह पुत्र कर्मों को भस्म करके मोक्ष को प्राप्त करेगा।

माता मरुदेवी के स्वप्न में दिखा था, कि उनके मुख मे वृषभ ने प्रवेश किया । उसका फल यह था, कि वृषभनाथ भगवान तुम्हारे गर्भ मे प्रवेश करेंगे । अन्य तीर्थंकरों के आगमन के शुभ समय वृषभ के आकार के स्थान में गजाकारधारी शरीर का मुख-द्वार से प्रवेश होता है ।

जिनेन्द्र जननी के समान सोलह स्वप्न अन्य माताओं को नही दिखते हैं । अष्टाङ्ग निमित्त विद्या में एक भेद स्वप्न-विज्ञान है । निरोग तथा स्वस्थ व्यक्ति के स्वप्नो द्वारा भविष्य का बोध होता है । क्षत्रचूडामणि काव्य में कहा है—

अस्वप्नपूर्वं हि जीवानां न हि जातु शुभाशुभम् ॥२१—अ. १॥

जीवो के कभी भी स्वप्नदर्शन के बिना शुभ तथा अशुभ नही होता है । इस विद्या के ज्ञाताओ की आज उपलब्धि न होने से उस विद्या को अयथार्थ मानना भूलभरी बात है । तुलनात्मक रीति से विविध धर्मो का साहित्य देखा जाय, तो ज्ञात होगा कि भावी जिनेन्द्र शिशु की श्रेष्ठता को सूचित करने वाले उपरोक्त स्वप्न समुदाय जिनमाता के सिवाय अन्य माताओ को नही दिखते । इस स्वप्नदर्शन के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक दृष्टि डालने वाले को जिनेन्द्र तीर्थंकर की श्रेष्ठता स्वय समझ मे आए बिना न रहेगी । माता के गर्भ में पुण्यहीन शिशु के आने पर अमङ्गल स्वप्न आते हैं ।[1]

---

१ इस प्रसङ्ग मे यह उल्लेख स्मरणयोग्य है, कि धरसेनाचार्य गिरनार की चन्द्रगुफा मे थे । प्रभात में उन मुनीन्द्र को स्वप्न आया था, कि दो धवलवर्णीय वृषभ उनके पास आए, जिन्होने उनकी तीन प्रदक्षिणा दी और उनके चरणों में पड गए । इस स्वप्नदर्शन के उपरान्त उन्होंने कहा—"जयउ सुय-देवद."-जिनवाणी जयवत हो । उसी दिन भूतबलि, पुष्पदन्त नाम से आगामी प्रसिद्ध होने वाले मुनि युगल आचार्यदेव के समीप आए, जिन्होने उनको प्रणाम किया (धवला टीका भाग १, पृष्ठ ६८) । धरसेनाचार्य स्वप्नादि अष्टाग निमित्त शास्त्र के पारदर्शी विद्वान् थे । इस कथन के प्रकाश में स्वप्न-विज्ञान का महत्व स्पष्ट ज्ञात होता है ।

उपरोक्त स्वप्नदर्शन के पश्चात् तीर्थंकर होने वाली आत्मा माता के गर्भ में आ गई।

गर्भावतरण

उस समय समस्त सुरेन्द्र गर्भावतरण की बात विविध निमित्तों से जानकर अयोध्यापुरी में आए। सब देवेन्द्रों तथा देवों ने उस पुण्य नगरी की प्रदक्षिणा की और महाराज नाभिराज तथा माता मरुदेवी को नमस्कार किया। बड़े हर्ष से गर्भकल्याणक का महोत्सव मनाया गया। भगवान के मनुष्यायु का उदय है ही। माता के गर्भ में आने से उनके मनुष्यायु के उदय में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

गर्भ तथा जन्म में तुलना

तत्वदृष्टि से गर्भ में आना तथा गर्भ से बाहर जन्म लेने में कोई अन्तर नहीं है। इस अपेक्षा से गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणक में अधिक भेद नहीं दिखता। अन्तर इतना ही है कि जन्म लेने पर उन प्रभु का चर्म चक्षुओं से दर्शन का सौभाग्य सबको प्राप्त होता है। भगवान का सद्भाव माता के उदर के भीतर गर्भकल्याणक में हो जाता है। इसी कारण उनका प्रभाव अद्भुत रूप से दिखने लगता है।

प्रभु का प्रभाव

उनके प्रभाव से माता की बुद्धि विशुद्ध हो जाती है और वह परिचारिका देवियों द्वारा पूछे गए अत्यन्त कठिन मार्मिक तथा गूढ़ प्रश्नों का सुन्दर समाधान करती हैं।

भगवान स्वर्ग छोड़कर अयोध्या में आए हैं, किन्तु उनकी सेवा में तत्पर देव-देवी समुदाय को देखकर ऐसा लगता है कि स्वयं स्वर्ग ही उन प्रभु के पीछे-पीछे वहाँ आ गया है। देवताओं का चित्त स्वर्ग वापिस जाने का नहीं होता था, कारण जो निधि जिनेन्द्र भगवान के रूप में अब अयोध्या में आ गई है, वह अन्यत्र नहीं है।

सेवा का पुरस्कार

अब माता का विशेष मनोरञ्जन तथा सेवा आदि का कार्य देवॉगनाए करने लगी । इन्द्र का एकमात्र यह लक्ष्य था कि देवाधिदेव की सेवा श्रेष्ठ रूप मे सम्पन्न हो । इस श्रेष्ठ सेवा तथा भक्ति का पुरस्कार भी तो असाधारण प्राप्त होता है ।

वादिराज सूरि ने एकीभाव स्तोत्र मे लिखा है—भगवन् ! इन्द्र ने आपकी भली प्रकार सेवा की इसमे आपकी महिमा नही है । महत्व की वात तो यह है कि उस सेवा के प्रसाद से उस इन्द्र का ससार परिभ्रमण छूट जाता है । कहा भी है—

इन्द्र. सेवा तव सुकुरुता कि तया श्लाघन ते ।
तस्यैवेय भवलयकरी श्लाध्यतामातनोति ॥२०॥

शची का अद्भुत सौभाग्य

त्रिलोकसार मे लिखा है कि सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र, उसकी इन्द्राणी वहाँ से चयकर[1] एक मनुप्य भव धारण करके मोक्ष को प्राप्त करते है । सौधर्मेन्द्र तो साधिक दो सागर प्रमाण देवायु पूर्ण होने के पश्चात, मनुष्य होकर मोक्ष पाता है, किन्तु उसकी पट्टदेवी शची-इन्द्राणी पचपल्य प्रमाण आयु को भोग मनुष्य होकर शीघ्र मोक्ष जाती है । सागर प्रमाण स्थिति के समक्ष पँच पल्य की आयु बहुत ही कम है । इन्द्राणी के शीघ्र मोक्ष जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि जिनमाता और प्रभु इन दोनो की सेवा का अपूर्व तथा उत्कृष्ट सौभाग्य उसे प्राप्त होता है । इस उज्ज्वल कार्य से उसे अपूर्व विशुद्धता प्राप्त होती है । लौकान्तिक देव की पदवी महान है । उनकी स्थिति आठ सागर है । सर्वार्थसिद्धि के देव लोकोत्तर है । उनकी स्थिति तेतीस सागर है । इतने लम्बे काल के पश्चात उन

---

१ सोहम्मो वरदेवी सलोगवाला य दक्खिणमरिंदा ।
लोयतिय-सव्वट्ठा तदो चुआ णिव्वुदिं जंति ॥५४८॥त्रिलोकसार
सौधर्मेन्द्र, शची, उनके सोम आदि लोकपाल, दक्षिणेन्द्र, लौकान्तिक, सर्वार्थसिद्धि के देव वहाँ से चय करके नियम से मोक्ष जाते हैं ।

महान देवों को मोक्ष का लाभ मिलता है। शची का भाग्य सचमुच में अद्भुत है, कारण स्त्रीलिङ्ग छेदकर वह शीघ्र निर्वाण को प्राप्त करती है। जिनेन्द्र-भगवान की भक्ति का प्रत्यक्ष उदाहरण इन्द्राणी है।

देवियों का कार्य

माता की सेवा में तत्पर श्री आदि देवियों ने क्या कार्य किया, इसे महाकवि जिनसेन इस प्रकार कहते हैं—

> श्री-ह्रीर्धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिलक्ष्म्यौ च देवताः।
> श्रियं लज्जां च धैर्यं च स्तुति-बोधं च वैभवम् ॥१२—१६४॥

श्री देवी ने माता में श्री अर्थात् शोभा की वृद्धि की। ह्री देवी ने ह्री अर्थात् लज्जा की धृति, देवी ने धैर्य की, कीर्ति देवी ने स्तुति की, बुद्धि देवी ने ज्ञान की तथा लक्ष्मीदेवी ने विभूति की वृद्धि की।

माता के शरीर में गर्भवृद्धि का बाह्य चिन्ह न देखकर प्रभु के पिता के शंकित मन को इससे शान्ति मिलती थी, कि जिनमाता की तीव्र अभिलाषा त्रिभुवन के उद्धार रूप दोहला में व्यक्त हुआ करती थी।

मुनिसुव्रत काव्य में लिखा है :—

> गर्भस्य लिंगं परमाणुकल्पमप्येतदंगाच्चनवेक्ष्य राज्ञी।
> जगत्त्रयोद्धारण-दोहदेन परं नराणां बुबुधे ससत्वां ॥४—६॥

भगवान के पिता ने जिनेन्द्रजननी के शरीर में परमाणु-प्रमाण भी गर्भ के चिन्ह न देखकर केवल जगत्त्रय के उद्धाररूप दोहला से उसे गर्भवती समझा।

इस कथन से जिनेन्द्रजननी की शरीर-स्थिति सम्बन्धी परिस्थिति का ज्ञान होता है, वैसे भगवान् की गर्भकल्याणक सम्बन्धी अपूर्व सामग्री को देखकर सभी जीव प्रभु के गर्भावतरण को भली प्रकार जानते थे और उनके जन्म-महोत्सव देखने की ममता से एक-एक क्षण को ध्यानपूर्वक गिना करते थे।

मनोहर-चित्रण

रत्नगर्भा धरा जाता हर्षगर्भाः सुरोत्तमाः ।
क्षोभमायाज्जगद्गर्भो गर्भाधानोत्सवे विभोः ॥१२—६८॥

भगवान के गर्भकल्याणक के उत्सव के समय पृथ्वी तो रत्नवर्षा के कारण रत्नगर्भा हो गई, सुरराज हर्षगर्भ अर्थात् हर्ष-पूर्ण हो गए है । जगत्गर्भ अर्थात् पृथ्वीमण्डल क्षोभ को प्राप्त हुआ, अर्थात् ससार भर मे गर्भावितरण की वार्ता विख्यात हो गई ।

गर्भस्थ शिशु जैसे-जैसे वर्धमान हो रहे थे, वैसे-वैसे माता की बुद्धि विशुद्ध होती जा रही थी । नवमा माह निकट आने पर सेवा मे सलग्न देवियो ने अत्यन्त गूढ तथा मनोरजक प्रश्न माता से पूछना प्रारम्भ किया तथा माता द्वारा सुन्दर समाधान प्राप्त कर वे हर्षित होती थी ।

सेवा का आनन्द

कोई यह सोचे कि जिन-जननी की विविध प्रकार से सेवा करने में महान् पुण्यवती देवियो को कष्ट होता होगा, तो अनुचित बात होगी । जिन माता के गर्भ मे मति, श्रुत, अवधिज्ञानधारी तीर्थंकर-प्रकृति सम्पन्न जिनेन्द्रदेव है, उनकी सेवा तथा सत्सग से जो उनको आनन्द प्राप्त होता था, वह स्वात्म-सवेद्य ही था । दूसरा व्यक्ति उस महान सौभाग्यजनित रस का कैसे कथन कर सकता है ?

तीर्थंकर रूप अपूर्व निमित्त के सुयोग से माता के ज्ञान का अद्भुत विकास हो गया था । देवता भी माता के महान ज्ञान तथा अनुभव से अपने को कृतार्थ करते थे ।

माता से प्रश्नोत्तर

देवियो के द्वारा माता से किए गए प्रश्नोत्तरो की रूपरेखा समझने के लिये महापुराण मे लिखित ये प्रश्नोत्तर महत्वपूर्ण है । देवियों ने पूछा—

...कः पंजरमध्यास्ते...कः परुषनिस्वनः ?
कः प्रतिष्ठा जीवानां...कः पाठ्योक्षरच्युतः ? ।।१२--२३६।।

माता ! पिंजरे में कौन रहता है ? कठोर शब्द करनेवाला कौन है ? जीवों का आश्रय कौन है ? अक्षर-च्युत होने पर भी पढ़ने योग्य क्या पाठ है ?

माता ने उत्तर दिया—

शुकः पंजरमध्यास्ते काकः परुष-निस्वनः ।
लोकः प्रतिष्ठा जीवानां श्लोकः पाठ्योक्षरच्युतः ।।२३७।।

कः पंजरमध्यास्ते ?—इसमें शु शब्द जोड़कर माता कहती हैं—शुक पिंजरे में रहता है। दूसरे प्रश्न के उत्तर में माता "का" शब्द जोड़कर कहती हैं—कठोर स्वर वाला काक पक्षी होता है। तीसरे प्रश्न के उत्तर में माता लो शब्द को जोड़कर कहती हैं—जीवों का आश्रय लोक है। चौथे प्रश्न के उत्तर में माता कहती हैं— श्लो शब्द को जोड़ने से अक्षर-च्युत होने पर भी श्लोक पठनीय है।

तीन देवियों ने क्रम-क्रम से ये प्रश्न पूंछे—

कः समुत्सृज्यते धान्ये घटयत्यम्व को घटम् ?
वृषान्दशति कः पापी वदाद्यैरक्षरैः पृथक् ? ।।२४४।।

माता ! धान्य में क्या छोड़ दिया जाता है ? घट को कौन बनाता है ? वृषान् अर्थात् चूहों को कौन पापी भक्षण करता है ? इनका उत्तर पृथक्-पृथक् शब्दों में बताइये जिनके आदि के अक्षर पृथक्-पृथक् हों ?

माता ने उत्तर दिया—पलाल धान्य में छोड़ा जाता है। कुलाल–कुँभकार घट को बनाता है। बिडाल चूहों को खाता है। इस उत्तर में प्रारम्भ के दो शब्द पृथक्-पृथक् होते हुए अन्त का अक्षर ल सवमें है।

प्रगट रूप से अनेक देवियाँ माता की बड़े विवेक पूर्वक सेवा करती थी।

शची द्वारा गुप्त-सेवा

महापुराण मे यह महत्वपूर्ण कथन आया है—

निगूढ च शची देवी सिषेवे किल साप्सराः।।
मघोनाऽघ-विनाशाय प्रहिता ता महासतीम् ।।२६६।।

अपने समस्त पापो का नाश करने के लिए इन्द्र के द्वारा भेजी गई इन्द्राणी अनेक अप्सराओ के साथ माता की गुप्त रूप से सेवा करती थी।

प्रभु की माता मे प्रारम्भ से ही लोकोत्तरता थी। अब जिनेन्द्र देव के गर्भ मे आने मे वह सचमुच मे जगत् की माता या जगदम्बा हो गई। उनकी महिमा का कौन वर्णन कर सकता है ?

गर्भस्थ-प्रभु का वर्णन

गर्भकल्याणक के वर्णन प्रसङ्ग मे माता के गर्भ मे विराजमान तथा सूर्य सदृश शीघ्र ही उदय को प्राप्त होने वाले उन भगवान की अवस्था पर प्रकाश डालने वाला धर्मशर्माभ्युदय का यह पद्य कितना भावपूर्ण है—

गर्भे वसन्नपि मलैरकलंकितागो ।
ज्ञानत्रय त्रिभुवनैकगुरुर्बभार ।
तुंगोदयाद्रि-गहनान्तरितोपि धाम ।
किं नाम मुंचति कदाचन तिग्मरश्मि ।६--६।।

वे जिनभगवान् गर्भ में निवास करते हुए भी मल से अकलंक अंग युक्त थे। त्रिभुवन के अद्वितीय गुरु उन प्रभु ने मति, श्रुत तथा अवधि इन ज्ञानत्रय को धारण किया था। उन्नत उदयाचल के गहन मे छिपा हुआ भी तिग्मरश्मि अर्थात् सूर्य क्या कभी अपने तेज को छोड़ता है ?

भगवान तो माता के गर्भ मे विराजमान हैं। वे चर्म-चक्षुओं के अगोचर अवश्य है, किन्तु उनके प्रभाव से माता में वृद्धि को प्राप्त

अपूर्व सौन्दर्य तथा ज्ञान का अद्भुत विकास देखकर सभी लोग यह जानते थे, कि इस असाधारण स्थिति का क्या कारण है ? प्राची दिशा

के गर्भ में सूर्य प्रारम्भ में छिपा रहता है, फिर भी विश्व को प्रकाश देने वाले तेजःपुञ्ज प्रभाकर के प्रभाव से उस दिशा में विलक्षण सौन्दर्य तथा अपूर्वता नयनगोचर होती है; ऐसी ही स्थिति भगवान के गर्भ में विद्यमान रहने पर जिनेन्द्रजननी की हुई थी। माता के सौन्दर्य की झलक एक देवी की इस सुन्दर उक्ति में प्रतीत होती है, जो उसने प्रश्न के रूप में माता के समक्ष उपस्थित की थी। देवी पूछती है—

माता की स्तुति

किमेन्दुः लोके कस्मिन् त्वयात्र मृदुरक्षितः।
आच्छिद्य तस्य निःशेषं कलाधनम् ॥१२--२१४ महापुराण॥

हे माता! यह तो बताओ कि क्या तुमने इस जगत् में एक चंद्रमा को ही मृदु देखा है, जो उसकी परिपूर्ण कलारूप संपत्ति को तुमने जबरदस्ती छीनकर अपने पास रख लिया है?

यहाँ व्याज-स्तुति अलंकार के द्वारा माता के अनुपम सौन्दर्य पर प्रकाश डाला गया है। महाकवि जिनसेन स्वामी माता की एक अपूर्व विशेषता को सप्राण शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं—

सा नमस्या परं कंचित् नमति स्म स्वयं जनैः।
चांद्रीकलेव संदृश्या देवीव च सरस्वती ॥१२--२६७॥

माता को स्वयं सभी लोग प्रणाम करते थे। माता किसी को प्रणाम नहीं करती थी। गर्भ में भगवान को धारण करने से माता की समता कौन कर सकता है? अतः जिनजननी महान् सौन्दर्य पूर्ण चन्द्रकला तथा भगवती सरस्वती सदृश प्रतीत होती थी।

प्रभु की जन्म-वेला

भगवान के जन्म का समय समीप आ गया है। उस समय भगवान के पिता महाराज नाभिराय की स्थिति पर महापुराणकार इन अर्थपूर्ण शब्दों में प्रकाश डालते हैं—

अनेक देवियाँ आदर के साथ जिसकी सेवा करती हैं, ऐसी माता मरुदेवी परमसुख देने वाले और तीनों लोकों में आश्चर्य

उत्पन्न करने वाले भगवान ऋषभदेवरूपी तेजः पुञ्ज को धारण कर रही थी और महाराज नाभिराज कमलों से शोभायमान सरोवर के समान जिनेन्द्र होने वाले सुत रूपी सूर्य की प्रतीक्षा करते हुए बड़ी आकाक्षा के साथ महान धैर्य को धारण कर रहे थे ।

जगदम्बा महादेवी माता मरुदेवी के गर्भ में विराजमान ऋषभनाथ प्रभु का ज्ञान-नेत्रो द्वारा दर्शन कर मुमुक्ष जन उन परम प्रभु को प्रणाम करते हुए महान् सुख का अनुभव करते थे । प्रत्येक के अन्त करण मे बाल-जिनेन्द्र के साक्षात् दर्शन की अवर्णनीय उत्कंठा उत्पन्न हो रही थी । काल व्यतीत होते देर नही लगती । सुख के क्षण तो और भी वेग से बीत जाते है । अब वह मङ्गल वेला समीप है, जब त्रिभुवन को सुखदाता देवाधिदेव भगवान आदीश्वर प्रभु का जन्म होने वाला है । उन प्रभु को शतशः प्रणाम है ।

जन्म-कल्याणक

प्राची के गर्भ में स्थित सूर्य सदृश जननी के गर्भ में वे धर्म-सूर्य जिनेन्द्र भव्यों को अधिक हर्ष प्रदान कर रहे थे, किन्तु जिस समय उन प्रभु का जन्म हुआ, उस समय के आनन्द और शान्ति का कौन वर्णन कर सकता है ? अन्तःकरणों में सभी जीवों ने जिनेन्द्र-जन्मजनित आनन्द का अनुभव किया। त्रिभुवन के सभी जीवों को सुख प्राप्त हुआ। जन्म के समय जननी को कोई कष्ट नहीं हुआ। देवियाँ सेवा में तैयार थीं।

पुण्य वातावरण

उस समय का नैसर्गिक वातावरण रमणीय और सुन्दर हो गया। नभोमण्डल अत्यन्त स्वच्छ था। मन्द, सुगन्धित पवन का संचार हो रहा था। आकाश से सुगन्धित पुष्पों की वर्षा हो रही थी। प्राकृतिक मुद्रा को धारण करके आत्मा की वैभाविक परणति का त्याग कर अपनी प्राकृतिक स्थिति को ये जिनेन्द्र शीघ्र ही प्राप्त करेंगे, इसलिए सचेतन एवं अचेतन प्रकृति के मध्य एक अपूर्व उल्लास और आनन्द की रेखा दिखाई पड़ती थी। महापुराण में जन्म के समय हुई मधुर बातों का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

> दिशः प्रसत्तिमासेदुः आसीन्निर्मलमम्बरम्।
> गुणानामस्य वैमल्यं अनुकर्त्तुमिव प्रभोः ॥१३-५॥

उस समय समस्त दिशाएँ स्वच्छता को प्राप्त हुई थीं। आकाश भी निर्मल हो गया था। उससे ऐसा प्रतीत होता था मानो भगवान के गुणों की निर्मलता का वे अनुकरण कर रहे हों।

> प्रजाता ववृधे हर्षः सुरा विस्मयमाश्रयन्।
> अम्लानि कुसुमान्युच्चैः मुमुचुः सुरभूरुहाः ॥६॥

प्रजा का हर्ष बढ रहा था । देव आश्चर्य को प्राप्त हो रहे थे । कल्पवृक्ष प्रचुर प्रमाण मे प्रफुल्लित पुष्पो की वर्षा कर रहे थे ।

अनाहता: पृथुध्वाना दध्वनुर्दिविजानकाः ।
मृदुः सुगंधिश्शिशिरो मरुन्मंदं तदा ववौ ॥७॥

देवो की दुंदुभि अपने आप ऊँचा शब्द करते हुए बज रही थी । मृदु, शीतल और सुगन्धित पवन मन्द-मन्द वह रहा था ।

प्रचचाल मही तोषात् नृत्यन्तीव चलद्गिरिः ।
उद्वेलो जलधिर्नूनं अगमत् प्रमद परम् ॥८॥

उस समय पहाडो को कम्पित करती हुई पृथ्वी भी हिलने लगी थी, मानो आनन्द से नृत्य ही कर रही हो । समुद्र की लहरें सीमा के बाहर जाती थी, जिनसे सूचित होता था कि वह परम आनन्द को प्राप्त हुआ हो ।

मुनिसुव्रत-काव्य में लिखा है —

गृहेषु शंखाः भवनामराणां वनामराणां पटहाः पदेषु ।
ज्योतिस्सुराणा सदनेषु सिंहा. कल्पेषु घंटाः स्वयमेव नेदु. ॥४—३६॥

प्रभु के जन्म होते ही भवनवासियो के यहाँ शखध्वनि होने लगी । व्यतरो के यहाँ भेरीनाद होने लगा । ज्योतिषी देवो के यहाँ सिंहनाद हुआ तथा कल्पवासियो के यहाँ स्वयमेव घटा बजने लगे ।

सौधर्मेन्द्र का विस्मय

उस समय सौधर्मेन्द्र का आसन कम्पित हुआ तथा मस्तक झुक गया था । सौधर्मेन्द्र चकित हो सोचने लगे कि यह किस निर्भय, शकारहित, अत्यन्त बाल-स्वभाव, मुग्ध-प्रकृति, स्वच्छन्द भाववाले तथा शीघ्र कार्य करने वाले व्यक्ति का कार्य है ?

हरिवशपुराण में कहा है—

आसनस्य प्रकंपेन दध्यौ विस्मितधीस्तदा ।
सौधर्मेन्द्रश्चलन्मौलिर्भूत्वा मूर्धानमुन्नतम् ॥८—१२२॥
अतिबालेन मुग्धेन स्वतंत्रेणाशुकारिणा ।
निर्भयेन विशंकेन कनेदमप्यनुष्ठितम् ॥१२३॥

इन्द्रमहाराज पुनः चिन्तानिमग्न होकर विचार करते हैं—

देव-दानवचक्रस्य स्वपराक्रमशालिनः ।
कथंचित्प्रतिकूलस्य यः समर्थः कदर्थने ॥१२४॥
इन्द्रः पुरंदरः शक्रः कथं न गणितोऽमुना ।
सोऽहं कंपयतानेन सिंहासनमकंपनम् ॥१२५॥

अपने पराक्रम से शोभायमान भी देव-दानव समुदाय के किंचित् प्रतिकूल होने पर जो उनके दमन करने की सामर्थ्य धारण करता है, ऐसे शक्र, पुरंदर, इन्द्र नामधारी मेरे अकंपित सिंहासन को कंपित करते हुए उसने मेरी कुछ भी गणना नहीं की।

सहसा सौधर्मेन्द्र के चित्त में एक बात उत्पन्न हुई, कि तीनों लोकों में ऐसा प्रभाव तीर्थंकर भगवान के सिवाय अन्य में सम्भावनीय नहीं है—"संभावयामि नेदृक्षं प्रभावं भुवनत्रये । प्रभुं तीर्थकरादन्यम् ।" पश्चात् अवधिज्ञान द्वारा ज्ञात हो गया कि भरतक्षेत्र में महाराज नाभिराज के यहाँ ऋषभनाथ तीर्थंकर का जन्म हुआ है। तत्काल ही वह विस्मयभाव महान् आनन्दरस में परिणत हो गया। "जयतां जिन इत्युक्त्वा प्रणनाम कृतांजलिः" (१२८ सर्ग ८)—जिनेन्द्र भगवान जयवंत हों। ऐसा कहकर सात पैंड जा हाथ जोड़कर सौधर्मेन्द्र ने जिनेन्द्र भगवान को परोक्षरूप से प्रणाम किया।

जन्मपुरी को प्रस्थान

शीघ्र ही तीन लोक के स्वामी तीर्थंकर का जन्म जानकर देवों की हाथी, घोड़ा, रथ, गन्धर्व, पियादे, बैल तथा नृत्यकारिणी रूप सात प्रकार की सैन्य इन्द्र महाराज की आज्ञा से निकलीं। उस समय शोक, विषाद आदि विकारों का सर्वत्र अभाव हो गया था। सर्व जगत् आनन्द के सिन्धु में निमग्न था। शान्ति का सागर दिग्-दिगन्त में लहरा रहा था।

प्रश्न ?

इस प्रसङ्ग मे एक शका उत्पन्न होती है कि भगवान का जन्म तो अयोध्या मे हुआ और उनके जन्म की सूचना देने वाली वाद्य-ध्वनि स्वर्गलोक मे होने लगी । इन्द्रो के मुकुट झुक गए । इस कथन का क्या कोई वैज्ञानिक समाधान है ?

समाधान

जिनागम मे जगद् व्यापी एक पुद्गल का महास्कन्ध माना है, वह सूक्ष्म है । आज के भौतिक शास्त्रज्ञों ने 'ईथर' नाम का एक तत्व माना है, जिसके माध्यम से हजारो मील का शब्द रेडियो यन्त्र द्वारा सुनाई पडता है । इस विषय मे आगम का यह आधार ध्यान देने योग्य है । तत्वार्थ सूत्र में पुद्गल के शब्द, बंध आदि भेदो का उल्लेख करते हुए उसका भेद सूक्ष्मता के साथ स्थूलता भी बताया है । तत्वार्थराजवार्तिक मे लिखा है "द्विविधं स्थौल्यमवगंतव्यं । तत्रात्य जगद्व्यापिनि महास्कंधे" (अध्याय ५, सूत्र २४, पृष्ठ २३३)—दो प्रकार की स्थूलता कही गई है । पुद्गल की अन्तिम स्थूलता जगत् भर मे व्याप्त महास्कध में है । इस महास्कंध के माध्यम से जिनेन्द्र-जन्म की सूचना तत्काल सम्पूर्ण जगत् को अनायास प्राप्त हो जाती है । इस महास्कध तत्व का स्वरूप किसी भी अन्य सिद्धान्त में नही बताया गया है, कारण वे एकान्तवाद असर्वज्ञो के कथन पर आश्रित है और जैन-धर्म सर्वज्ञ के परिपूर्ण ज्ञान तथा तदनुसार निर्दोष वाणी पर अवस्थित है ।

देव सैना

सिद्धान्तसार दीपक में लिखा है कि इन्द्र महाराज की सवारी के आगे-आगे सात प्रकार की सेना मधुर गीत गाती हुई चलती थी । आभियोग्य जाति के देवो ने गज, तुरङ्ग आदि का रूप धारण किया था । देवगति नाम कर्म का उदय होते हुए भी अल्प

पुण्य होने के कारण उन आभियोग्य जाति के देवों को विविध प्रकार के वाहन आदि का रूप धारण करना पड़ता था। ऐसी ही दशा किल्विषिक देवों की हीन पुण्य होने के कारण होती है। ये अशुद्ध पिंडधारी न होते हुए भी शूद्रों के समान उच्च देवों से पृथक् गमनादि कार्य करते हैं। जिनेन्द्र जन्मोत्सव के समय उनका कहाँ स्थान रहता है, यह पृथक् रूप से उल्लेख नहीं किया गया है।

गज रूपधारी देवों की सेना विद्याधर, कामदेव आदि का षड्ज स्वर में गुणगान करती है। तुरङ्ग सेना ऋषभ स्वर में मांडलिक महामांडलिक राजाओं का गुणगान करती है। देवरथ वाली सेना गांधार स्वर में बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण के बल-वीर्य का गुण-गान करती हुई नृत्य करती जाती थी। पैदल रूप देवसेना मध्यम स्वर में चक्रवर्ती की विभूति, बल, वीर्यादि का गुणगान करती थी। वृषभ सेना पंचम स्वर में लोकपाल जाति के देवों का गुणानुवाद करती हुई चरमशरीरी मुनियों का गुणगान करती थी। धैवत स्वर में गन्धर्व-सेना गणधरदेव तथा ऋद्धिधारी मुनियों का गौरवगान करती थी। नृत्यकारिणी सेना निषाद स्वर में तीर्थंकर भगवान के छियालीस गुणों का और उनके पुण्य जीवन का मधुर गान करती थी।

अद्भुत रस का उद्दीपक ऐरावत

सौधर्मेन्द्र ने ऐरावत हाथी पर शची के साथ बैठकर अनेक देवों से समलंकृत हो अयोध्या के लिए प्रस्थान किया। ऐरावत गज का वर्णन अद्भुत रस को जागृत करता है। दैविक चमत्कार का वह अत्यन्त मनोज्ञ रूप था। विक्रिया शक्ति सम्पन्न देवों में कल्पनातीत शक्ति रहती है। उनका शरीर औदारिक शरीर की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म होता है। उस सूक्ष्म परिणमन प्राप्त वैक्रियिक शरीर का स्थूल रूप दर्शन ऐरावत हाथी के रूप में होता था। वह

---

१ "यथेह दासाः वाहनादिव्यापारं कुर्वन्ति तथा तत्राऽऽभियोग्याः वाहनादि-भावेनोपकुर्वन्ति। किल्विषं पापं तदेषामस्तीति किल्विषिकाः तेऽन्त्यवासिस्थानीया मताः" — (त० रा० अ० ४, सू० ४ पृ० १५१)।

गज लौकिक गजेन्द्रों से भिन्न था। वह देव सामर्थ्य का सुमधुर प्रदर्शन था।

ऐरावत का स्वरूप चिन्तन करते ही बुद्धिजीवी मनुष्य मे अद्भुत रस उत्पन्न हुए बिना न रहेगा। यदि वह सोचे कि स्थूल रूप-धारी छोटे दर्पण मे बडे-बडे पदार्थ प्रतिविम्ब रूप से अपना सूक्ष्म परिणमन करके प्रतिबिम्बित होते है। छोटे से केमरा द्वारा बड़ी वस्तुओ का चित्र खीचा जाता है, तब इससे भी सूक्ष्म वैक्रियिक शरीरधारी देव रचित ऐरावत गज का सद्भाव पूर्णतया समीक्षक बुद्धि के अनुरूप है। सम्यग्दृष्टि जीव की श्रद्धा पदार्थो की अचित्य शक्ति को ध्यान मे रखकर ऐसी बातो को शिरोधार्य करने मे सकोच का अनुभव नही करती है। सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशी भगवान के द्वारा कथित तत्व होने से ऐसी बाते सम्यक्त्वी सहज ही स्वीकार करता है। इन बातो को काल्पनिक समझने वाला आगम की विविध शाखाओ का मार्मिक ज्ञाता होते हुए भी सम्यक्त्वशून्य ही स्वीकार करना होगा, कारण सम्यक्त्वी जीव प्रवचन मे कथित समस्त तत्वो को प्रामाणिक मानता है। एक भी बात को न मानने वाला आगम मे मिथ्यात्वोदय के अधीन माना गया है तथा श्रद्धाशून्य कहा गया है।

विवेकी सम्यक्त्वी जीव आगमोक्त आश्चर्यप्रद बातो के विरुद्ध अश्रद्धा का भाव त्यागकर यह सोचता है :—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं च तद् ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनः॥

सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित तत्व अत्यन्त सूक्ष्म है। उसका युक्तियो द्वारा खडन नही हो सकता। उसे भगवान की आज्ञा रूप से प्रामाणिक मानकर ग्रहण करना चाहिये, क्योकि जिनेन्द्र अन्यथा प्रतिपादन नही करते है। रागद्वेष तथा अज्ञान के द्वारा मिथ्या कथन किया जाता है। जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञ, वीतराग एवं हितोपदेशी है; अत उनकी वाणी मे मुमुक्षु भव्य संदेह नही करता है।

विशेष बात

एक बात विशेष विचारणीय है। आधुनिक विज्ञान के अनुसन्धान द्वारा ऐसी अनेक शोधों तथा आविष्कारों की उपलब्धि हुई है, जिसका जैन शास्त्रों में पहले ही कथन किया जा चुका है। पुद्गल तत्व में अचिन्त्य अनन्त शक्तियों का भण्डार है, यह जैन-मान्यता आज के भौतिक विचित्र आविष्कारों द्वारा समर्थन को प्राप्त कर रही है। वैज्ञानिकों की एटम (अणु) सम्बन्धी शोध ने संसार को चकित कर दिया है। जर्मन वैज्ञानिक आंस्टाइन ने यह प्रमाणित कर दिया[1] कि एक माशा वजन के पुद्गल में शक्ति का इतना महान् भण्डार भरा है कि उससे दिल्ली से कलकत्ता पूरी लदी हुई डाकगाड़ी छह सौ बार गमनागमन कर सकती है। अमेरिकन शासन द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'Exploring the Atom'[2] में लिखा है जब हम दियासलाई की एक लकड़ी जलाते हैं, तब एक मोमबत्ती जलाने योग्य पर्याप्त गर्मी प्राप्त होती है। यदि हम उस दियासलाई के अणुओं का विभाजन करते जांय, तो इतनी शक्ति प्राप्त हो जायगी, जिससे स्विटजरलैंड देश के हिमाच्छादित आल्प्स पर्वत का समस्त वर्फ पानी रूप परिणत कराया जा सकता है। जब ऐसी पुद्गल की

---

1 Einstein proved mathematically that one gram of matter, if wholly converted into energy could perform about 900,000,000,000,000,000,000 ergs of work. One gram is about one masha in the India system of weights... ...And the amount of energy expressed above can enable the fully loaded Calcutta Mail to make six hundred trips between Delhi and Calcutta—"Einstein's contribution to World" article in 'The American Reporter of March, 1957.

2 "When we strike a match we have enough heat to light a candle. But if we could break up the match atom by atom converting its entire mass into energy, it is said that we could have enough heat to melt all the snow in the Swiss Alps"—Exploring the Atom' Page 5.

अद्भुत शक्तियो का उपयोग सीमित शक्ति तथा साधन सम्पन्न मानव कर सकता है, तब वैक्रियिक शरीरधारी अवधिज्ञानी देव क्या-क्या चमत्कार नही दिखा सकते ? अतएव आत्म हितैषियो का कर्तव्य है कि जिनवाणी के कथन पर श्रद्धा करने मे संकोच न करें ।

सुन्दर कल्पना

सोलह स्वर्ग पर्यंत के समस्त देव-देवागना तथा भवनत्रिक के देवताओ का समुदाय महान् पुण्यात्मा सौधर्मेन्द्र के नेतृत्व में आकाशमार्ग से श्रेष्ठ वैभव, आनन्द, प्रसन्नता तथा अमर्यादित उल्लास के साथ अयोध्या की ओर बढ रहा था । जिनसेन स्वामी ने लिखा है—

तेषामापततां यानविमानैराततं नभः ।
त्रिषष्टिपटलेभ्योऽन्यत् स्वर्गान्तरमिवासृजत् ।।१३—२२।।

उन आते हुए देवो का विमान और वाहनो से व्याप्त हुआ आकाश ऐसा प्रतीत होता था मानो त्रेसठ-पटल वाले स्वर्ग को छोड यहाँ अन्य स्वर्ग का निर्माण हुआ हो ।

महाराज नाभिराजके राजभवन का प्रागण सुरेन्द्रो के समुदाय से भर गया था । देवो की सेनाए अयोध्यापुरी को घेरकर अवस्थित हो गई । इन्द्र ने शची को आदेश दिया, कि तुम प्रसव-मन्दिर मे प्रवेश करो । माता को सुखमयी निद्रा मे निमग्न करके उनकी गोद में मायामयी शिशु को रखकर जिनेन्द्रदेव को मेरु पर्वत पर अभिषेक के लिये लाओ ।

शची द्वारा जिनेन्द्र-चंद्र का दर्शन

शची ने सुरराज की आज्ञा का पालन करते हुए उस नरेन्द्र-भवन के अन्त.पुर मे प्रवेश किया और माता मरुदेवी के अंचल के भीतर विद्यमान बालस्वरूप जिनेन्द्र–चन्द्र का दर्शन किया । उस समय इन्द्राणी के हृदय में ऐसा आनन्द हुआ कि उसका वर्णन

साक्षात् भारती के द्वारा भी शायद ही सम्भव हो। त्रिलोकीनाथ की मुख-चन्द्रिका का दर्शन कर शची के नयन-चकोर पुलकित हो रहे थे। हृदय कल्पनातीत आनन्द-सिन्धु में निमग्न हो रहा था। शची ने बाल-जिनेन्द्र सहित माता को बड़े प्रेम, ममता, श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक देखा। अनेक बार भगवान और जिनमाता की प्रदक्षिणा के पश्चात, त्रिभुवन के नाथ भगवान को बड़ी भक्ति से प्रणाम किया तथा जिनमाता की स्तुति करते हुए कहा—

त्वमम्ब भुवनाम्बासि कल्याणी त्वं सुमंगला।
महादेवी त्वमेवाद्य त्वं सपुण्या यशस्विनी ॥१३—३० महापुराण॥

हे माता! तुम तो तीनों लोकों का कल्याण करने वाली विश्वजननी हो, कल्याणकारिणी हो, सुमङ्गला हो, महादेवी हो, यशस्विनी और पुण्यवती हो।

जिनेन्द्र के स्पर्शन का सुख

इस प्रकार जिनेन्द्र जननी के प्रति अपना उज्ज्वल प्रेम प्रदर्शित करते हुए माता को निद्रा निमग्न कर तथा उनकी गोद में माया-शिशु को रखकर शची ने जगद्गुरु को अपने हाथों में उठाया और परम आनन्द को प्राप्त किया। जिनसेन स्वामी कहते हैं—

तद्गात्र-स्पर्शमासाद्य सुदुर्लभमसौ तदा।
मेने त्रिभुवनैश्वर्यं स्वसात्कृतमिवाखिलम् ॥१३—३३॥

उस समय अत्यन्त दुर्लभ बाल-जिनेन्द्र के शरीर का स्पर्श कर शची को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो तीन लोक का ऐश्वर्य ही उसने अपने अधीन कर लिया हो। इन्द्राणी ने प्रभु को बड़े आदर पूर्वक लेकर इन्द्र को देने के लिए प्रसव-मन्दिर के बाहर पैर रखे। उस समय भगवान के आगे अष्टमङ्गल द्रव्य अर्थात छत्र, ध्वजा, कलश, चामर, सुप्रतिष्ठिक (ठौना) झारी, दर्पण तथा पंखा धारण करने वाली दिक्कुमारी देवियाँ भगवान की उत्तम ऋद्धियों के समान गमन करती हुई प्रतीत होती थीं। इसके अनन्तर इन्द्राणी ने देवाधिदेव को

सुरराज के करतल मे सौपा । कहा भी है--

ततः करतले देवी देवराजस्य तं न्यधात् ।
बालार्कमौदये सानौ प्राचीव प्रस्फुरन्मणौ ॥१३--३६॥

जिस प्रकार पूर्व दिशा प्रकाशमान मणियों से शोभायमान उदयाचल के शिखर पर बाल-सूर्य को विराजमान करती है, उसी प्रकार इन्द्राणी ने बाल-जिनेन्द्र को इन्द्रके करतलमे विराजमान कर दिया ।

सुरराज द्वारा सहस्र नेत्र धारण

प्रभु की अनुपम सौन्दर्यपूर्ण मनोज्ञ छबि का दर्शन कर सुरराज ने सहस्रनेत्र बनाकर अपने आश्चर्यचकित अत करण को *तृप्त करने का प्रयत्न* किया, किन्तु फिर भी वह आश्चर्य एव आनन्द के सिन्धु मे आकठ निमग्न रहा आया । जिस समय सुरराज ने जिनराज को अपनी गोद मे लिया, उस समय जय-जयकार के उच्च *स्वर से दशों दिशाएँ पूर्ण हो रही थी । इन्द्र ने प्रभु की स्तुति करते* हुए कहा--

त्वं देव जगतां ज्योतिः त्वं देव जगतां गुरुः ।
त्वं देव जगतां धाता त्वं देव जगतां पतिः ॥४१॥ महापुराण

हे भगवन् ! आप विश्वज्योति स्वरूप हो, जगत् के गुरु हो, त्रिभुवन को मोक्षमार्ग का प्रदर्शन कराने वाले विधाता हो । हे देव ! आप समस्त जगत् के नाथ हो ।

ऐरावत पर स्थित प्रभु की शोभा

भगवान को अपनी गोद मे लेकर सुरराज ऐरावत हाथी पर विराजमान हुए । उस समय ऐसा दिखता था मानो निषध पर्वत के अक मे बालसूर्य शोभायमान हो रहा हो । उस परम पावन दृश्य की क्षण भर अपने मन मे कल्पना करने से हृदय मे एक मधुर रस की धारा प्रवाहित हुए बिना न रहेगी । सौधर्मेन्द्र की गोद

में त्रिलोकीनाथ हैं। ईशान स्वर्ग का सुरेन्द्र धवल वर्ण का छत्र लगाए है। सनत्कुमार तथा महेन्द्र नामक इन्द्रयुगल देवाधिदेव के ऊपर चामर ढुरा रहे हैं। उस लोकोत्तर दृश्य की कल्पना ही जब हृदय में पीयूष धारा प्रवाहित करती है, तब उसके साक्षात् दर्शन से जीवों की क्या मनःस्थिति हुई होगी ? जिनसेनाचार्य कहते हैं—

दृष्ट्वा तदातनीं भूतिं कुदृष्टिमरुतो परे।
सन्मार्गरुचिमातेनुः इन्द्र-प्रामाण्यमास्थिताः ॥९३॥

उस समय की विभूति का दर्शन करके अनेक मिथ्यादृष्टि देवों ने इन्द्र को प्रमाणरूप मानकर सम्यक्त्वभाव को प्राप्त किया था।

सुमेरु की ओर प्रस्थान

महापुराण में लिखा है, "मेरु पर्वत पर्यन्त नीलमणियों से निर्मित सोपान-पंक्ति ऐसी शोभायमान हो रही थी, मानो नीले दिखने वाले नभोमंडल ने भक्तिवश सीढ़ियाँ रूप परिणमन कर लिया हो।

समस्त सुर-समाज ज्योतिषपटल का उल्लंघन कर जब ऊपर बढ़ा, तब वे ताराओं से समलंकृत गगनमंडल को ऐसा सोचते थे, मानो यह कुमुदिनियों से शोभायमान सरोवर ही हो। ज्योतिष-पटल में ७९० योजन पर ताराओं का सद्भाव है। उसके आगे दस योजन ऊँचाई पर सूर्य का विमान है; पश्चात् ८० योजन ऊपर जाने पर चन्द्र का विमान है। तीन योजन पर नक्षत्र हैं। तीन योजन ऊपर बुध है। तीन योजन ऊपर शुक्र है। तीन योजन ऊपर बृहस्पति है। चार योजन ऊपर मङ्गल है। चार योजन ऊपर शनैश्चर का विमान है।"[1] इस प्रकार ७९० योजन से ऊपर ११० योजन में ज्योतिषी

---

१ जैनागम के अनुसार ८०० महायोजन अर्थात् ८०० × २००० कोश **अर्थात्** १,६००,००० कोश पर सूर्य विमान है। शनैश्चर का विमान ९०० महायोजन अर्थात् १८००,००० कोश पर स्थित है। मेरु पर्वत एक लाख योजन प्रमाण ऊँचा है। एक हजार योजन तो उसकी गहराई है। चालीस योजन की चूलिका है। अतः भूतल से ९९०४० योजन पर मेरु शिखर है। वह ९९०४० × २००० **अर्थात्** १९८०८०००० कोश पर है। उतनी ऊँचाई तक देवों के सिवाय ऋद्धिधारी मुनि तथा विद्याधर भी जाते हैं। अतः ज्योतिर्लोक तक मनुष्यों के पहुँचने की संभावना तनिक भी अचरजकारी नहीं है।

देवों का आवास है। ये ज्योतिषी देव मेरु पर्वत से ११२१ योजन दूर रहकर मेरु की परिक्रमा करते हैं।

मधुर उत्प्रेक्षा

जब जिननाथ को लेकर देवेन्द्र समुदाय ज्योतिर्लोक के समीप से जा रहा था, उस समय के दृश्य को ध्यान में रखकर कवि अर्हद्दास एक मधुर उत्प्रेक्षा करते हैं—

मुग्धाप्सराः कापि चकार सर्वानुत्फुल्ल-वक्त्रान् किल धूपचूर्णम्।
रथाग्रवासिन्यरुणे क्षिपंती हसति चागारचयस्य बुध्या ॥५-३१॥

किसी भोली अप्सरा ने सूर्य सारथि को अंगीठी की अग्नि समझकर उस पर धूपचूर्ण डालकर सबको हास्ययुक्त कर दिया था।

सुमेरु की ओर जिनेन्द्रदेव को लेकर जाता हुआ समस्त सुर-समाज ऐसी आशंका उत्पन्न करता था, मानो जिनेन्द्र के समवशरण के समान अब स्वर्ग भी भगवान के साथ साथ विहार कर रहा है।

मेरु पर पहुँचना

अब सौधर्मेन्द्र मेरु पर्वत के शिखर पर जिनेन्द्र भगवान के साथ पहुँच गए। महापुराण मे कहा है :—सुरेन्द्र ने बडे प्रेम से गिरिराज सुमेरु की प्रदक्षिणा की और पांडुकवन मे ऐशान दिशा में स्थित पाँडुक-शिला पर भगवान को विराजमान किया। यह शिला सौ योजन लम्बी, आठ योजन चौडी और अर्धचंद्रमा के समान आकार वाली है। उस पाडुक वन मे आग्नेय दिशा मे पाडु कबला, नैऋत्य दिशा मे रक्ताशिला और वायव्य दिशा में रक्तकंवला शिला है।

सुवर्ण वर्ण वाली पाडुक शिला पर भरतक्षेत्रोत्पन्न तीर्थंकर का अभिषेक होता है। रूप्य अर्थात् रजत वर्णवाली पांडुकंबला पर पश्चिम विदेह के तीर्थंकर का, सुवर्ण वर्ण वाली रक्ताशिला पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकर का तथा रक्त वर्णवाली पाडुकबला शिला पर पूर्व विदेह के तीर्थंकर का अभिषेक होता है। यह कथन त्रिलोकसार (गाथा

६३३, ६३४) में आया है। तत्वार्थराजवार्तिक में पांडुकशिला को पूर्व दिशा में बताया है— "तस्यां प्राच्यां दिशि पांडुकशिला" (पृ० १२७)। वहाँ यह भी लिखा है— "अपाच्यां पांडुकंबलशिला" अर्थात् दक्षिण दिशा में पांडुकंबल-शिला है। "प्रतीच्यां रक्तकंबल-शिला" अर्थात् पश्चिम में रक्तकंबलाशिला है। "उदीच्यां अति-रक्तकंबलशिला" अर्थात् उत्तरमें अतिरक्तकंबलशिला है।

अकलंक स्वामी ने यह भी लिखा है कि—पूर्व दिशा के सिंहासन पर पूर्व विदेह वाले तीर्थंकर का, दक्षिण में भरत वालों का, पश्चिम में पश्चिम विदेहोत्पन्नों का तथा उत्तर के सिंहासन-पर ऐरावत क्षेत्रोत्पन्न तीर्थंकरों का चारों निकाय के देवेन्द्र सपरिवार तथा महाविभूतिपूर्वक क्षीरोदधि के १००८ कलशों से अभिषेक करते हैं। कहा भी है—पौरस्त्ये सिंहासने पूर्वविदेहजान्, अपाच्ये भरतजान्, प्रतीच्ये अपरविदेहजान्, उदीच्ये ऐरावतजांस्तीर्थकरांश्चतुर्निकाय-देवाधिपाः सपरिवाराः महत्या विभूत्या क्षीरोदवारिपरिपूर्णाष्ट-सहस्र-कनककलशैरभिषिचंति (पृ० १२७)।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि पांडुकशिला पर सूर्य के समान प्रकाशमान उन्नत सिंहासन है। सिंहासन के दोनों पार्श्वों में दिव्यरत्नों से रचे गए भद्रासन विद्यमान हैं। जिनेन्द्र भगवान को मध्य सिंहासन पर विराजमान करते हैं। सौधर्मेन्द्र दक्षिण पीठ पर और ईशान इन्द्र उत्तर पीठ पर अवस्थित होते हैं। (गाथा १८२२—२३—२८—२६, अध्याय ४)

उक्त विषय पर त्रिलोकसार की ये गाथाएँ प्रकाश डालती हैं—

> पांडुक-पांडुकंबल-रक्ता तथा रक्तकंबलाख्याः शिलाः।
> ईशानात् कांचन-रूप्या-तपनीय-रुधिरनिभाः ॥६३३॥
> भरतापरविदेहैरावतापूर्वविदेह-जिननिबद्धाः
> पूर्वापरदक्षिणोत्तर-दीर्घा अस्थिर-स्थिरभूमिमुखाः ॥६३४॥
> मध्ये सिंहासनं जिनस्य दक्षिणगतं तु सौधर्मं।
> उत्तरमीशानेंद्रे भद्रासनमिह त्रयं वृत्तम् ॥६३६॥

मेरु वर्णन

भरतक्षेत्र के जिनेन्द्र का मेरु पर्वत की पाँडुक शिला पर अभिषेक होता है । उस मेरु की नीव एक हजार योजन प्रमाण है । जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु का नाम सुदर्शन मेरु है । इस मेरु के अधोभाग मे भद्रशाल वन है । पॉच सौ योजन ऊँचाई पर नन्दनवन है । पश्चात् साढे वासठ हजार योजन की ऊँचाई पर सौमनस वन है । वहाँ से छत्तीस हजार योजन ऊँचाई पर पाडुक वन है । इन चारो वनो मे चारो दिशाओ मे एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है । एक मेरु सम्बन्धी चारो वनो के सोलह चैत्यालय है । विजय, अचल, मदर तथा विद्युन्माली नाम के चारो मेरुओ के सोलह-सोलह जिनालय मिलकर पाच मेरु सम्बन्धी अस्सी जिनालय आगम मे कहे गए हैं । इन अकृत्रिम जिनालयो मे अत्यन्त वैभवपूर्ण जीवित जैनधर्म समान मनोज्ञ १०८ जिनविम्ब शोभायमान होते है । राजवार्तिक मे लिखा है—"अर्हत्प्रतिमा अनाद्यनिधना अष्टशतसख्या वर्णनातीतविभवा मूर्ता इव जिनधर्मा विराजते" (पृ० १२६)

यह मेरु पर्वत नीचे से इकसठ हजार योजन पर्यन्त नाना रत्नयुक्त है । उसके ऊपर यह सुवर्ण सयुक्त है । त्रिलोकसार में कहा है—

> नानारत्नविचित्र: एकषष्ठि [illegible] प्रथम [illegible] ।
> तत उपरि मेरु: सुवर्णवर्णविमः भवति ॥६१८॥

मेरु सम्बन्धी जिनालयो की वदना करके देव, विद्याधर तथा चारण ऋद्धिधारी मुनीश्वर आत्म-निर्मलता प्राप्त करते है । इस सुदर्शन मेरु की चालीस योजन ऊँची चूलिका कही गई है । उस चूलिका से बालाग्र भाग प्रमाण दूरी पर स्वर्ग का ऋजु विमान आ जाता है । इस एक लक्ष योजन ऊँचे मेरु के नीचे से अधोलोक आरम्भ होता है । मेरु प्रमाण मध्यलोक माना गया है । यही बात राजवार्तिक मे इस प्रकार वर्णित है—"मेरुश्च त्रयाणा लोकाना मानदड. । तस्याधस्तादधोलोक । चूलिकामूलादूर्ध्वमूर्ध्वलोक । मध्यमप्रमाणस्तिर्यग्वि-

स्तीर्णस्तिर्यग्लोकः । एवं च कृत्वाऽन्वर्थनिवचनं क्रियते । लोकत्रयं मिनातीति मेरुरिति" (पृ० १२७)

मेरु के वर्ण के विषय में अकलंक स्वामी ने लिखा है—"अधोभूमिभाग सम्बन्धी एक हजार योजन प्रमाण प्रदेश के ऊपर वैडूर्य मणिरूप मेरु का प्रथम कांड है । द्वितीय कांड सर्व रत्नमय है, तृतीयकाण्ड सुवर्णमय है । 'चूलिका वैडूर्यमयी'—"चूलिका वैडूर्यमणिमयी है ।" (पृ० १२७)

पांडुक शिला

पांडुक शिला के विषय में जिनसेन स्वामी का यह पद्य ध्यान देने योग्य है—

> याऽमला शीलमालेव मुनीनामभिसम्मता ।
> जैनी तनुरिवात्यन्तभास्वरा सुरभिश्शुचिः ।।१३--९२।।

वह निर्मल पांडुकशिला शील-माला के समान मुनियों को अत्यन्त इष्ट है । वह जिनेन्द्र भगवान के शरीर के समान अत्यन्त दैदीप्यमान, मनोज्ञ तथा पवित्र है ।

> स्वयं धौतापि या धौता शतशः सुरनायकैः ।
> क्षीरार्णवाम्बुभिः पुण्यैः पुण्यस्येवाकरक्षितिः ।।१३--९३।।

यह शिला स्वयं धौत अर्थात् उज्ज्वल है, फिर भी सुरेन्द्रों ने सैकड़ों बार उसका प्रक्षालन किया है । वास्तव में वह पाँडुकशिला पुण्योत्पत्ति के लिए खानि की भूमि तुल्य है ।

जन्माभिषेक

सभी देवगण जन्मोत्सव द्वारा जन्म सफल करने के हेतु पाँडुकशिला को घेरकर बैठ गए । देवों की सेना आकाशरूपी आँगन को व्याप्त कर ठहर गई । भगवान पूर्व मुख विराजमान किए गए । देव दुंदुभि बज रही थी । अप्सराएँ नृत्यगान में निमग्न थीं। अत्यन्त प्रशान्त, भव्य तथा प्रमोद परिपूर्ण वातावरण था । सौधर्मेन्द्र ने

अभिषेक के लिए प्रथम कलश उठाया। ईशानेन्द्र ने सघन चन्दन से चर्चित दूसरा पूर्ण कलश उठाया। बहुत से देव श्रेणिबद्ध होकर सुवर्णमयी कलशो मे क्षीरसागर का जल लेने निकले।

भगवान का रक्त धवल वर्ण का था। क्षीरसागर का जल भी उसी वर्ण का है। अतएव उस जल द्वारा जिनेन्द्रदेव का अभिषेक बडा सुन्दर प्रतीत होता था। महापुराणकार कहते है—

> **पूतं स्वायभुवं गात्रं स्प्रष्टु क्षीराच्छशोणितम्।**
> **नान्यदस्ति जलं योग्यं क्षीराब्धि सलिलादृते ॥१३—१११॥**

जो स्वय पवित्र है, और जिसमे दुग्ध सदृश स्वच्छ रुधिर है, ऐसे भगवान के शरीर का स्पर्श करने के लिए क्षीरसागर के जल के सिवाय अन्य जल योग्य नही है, ऐसा विचारकर ही देवो ने पचम क्षीरसागर के जल से पचम गति को प्राप्त होने वाले जिनेन्द्र के अभिषेक करने का निश्चय किया था।

क्षीरसागर की विशेषता

क्षीरसागर के विषय मे त्रिलोकसार का यह कथन ध्यान देने योग्य है—

> जलयरजीवा लवणे कालेयतिम-सयंभुरमणे य।
> कम्ममहीपडिबद्धे ण हि सेसे जलयरा जीवा ॥३२०॥

लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र, अन्तिम स्वयभूरमण समुद्र ये कर्मभूमि से सम्बद्ध है। इनमे जलचर जीव पाए जाते है। शेष समुद्रो मे जलचर जीव नही है।

इससे यह विशेष बात दृष्टि मे आती है कि क्षीरसागर का जल जलचर जीवो से रहित होने के कारण विशेपता धारण करता है। अभिषेक जल लाने के कलश सुवर्णनिर्मित थे। वे घिसे हुए चन्दन से चर्चित थे तथा उनके कठभाग मुक्ताओ से अलंकृत थे "मुक्ता फलाचितग्रीवाः चन्दनद्रवचर्चिता.।" (पृ० ११५)

सौधर्मेन्द्र की लोकोत्तर भक्ति

जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक की भक्ति में लीन सौधर्मेन्द्र की विचित्र अवस्था हो रही थी। देवों द्वारा लाए गए सभी १००८ कलशों को एक साथ धारण करने की लालसा से सुरेन्द्र ने विक्रिया द्वारा अनेक भुजाएँ बना लीं। अनेक आभूषणों से अलंकृत उन भुजाओं से वह इन्द्र भूषणांग जाति के कल्पवृक्ष सदृश प्रतीत होता था; अथवा एक हजार भुजाओं द्वारा उठाए हुए तथा मोतियों से अलंकृत सुवर्ण-कलशों को धारण करते हुए वह सुरराज भाजनांग कल्पवृक्ष की शोभा को धारण करता था।

प्रथम जलधारा का हर्ष

सौधर्मेन्द्र ने जय-जय शब्द कहते हुए प्रभु के मस्तक पर प्रथम ही जलधारा छोड़ी, उस समय करोड़ों देवों ने भी जयजयकार के शब्दों द्वारा महान् कोलाहल किया था। आचार्य कहते हैं—

जयेति प्रथमां धारां सौधर्मेन्द्रो न्यपातयत्।
तथा कलकलो भूयान् प्रचक्रे सुरकोटिभिः ॥११६॥

भगवान के मस्तक पर पड़ती हुई उस पुण्यधारा ने समस्त भूमण्डल को पवित्र कर दिया था। महापुराणकार कहते हैं—

पवित्रो भगवान् पूतैः अंगैस्तदपुनाज्जलम्।
तत्पुनर्जगदेवेदम् अपावीद् व्याप्तदिङ्मुखम् ॥१३०॥

भगवान् तो स्वयं पवित्र थे। उन्होंने अपने पवित्र अङ्गों से उस जल को पवित्र कर दिया था। उस पवित्र जल ने समस्त दिशाओं में फैलकर सम्पूर्ण जगत् को पवित्र कर दिया था।

प्रभु के अतुल बल से विस्मय

भगवान में बाल्यकाल में भी अतुल बल था। विशाल कलशों से गिरी हुई जलधारा से बाल-जिनेन्द्र को रंचमात्र भी बाधा नहीं होती थी। यह देख अनेक देवगण विस्मय में निमग्न हो गए थे।

महावीर भगवान का जब मेरु पर इन्द्रकृत अभिषेक संपन्न होने को था, उस समय सुरेन्द्र के चित्त मे यह शका उत्पन्न हुई थी, कि भगवान का शरीर छोटा है। कही बड़े-बडे कलशो के द्वारा सम्पन्न किया जाने वाला यह महान् अभिषेक प्रभु के अत्यन्त सुकुमार शरीर को सन्ताप तो उत्पन्न न करे? भगवान ने अवधिज्ञान से इस बात को जानकर इन्द्र के सन्देह को दूर करने के लिए अपने पैर के अगूठे के द्वारा उस महान गिरिराज को कम्पित कर दिया था। इससे प्रभावित हो इन्द्र ने वर्धमान तीर्थंकर का नाम 'वीर' रखा था। आचार्य प्रभाचन्द्र ने बृहत्प्रतिक्रमण की टीका में उपरोक्त कथन इन शब्दो मे स्पष्ट किया है—"जन्माभिषेके च लघुशरीर-दर्शनादाशकितवृत्तेरिंद्रस्य स्वसामर्थ्यख्यापनार्थं पादागुष्ठेन मेरुसचालनादिंद्रेण 'वीर' इति नाम कृतम् (पृ० ६६—प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी)।

वर्धमान चरित्र में उक्त प्रसङ्ग का इस प्रकार निरूपण किया गया है—

तस्मिन् तदा क्षुवति कपित-शैलराजे घोणाप्रविष्टसलिलात्पृथुकोऽदर स्नम्।
इन्द्रादयस्तृणमिवंव पदे निपेतु. वीर्यं निसर्गजमंनतमहो जिनाना ॥१७—८२॥

जिस समय इन्द्र ने बाल-जिनेन्द्र का अभिषेक किया, उस समय नासिका मे जल के प्रवेश होने से उन बाल-जिनेन्द्र को छीक आ गई। उससे मेरु पर्वत कम्पित हो गया और इन्द्र आदिक तृण के समान सहसा गिर पडे। जिनेश्वर के स्वाभाविक अपरिमित बल है।

यह प्रभाव देखकर इन्द्र न प्रभु का नाम वीर रखा था। पद्मपुराण का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है—

पादांगुष्ठेन यो मेरुमनायासेन कपयत्।
लेभे नाम महावीर इति नाकालयाधिपात् ॥२—७६॥

भगवान वर्धमान प्रभु ने बिना परिश्रम के पैर के अंगुष्ठ के द्वारा मेरु को कम्पित कर दिया था, इसलिए देवेन्द्र ने उनका नाम 'महावीर' रखा था। यथार्थ में तीन लोक में जिन भगवान की सामर्थ्य के समान दूसरे की शक्ति नहीं होती है। मेरु शिखर पर किया गया

उनका महाभिषेक भगवान जिनेन्द्र की बाल्य अवस्था में भी अपार सामर्थ्य को स्पष्ट करता है।

सुमेरु की धवलरूपता

क्षीर सागर की विपुल जलराशि से व्याप्त सुमेरु पर्वत रत्नपिंजर के स्थान में धवलगिरि की तरह दिखाई पड़ता था। हरिवंश-पुराण में कहा है—

> दृष्टः सुरगणैर्यः प्राग् मंदरो रत्नपिंजरः।
> स एव क्षीरपूरौघैर्धवलीकृतविग्रहः ॥८—१६८॥

अभिषेक की लोकोत्तरता

जिनेन्द्रदेव के लोकोत्तर अभिषेक के विषय में आचार्य लिखते हैं—

> स्नानासनमभून्मेरुः स्नानवारि-पयोम्बुधेः।
> स्नानसंपादका देवाः स्नानमीदृग् जिनस्य तत् ॥८—१७०॥

उनके स्नान का स्थल सुमेरु पर्वत था। क्षीर सागर का जल स्नान का पानी था। स्नान कराने वाले देवगण थे। जिन भगवान का स्नान इस प्रकार लोकोत्तर था। महापुराण में कहा है कि शुद्ध जलाभिषेक के पश्चात् विधि-विधान के ज्ञाता इन्द्र ने सुगन्धित जल से भगवान का अभिषेक किया था। इसके पश्चात् क्या हुआ? इस पर प्रकाश डालते हुए महापुराणकार कहते हैं—

> कृत्वा गंधोदकैरित्थं अभिषेकं सुरोत्तमाः।
> जगतां शांतये शांति घोषयामासमुच्चकैः ॥१३—१६७॥

इस प्रकार गंधोदक से भगवान का अभिषेक करने के उपरान्त इन्द्रों ने जगत् की शन्ति के लिए उच्च स्वर से शान्ति-मन्त्र का पाठ किया।

गंधोदक की पूज्यता

भगवान के अभिषेक के गंधोदक को मुनिजन भी आदर की दृष्टि से देखते हैं। कहा भी है—

माननीया मुनीन्द्राणा जगतामेकपावनी ।
साव्याद् गंधाम्बुधारास्मान् या स्म व्योमापगायते ।।१३--१६५।।

जो श्रेष्ठ मुनियो द्वारा आदरणीय है, जो जगत् को पवित्र करने वाले पदार्थो मे अद्वितीय है और जो आकाशगङ्गा के समान शोभायमान है, ऐसी वह सुगन्धित जल की धारा हम सबकी रक्षा करे ।

इस प्रसङ्ग मे कन्नड भाषा के महाकवि रत्नाकर का यह कथन स्मरण योग्य है—"हे रत्नाकराधीश्वर ! देवेन्द्र आपकी सेवा मे अपना ऐरावत अर्पण कर गौरव को प्राप्त करता है । वह अपनी इन्द्राणी से आपका गुणगान कराता है । आपके अभिषेक के लिए देवताओ की सेना के साथ भक्तिपूर्वक सेवा करता है । श्रद्धापूर्वक छत्र धारण करता है, नृत्य करता है, पालकी उठाता है । जब इन्द्र की ऐसी मार्दवभावपूर्ण परणति है, तब क्षुद्र मानव का अहकार धारण करना कहाँ तक उचित है ? (रत्नाकरशतक पद्य ८१)

बालरूप भगवान के अलंकार

श्रेष्ठ रीति से त्रिलोकचूडामणि जिनेन्द्र का जन्माभिषेक होने के पश्चात् इन्द्राणी ने बाल जिनेन्द्र को विविध आभूषणो तथा वस्त्रादि से समलकृत किया । भरत तथा ऐरावत क्षेत्र के तीर्थकरो के उपभोग मे आने वाले रत्नमय आभूषण सौधर्म तथा ईशान स्वर्ग में विद्यमान रत्नमय सीको मे लटकते हुए उत्तम रत्नमय करडको अर्थात् पिटारो मे रहते हैं । तिलोयपण्णत्ति में इन पिटारो के विषय में लिखा है—"सक्कादि-पूजणिज्जा" अर्थात् ये इन्द्रादि के द्वारा पूजनीय हैं ; 'अणादिणिहणा' अर्थात् अनादि निधन हैं तथा 'महारम्मा' महान् रमणीय हैं । (अध्याय ८, गाथा ४०३, पृ० ८३६, भाग दूसरा)

ये रत्नमय पिटारे वज्रमय द्वादशधारा युक्त मानस्तम्भों में पाए जाते हैं । त्रिलोकसार में भी कहा है—"सौधर्मद्विके तौ मानस्तंभौ भरतैरावततीर्थकरप्रतिबद्धौ स्याताम् ।" सानत्कुमार

माहेन्द्र स्वर्ग के मानस्तम्भों में पूर्वापर विदेह के तीर्थंकरों के भूषण रहते हैं। (त्रिलोकसार गाथा ५२१, ५२२)

प्रभु का जन्मपुरी में आगमन

सुन्दर वस्त्राभूषणों से प्रभु को समलंकृत कर सुरराज ने अपने अंतःकरण के उज्ज्वल भावों को श्रेष्ठ स्तुति के रूप में व्यक्त किया। पश्चात् वैभव सहित वे देव-देवेन्द्र ऐरावत गज पर प्रभु को विराजमानकर अयोध्यापुरी आए। इन्द्र ने महाराज नाभिराज के सर्वतोभद्र महाप्रासाद में प्रवेशकर श्रीगृह के आँगन में भगवान को सिंहासन पर विराजमान किया। उस समय क्या हुआ, यह महा-पुराणकार के शब्दों में ध्यान देने योग्य है—

> नाभिराजः समुद्भिन्नपुलकं गात्रमुद्वहन्।
> प्रीतिविस्फारिताक्षस्तं ददर्श प्रियदर्शनम् ॥७४॥
> मायानिद्रामपाकृत्य देवी शच्या प्रबोधिता।
> देवीभिः समर्मक्षिष्ट प्रहृष्टा जगतां पतिम् ॥१४--७५॥

महाराज नाभिराज उन प्रियदर्शन भगवान को प्रेम से विस्तृत नेत्र करके रोमाञ्चयुक्त शरीर होकर देखने लगे।

माया निद्रा को दूरकर इन्द्राणी के द्वारा प्रबोध को प्राप्त जिन जननी ने अत्यन्त आनन्दित हो देवियों के साथ भगवान का दर्शन किया।

माता-पिता का वर्णनतीत आनन्द

गर्भ में प्रभु के आगमन के छह माह पूर्व से ही रत्नों की वर्षा द्वारा भगवान के जन्म की सूचना पाए हुए माता-पिता को इस समय प्रभु का दर्शन कर जो कल्पनातीत सुख प्राप्त हुआ, वह कौन बता सकता है? तीर्थंकर के जन्म से जब जगत् भर के जीवों को अपार आनन्द प्राप्त हुआ, तब उनके ही माता-पिता के आनन्द की सीमा बताने की कौन धृष्टता करेगा?

धर्मशर्माभ्युदय मे लिखा है—

उत्संगमारोप्य तमंगजं नृपः परिष्वजन्मीलितलोचनो बभौ।
अंर्तविनिक्षिप्य सुखं वपुर्गृहे कपाटयोः संघटयन्निव द्वयम् ॥६—११॥

पिता ने अपने अङ्ग से उत्पन्न अङ्गज अर्थात् पुत्र को गोद मे लिया तथा आलिङ्गन किया। उस समय उनके दोनो नेत्र बन्द हो गए थे।

शंका

इन्द्र ने जब प्रभु का प्रथम बार दर्शन किया था, तब वह तो सहस्त्र नेत्रधारी बना था, किन्तु यहाँ त्रिलोकीनाथ के पिता ने मनुष्य को सहज प्राप्त चक्षुयुगल का उपयोग न ले उनको भी क्यों बन्द कर लिया था!

इस शका के समाधान हेतु महाकवि के उक्त पद्य का उत्तरार्ध ध्यान देने योग्य है। कवि का कथन है कि—"पिता ने भगवान के दर्शनजनित सुख को शरीर रूपी भवन के भीतर रखकर नेत्ररूपी कपाट-युगल को बन्द कर लिया, जिससे वह हर्ष बाहर न चला जाय।" कितनी मधुर तथा आनन्ददायी उत्प्रेक्षा है?

एक नरभव धारण करने के पश्चात शीघ्र ही सिद्ध भगवान बनकर भगवान के साथ में सिद्धालय मे निवास करने के सौभाग्य वाले इन्द्र की भक्ति, विवेक तथा प्रवीणता परम प्रशसनीय थी। सुविज्ञ सुरराज ने जिनराज के माता-पिता का भी समुचित समादर किया। महापुराणकार लिखते हैं—

माता-पिता की पूजा का भाव

ततस्तौ जगता पूज्यौ पूजयामास वासव.।
विचित्रैर्भूषणैः स्रग्भिः अंशुकैश्च महार्घकैः ॥१४—७८॥

इसके अनन्तर सुरराज ने महामूल्य तथा आश्चर्यकारी आभूषणो, मालाओ तथा वस्त्रो से जगत्-पूज्य जिनेन्द्र के माता-पिता की पूजा की।

यहाँ भगवान के माता-पिता के सम्मान कार्य के लिए श्लोक म 'पूजा' का वाचक 'पूजयामास' शब्द आया है। इसके प्रकाश में पूजा के प्रकरण में उत्पन्न अनेक विवाद सहज हीं शांत हो जाते हैं। पूजा का अर्थ है सम्मान करना। पूज्य की पात्रता आदि को ध्यान में रखकर यथायोग्य पूजा करना पूजक की विवेकमयी दृष्टि पर आश्रित है। वीतराग भगवान की पूजा तथा अन्य की पूजा में पूजा शब्द के प्रयोग की अपेक्षा समानता होते हुए भी उसके स्वरूप तथा लक्ष्य में अन्तर है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में जिनेन्द्र देव की पूजा, आराधना का लक्ष्य संसार-सताप का क्षय करना है। जिनेन्द्र जनक-जननी की पूजा शिष्टाचार तथा भद्रतापूर्ण व्यवहार है। पुत्र की पूजा करके पिता-माता की उपेक्षा करना इन्द्र जैसी विवेकीआत्मा के लिये अक्षम्य अशोभन बात होगी। पूजा शब्द को सुनने मात्र से घबड़ाना नहीं चाहिये। अर्थ पर दृष्टि रखना विवेकी का कर्तव्य है।

इन्द्र द्वारा स्तुति

महापुराण के शब्दों में इंद्र ने महाराज नाभिराज की स्तुति में कहा—

भो नाभिराज सत्यं त्वं उदयाद्रिर्महोदयः।
देवी प्राच्येव यज्ज्योतिः पुरमसः परमुद्बभौ ॥८१॥

हे नाभिराज ! वास्तव में आप ऐश्वर्यशाली उदयाचल हैं और रानी मरुदेवी पूर्व दिशा है, क्योंकि जिनेन्द्र सत-स्वरूप-ज्योति आपसे ही उत्पन्न हुई है।

देवधिष्ण्यमिवागारम् इदमाराध्यमद्य वाम्।
पूज्यौ युवां च नः शश्वत् पितरौ जगतां पितुः ॥पर्व १४—८२॥

आज आपका भवन हमारे लिए जिनेन्द्र-मन्दिर सदृश पूज्य है (साक्षात् बाल-जिनेन्द्र उस भवन में प्रत्यक्ष नयनगोचर हो रहे हैं)। आप जगत् के पिता भगवान के भी माता-पिता हैं, अतएव हमारे लिए सदा पूज्य हैं।

इन्द्र ने भगवान के जन्म महोत्सव का जो सजीव वर्णन किया, उसे सुनकर माता-पिता को अत्यन्त हर्ष हुआ।

पिता मेरु पर क्यों नहीं गए ?

इस प्रसङ्ग मे यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है, कि बुद्धिमान इन्द्र ने मेरु पर्वत पर प्रभु को वैभवपूर्वक ले जाते समय भगवान के पिता को ले जाने के कार्य में क्यों प्रमाद किया ? उस महोत्सव को प्रत्यक्ष देखकर पिता को कितना आनन्द होता ! माता ने पुत्र को उत्पन्न किया है। भगवान के अतुल बल था, इससे उनको मेरु पर ले जाना ठीक था, किन्तु माता की शरीर स्थिति ऐसी नही होगी, जो उनको मेरु की यात्रा कराई जाय। यह कठिनता पिता के विषय में उत्पन्न नही होती। भगवान के पिता का संहनन भी श्रेष्ठ था। कर्मभूमि सम्बन्धी स्त्री होने से माता के वज्रवृषभ नाराच, वज्र नाराच तथा नाराच सहनन त्रय का अभाव था, "अन्तिमतिय-सहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाण। आदिमतिगसहणण णत्थित्ति जिणेहिं-णिद्दिट्ठं" (कर्मकाड गोम्मटसार, ३२), अतएव जन्मोत्सव में भगवान के पिता को नही ले जाने का क्या रहस्य है ?

समाधान

इस समस्या का समाधान विचारते समय यह प्रति-प्रश्न उठता है, कि यदि भगवान के पिता को मेरुगिरि पर ले गए होते तो क्या परिणाम निकलता ? भगवान के पिता भगवान की अपार सामर्थ्य को मोहवश पूर्ण रीति से नही सोच सकते थे। तत्काल उत्पन्न बालक को लाख योजन उन्नत पर्वत के शिखर पर विराजमान करके एक हजार आठ विशाल सुवर्ण कलशों से उनका अभिषेक होना कौन पिता पसन्द करेगा ? ममतामय पिता का हृदय अनिष्ट की आशका-वश या तो अभिषेक करने मे विघ्नरूप बनता अथवा उनकी ऐसी शोचनीय अवस्था सम्भव थी, जो इस आनन्द सिंधु में निमग्न समस्त

विश्व के मध्य अद्भुत होती। सारा संसार तो जन्मोत्सव से सुखी हो रहा है और उसी समय भगवान के पिता की मानसिक दशा भयंकर चिन्ता, मनोव्यथा से परिपूर्ण हो यह स्थिति अद्भुत होती। प्रभु के जन्मोत्सव में निमग्न सभी थे। कौन उस आनंद की बेला में पिता को बैठकर उनको समझाते रहता तथा उनकी योग्य रीति से रक्षा करता? ऐसी अनेक विकट परिस्थितियों की कल्पना का भी उदय न हो, इसीलिए प्रतीत होता है विवेकमूर्ति इन्द्र ने सुमेरु के शीश पर पिता को ले जाने की आपत्ति स्वीकार नहीं की। यह भी संभव है कि भगवान के पिता के विषय में उक्त आशंका भ्रममूलक ही हो, फिर भी इन्द्र इस विषय में खतरा मोल लेने को तैयार नहीं था। जैसे जिन-जननी को पुत्र वियोग की व्यथा का अनुभव न हो, इसलिए माता को मायामयी बालक सौंपकर सुरराज ने सामयिक कुशलता का कार्य किया था, ऐसी ही विचारकता इन्द्र ने पिता के विषय में प्रयुक्त की थी। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त प्रश्न महत्वशून्य बन जाता है।

जन्मपुरी में उत्सव

सुमेरुगिरि पर तो असंख्य देवी देवताओं ने जन्मोत्सव मनाया यह तो बड़ा सुन्दर कार्य हुआ, किन्तु प्रभु की जन्मपुरी में भी कोई उत्सव मनाया गया क्या? इसके समाधान में आचार्य जिनसेन स्वामी लिखते हैं, "इन्द्र के द्वारा जन्माभिषेक की सब कथा मालूम कर माता-पिता दोनों ही आनंद और आश्चर्य की अंतिम सीमा पर आरुढ़ हुए। उन्होंने इन्द्र से परामर्शकर बड़ी विभूति पूर्वक पुरवासियों के साथ जन्मोत्सव किया था। सारे संसार को आनन्दित करने वाला यह महोत्सव जैसा मेरु पर्वत पर हुआ था, वैसा ही अन्तःपुर सहित इस अयोध्यापुरी में हुआ। उन नगर वासियों का आनन्द देखकर अपने आनंद को प्रकाशित करते हुए इन्द्रने आनन्द नामक नाटक करने में अपना मन लगाया।" उस समय इन्द्र ने जो नृत्य किया था, वह अपूर्व था। आचार्य कहते हैं, "उस

समय अनेक प्रकार के बाजे बज रहे थे। तीनों लोकों मे फैली हुई कुलाचलो सहित पृथ्वी ही उसकी रगभूमि थी। स्वय इन्द्र प्रधान नृत्य करने वाला था। महाराज नाभिराज आदि उत्तम पुरुष उस नृत्य के दर्शक थे। जगद्‌गुरु भगवान वृषभदेव उसके आराध्य थे। धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन पुरुषार्थो की सिद्धि तथा परम आनदमय मोक्ष ही उसका फल था। कहा भी है—

प्रेक्षका नाभिराजाद्याः समाराध्यो जगदगुरु'।
फलं त्रिवर्गसंभूतिः परमानंद एव च ॥१४--१०२॥

इन्द्र ही नटराज है

भक्ति के रस में निमग्न होकर जब इन्द्र ने ताडव नृत्य किया, उस समय की शोभा तथा आनद अवर्णनीय थे। जिस समय वह इन्द्र विक्रिया से हजार भुजाएँ बनाकर नृत्य कर रहा था, उस समय पृथ्वी उसके पैरो के रखने से कपित होने लगी थी, कुलाचल चचल हो उठे थे, समुद्र भी मानो आनद से शब्द करता हुआ नृत्य करने लगा था। नृत्य करते समय वह इन्द्र क्षणभर में एक तथा क्षण भर मे अनेक हो जाता था। क्षणभर में सब जगह व्याप्त हो जाता था, क्षणमात्र मे छोटासा रह जाता था; इत्यादि रूप से विक्रिया की सामर्थ्य से उसने ऐसा नृत्य किया मानो इन्द्र ने इन्द्रजाल का ही प्रयोग किया हो।

"इन्द्रजालमिवेन्द्रेण प्रयुक्तमभवत् तदा" ॥१४--१३१॥

भारतीय शिल्पकला मे नृत्य के विषय में नटराज की श्रेष्ठ कलामय मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। [१]सर्व श्रेष्ठ मूर्ति तंजौर के वृहदीश्वर नामके हिन्दूमदिर मे है। प्रतीत होता है कि भगवान के जन्म महोत्सव पर अलौकिक नृत्य करने वाला इन्द्र ही नटराज के रूप में पूज्यता को प्राप्त हो गया है।

---

१ भारतीय मूर्तिकला पृष्ठ १४६, नागरी प्रचारिणी सभा काशी

भगवान की अनुपम भक्ति कर इन्द्र ने भगवान की सेवा के लिए उनके अनुरूप देवों तथा देवियों को नियुक्त कर स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया ।

भगवान के जीवन की लोकोत्तरता

जिस प्रकार चन्द्रमा क्रमशः विकास को प्राप्त होता है, उसी भगवान शिशु-सुलभ मधुरताओं के द्वारा सबको सुख पहुँचाते हुए धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे । उनका विकास लोकोत्तर होते हुए भी पूर्णतया स्वाभाविक था । उनमें जन्म सम्बन्धी दस बातें थीं, जिनको जन्मातिशय कहते हैं । नन्दीश्वर भक्ति में पूज्यपाद आचार्य उनकी इस प्रकार परिगणना करते हैं—

> नित्यं निःस्वेदत्वं निर्मलता क्षीर-गौर-रुधिरत्वं च ।
> स्वाद्याकृति-संहनने सौरूप्यं सौरभं च सौलक्ष्यम् ॥३८॥
> अप्रमितवीर्यता च प्रियहितवादित्व-मन्यदमितगुणस्य ।
> प्रथिता दशसंख्याताः स्वतिशयधर्माः स्वयंभुवो देहस्य ।३६॥

स्वयंभू भगवान के शरीर में नित्य निःस्वेदता अर्थात् पसीना-रहितपना था । मल-मूत्र का अभाव था । क्षीर के समान गौरवर्ण युक्त रुधिर था । उनका संहनन वज्रवृषभ नाराच था । समचतुरस्र संस्थान अर्थात् सुन्दर और सुव्यवस्थित अङ्गोपाङ्गों की रचना थी। अत्यन्त सुन्दर रूप था । शरीर सुगन्ध सम्पन्न था । उसमें एक हजार आठ शुभ लक्षण थे, अतुल बल था । वे प्रिय तथा हितकारी वाणी बोलते थे ।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है—"एदं तित्थयराणं जम्मगहणादि उप्पण्णं" (भाग १, गाथा ८६६–८६८, अध्याय ४) । ये दश स्वाभाविक अतिशय तीर्थंकर के जन्म ग्रहण से ही उत्पन्न होते हैं ।

लोकोत्तरता का रहस्य

यह शंका की जा सकती है, कि तीर्थंकर को अलौकिक

महापुरुष मानकर उनमे असाधारण बातो को स्वीकार करने के स्थान मे विविध मत-प्रवर्तको के समान उनकी समस्त बातों की मान्यता तीर्थंकर के जीवन को पूर्ण स्वाभाविक रूपता प्रदान करती। चमत्कारों का स्वाभाविकता के साथ सामजस्य नही बैठता।

इस आशका के समाधान हेतु हमारी दृष्टि कार्य-कारण भाव के विश्वमान्य तर्कसङ्गत सिद्धान्त की ओर जाना चाहिये। सुविकासपूर्ण स्थिति मे तीर्थंकर रूप मनोज्ञ वृक्ष को देखकर जिनको आश्चर्य होता है, वे गम्भीरता पूर्वक यह भी विचार करे, कि इस वृक्ष के बीज-वपन के पूर्व से कितनी बुद्धिमत्ता, परिश्रम, विवेक और उद्योग का उपयोग किया गया है ? किस-किस प्रकार की श्रेष्ठ सामग्री जुटाई गई ? तब वह आश्चर्य आश्चर्यस्वरूप रहते हुए भी स्वाभाविकता समलकृत प्रतीत होने लगता है। तीर्थंकर बनानेवाली अनेक भवो की अद्भुत तप साधना, ज्ञानाराधना तथा स्वावलम्बनपूर्ण समस्त जीवनी पर गम्भीर दृष्टि डालने से अनेक प्रकार की शकाओं का जाल उसी प्रकार दूर हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य की किरणमालिका के द्वारा अन्धकार का विनाश हो जाता है।

जन-साधारण सदृश दुर्बलताओ तथा असमर्थताओ का केन्द्र तीर्थंकर को भी होना चाहिये, यह कामना उसी प्रकार विनोद तथा परिहास प्रवर्धक है, जैसे नक्षत्र मालिकाओ मे अल्प दीप्ति तथा प्रकाश को देख यह इच्छा करना कि इसी प्रकार सूर्य की दीप्ति तथा प्रकाश होना चाहिये। श्रेष्ठ साधना के द्वारा जिस प्रकार के श्रेष्ठ फलों की उपलब्धियाँ होती है, उसका प्रत्यक्ष दर्शन तीर्थंकर भगवान के जीवन मे सभी जीवो को हुआ करता है। इस विषय की यथार्थता को हृदयङ्गम करने के लिए समीक्षक का ध्यान तीर्थंकरत्व के लिए बीज स्वरूप षोडश भावनाओ की ओर जाना उचित है। कारण रूप भावनाओ की एक रूपता रहने से कार्यरूप में विकसित तीर्थंकर स्वरूप विशाल वृक्ष भी समानता समलंकृत होता है।

तीर्थंकरों में समानता का कारण

इस प्रकाश में यह आशंका भी दूर हो जाती है कि सभी तीर्थंकर समान रूप के क्यों होते हैं ? एक आदमी का रूप-रङ्ग, ढङ्ग दूसरे से नहीं मिलता, किन्तु एक तीर्थंकर दूसरे से असमान नहीं दिखते, क्योंकि उत्कृष्ट साधना के द्वारा जिनश्रेष्ठ परमाणुओं द्वारा एक तीर्थंकर का शरीर-निर्माण होता है, वे ही साधन अन्य तीर्थंकर को भी समुपलब्ध होते हैं। तीर्थंकर भगवान के जीवन के अन्तः बाह्य सौन्दर्य का चमत्कार यथार्थ में भगवती अहिंसा तथा सत्य की समाराधना का ही अद्भुत परिणाम है।

जिन सन्तों या धर्म संस्थापकों का वर्तमान तथा अतीत जीवन हिंसामयी भावनाओं तथा प्रवृत्तियों पर अवस्थित रहता है, उनका रूप-रङ्ग, ढङ्ग आदि उनकी आंतरिक स्थिति के अनुरूप होता है। जीववध करते हुए भी जिनके मुख से संकोच रहित विश्वप्रेम की वाणी जगत् को सुनाई जाती है, उनके समीप अहिंसा का सौन्दर्य कैसे आनन्द और अभ्युदयों की वर्षा करेगा ? खोजा वर्ग के स्व० आगाखान कहते थे—"शराब का मेरे मुख से सम्पर्क होते ही मेरे प्रभाववश जल रूप में परिवर्तन हो जाता है।" एक जापानी प्रोफेसर ने सन् १९५६ में हमसे जापान में कहा था, "शराब और पानी में कोई अंतर नहीं है। मुखद्वार से भीतर जाकर पानी भी उसी तत्व-रूप में परिवर्तित होता है, जिस रूप में शराब रहती है।" पश्चिम का विख्यात दार्शनिक सुकरात सदृश विचारक व्यक्ति भी अहिंसा के अंतस्तत्व को हृदयंगम न कर विषपान द्वारा प्राण परित्याग के पूर्व अपने स्नेही क्रिटो (Crito) से कहता है, कि मेरी एक अंतिम इच्छा तुम्हें पूर्ण करना है, "I owe a cock to Asclepius" मुझे एसक्लिपियस देवता के यहाँ एक मुर्गा भेंट करना था, अतः यह बलिदान का काम तुम पूरा कर देना। इस प्रकार दुनियाँ में प्रसिद्धि प्राप्त बड़े-बड़े धर्म तथा सांस्कृतिक प्रमुख लोगों की

कथा है। उन लोगों के जीवन पर उनके धार्मिक साहित्य का प्रभाव है, जिसमे जीववध करते हुए भी उज्ज्वल जीवन निर्माण में बाधा नही आती।

कोयले के घिसने से जैसे धवलता की वृद्धि नही होती, उसी प्रकार हिसा को विविध कल्पनामयी आभूषणो से अलकृत करने पर भी दु ख, दरिद्रता, सन्ताप आदि की बाढ को नही रोका जा सकता। भगवान जिनेन्द्र का श्रेष्ठ अहिसामय जीवन ऐसी विशेषताओं का केन्द्र बनता है, जिसका अन्यत्र दर्शन होना असम्भव है। इन शब्दो के प्रकाश मे तीर्थंकर के जन्म सम्बन्धी पूर्वोक्त अतिशय कवि कल्पना प्रसूत अतिशयालकार न होकर वास्तविक विशेषताएँ प्रतीत होगे। अहिसा की सच्ची स्वर्णमुद्रा समर्पण करने पर प्रकृति देवी लोकोत्तर सामग्री दान द्वारा जीवन को समलकृत करती है। इसमें क्या आश्चर्य की बात है?

अतिशय काल्पनिक नहीं हैं

कुछ लोग लोकरुचि को परितृप्त करने के हेतु तीर्थंकर भगवान के जीवन की अपूर्वताओं को पौराणिक कल्पना कहकर उनको दूसरो के समान सामान्य रूपता प्रदान करते है। अपूर्वताओं को बदलकर अपूर्णताओ को स्थानापन्न बनाना ऐसा ही अनुचित कार्य है, जैसे सर्वाङ्ग सुन्दर व्यक्ति के हाथ, पांव तोड़कर तथा आख फोडकर उसे विकृत बनाना है। जिन्हे आत्मकल्याण इष्ट है, वे भव्यजन वीतराग वाणी पर पूर्ण तथा अविचलित श्रद्धा धारण करते है।

परीक्षा-प्रधानियो के परमाराध्य देवागमस्तोत्र के रचयिता महान तार्किक आचार्य समतभद्र भी भगवान के अतिशयों को परमार्थ-सत्य स्वीकार करते हुए तथा अपने बृहत्स्वयभूस्तोत्र में उनका उल्लेख करते हुए प्रभु का स्तवन करते है। मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर के स्तवन में वे भगवान के रुधिर को शुक्ल वर्ण का स्वीकार करते हुए उनके

शरीर को मल रहित कहते हैं। भगवान अरनाथ के स्तवन में वे इंद्र के हजार नेत्र बनाने की पौराणिक कथनी को प्रमाण मानकर उसका उल्लेख करते हैं; किन्तु आज के अल्प अभ्यासी कोई-कोई व्यक्ति इन बातों पर अविश्वास व्यक्त करने में स्वयं को ऐसा कृतार्थ अनुभव करते हैं, जैसे कूपमंडूक समुद्र के सद्भाव को मिथ्या बताता हुआ छोटे से जलाशय को ही समुद्र मानता है तथा अपने को ही सत्यज्ञानी अनुभव करता है। कूपमंडूक की दृष्टि से सर्वज्ञ प्रणीत जिनवाणी का रसपान संभव नहीं है। इसके लिए व्यापक तथा गंभीर दृष्टि आवश्यक है। समीक्षक पुरुषार्थी परिश्रम के द्वारा आगम के रहस्य को भली प्रकार जान सकता है।

सर्वज्ञ वाणी में असत्यका लेश भी नहीं है। परीक्षा की योग्यता के बिना जो परीक्षक बनने का अभिनय करते हैं, उनको दुर्गति होती है और सत्य की उपलब्धि भी नहीं होती। "भगवान का शरीर पसीना रहित है। मलमूत्र रहित है। आहार होते हुए भी नीहार नहीं है," इस आगम वाक्य के पीछे यह वैज्ञानिक सत्य निहित है, कि तीर्थंकर आदि विशिष्ट आत्माओं की जठराग्नि इस जाति की होती है कि उसमें डाली गई वस्तु रस, रुधिर आदि रूप परिणत हो जाती है। ऐसा तत्व उसमें नहीं बचता है, जो व्यर्थ होने के कारण मल, मूत्र आदि रूप से निकाल दिया जाय।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जब जठराग्नि मन्द होती है तब मनुष्य के द्वारा गृहीत वस्तु से सार तत्व शरीर को नहीं प्राप्त होता है और प्रायः खाई गई सामग्री बाहर निकाल दी जाती है। इससे खूब खाते हुए भी व्यक्ति क्षीण होता जाता है। इसके ठीक विपरीत स्थिति उक्त महान पुरुषों की होती है। शरीर में प्राप्त समस्त सामग्री का रुधिरादि रूप में परिणमन हो जाता है।

श्वेत रक्त का रहस्य

भगवान के शरीर में श्वेत रूप धारण करने वाला रुधिर

होता है। इस विषय मे यह बात गंभीरता पूर्वक विचारणीय है कि अपने पुत्र के लिये स्नेह से क्षण भर मे माता के स्तन में दुग्ध आ जाता है। माता रुक्मणी ने प्रद्युम्न को देखा ही था कि उसके हृदय में नैसर्गिक स्नेह भाव उत्पन्न होने से स्तनों मे दुग्ध आ गया था। इस शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक व्यवस्था को ध्यान मे रखने से यह बात अनुमान करना सम्यक् प्रतीत होता है कि जिनेन्द्र भगवान् के रोम-रोम मे समस्त जीवों के प्रति सच्ची करुणा, दया तथा प्रेम के बीज परिपूर्ण है। तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते समय दर्शन-विशुद्धि भावना भाई गई थी। दूसरे शब्दो में उसका यह रहस्य है कि भगवान् ने विश्वप्रेम के वृक्ष का बीज बोया था, जो वृद्धि को प्राप्त हुआ है और केवलज्ञान काल मे अपने फल द्वारा समस्त जगत् को सुख तथा शांति प्रदान करेगा। एकेन्द्रिय वनस्पति तक प्रभु के विश्वप्रेम की भावना रूप जल से लाभ प्राप्त करेगी। इसी से केवलज्ञान की उल्लेखनीय महत्वपूर्ण बातो में कहा है, कि सौ योजन की पृथ्वी धान्यादि से हरी-भरी हो जाती है।

भगवान् का हृदय संपूर्ण जीवों को सुख देने के लिए जननी के तुल्य है। समतभद्र स्वामी ने भगवान् सुपार्श्वनाथ के स्तवन में उन्हें 'मातेव बालस्य हितानुशास्ता' बालक के लिए कल्याणकारी अनुशासनदात्री माता के समान होने कारण मातृ-तुल्य कहा है। प्राणी मात्र के दुःख दूर करने की भावना तथा उसके योग्य सामर्थ्य और साधन सामग्री समन्वित मातृचतस्क जिनेन्द्र के शरीर मे रुधिर का श्वेतवर्ण युक्त होना तीर्थंकर की उत्कृष्ट कारुणिक वृत्ति तथा महत्ता का परिचायक प्रतीत होता है।

शरीर सम्बन्धी विद्या में प्रवीण लोगों का कहना है, कि महान बुद्धिमान, सदाचारी, कुलीनतादि सपन्न व्यक्तियो के रक्त में रक्तवर्णीय परमाणु पुञ्ज के स्थान में धवलवर्णीय परमाणु पुंज (White Blood Corpuscles) विशेष पाए जाते है। आज

के असदाचार प्रचुर युग का शरीर-शास्त्रज्ञ वर्तमान युग के हीनाचरण मानवों के रक्त को शोधकर उपरोक्त विचारपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। यदि यह कथन सत्य है, तो तीर्थंकर भगवान के शरीर के रुधिर की धवलता को स्थूल रूप से समझने में सहायता प्राप्त होती है।

रक्त में विरक्तता

एक बात और है; भगवान आरम्भ से ही सभी लोगों के प्रति आसक्ति रहित हैं; अतएव विरक्त आत्मा का रक्त यदि वि रक्त अर्थात् विगत रक्तपना, लालिमा शून्यता संयुक्त हुआ, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। विरक्तों के आराध्य देव का देह सचमुच में वि रक्त परमाणुओं से ही निर्मित मानना पूर्ण संगत है। सरागी जगत् के लोगों का शरीर विषयों में अनुरक्त रहने से क्यों न रक्त वर्ण का होगा?

भगवान का रोम रोम विषयों से विरक्त था। इतना ही नहीं उनकी वाणी विरक्तता अर्थात् वीतरागता का सदा सिंहनाद करती थी। मौन स्थिति में उनके शरीर से ऐसे परमाणु बाहर जाते थे, जिससे उज्ज्वल ज्योति जागती थी, इसी अलौकिकता के कारण सौधर्मेन्द्र सदा प्रभु के चरणों का शरण ग्रहण करता था।

भगवान के हृदय में, विचार में, जीवन में जैसी विरक्तता थी, वैसी ही उनके रुधिर में विरक्तता थी। इन्द्र भी चाहता था कि प्रभु की अंतः बाह्य विद्यमान विरक्तता मुझे भी प्राप्त हो जाय। वैसे देवों के शरीर में भी विरक्त पना है, किन्तु आंतरिक विरक्तपना के बिना बाह्य विरक्तपना शव का शृंगार मात्र है। औदारिक शरीरधारी होकर अंतः बाह्य विरक्तपना के धारक तीर्थंकर ही होते हैं। सरागी शासन में इस विरक्तता की कल्पना नहीं हो सकती; यह बात तो वीतरागी शासन में ही बताई जा सकती है। वैभव-शून्य व्यक्ति वैभव के शिखर पर स्थित श्रेष्ठात्माओं की कल्पना भी नहीं कर सकता है।

भगवान मे प्रारम्भ से ही विरक्तता है, इसका आधार यह है, कि वे जब माता के गर्भ में आने के समय से लेकर आठ वर्ष की अवस्था के होते हैं, तब वे सत्पुरुषों के योग्य देशसयम को ग्रहण करते है । उत्तरपुराण में लिखा है—

स्वायुराद्यष्टवर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत् ।
उदिताष्टकषायाणां तीर्थेशां देशसंयमः ॥६—३५

सब तीर्थंकरों के अपनी आयु के आरंभ से आठ वर्ष के आगे से देशसयम होता है, कारण उनके प्रत्याख्यानावरण तथा सज्वलन कषायें उदयावस्था को प्राप्त हैं । यदि प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होता, तो वे *महाव्रती बन जाते ।*

ततोस्य भोगवस्तूनां साकल्येपि जितात्मनः ।
वृत्तिनियमितैकाभूदसंख्येयगुणनिर्जरा ॥६—३६॥

यद्यपि इन जिनेन्द्र देव के भोग्य वस्तुओं की परिपूर्णता थी, फिर भी वे जितेन्द्रिय थे । उनकी प्रवृत्ति नियमित रूप से ही होती थी, इससे उनके *असख्यातगुणी निर्जरा होती थी ।*

शुभ लक्षण

लोकोत्तर त्याग, तपस्या तथा पवित्र मनोवृत्ति के फल स्वरूप भगवान का शरीर सर्व सुलक्षण सपन्न था । सामुद्रिक शास्त्र में एक हजार आठ लक्षणों का सद्भाव श्रेष्ठ आत्मा को सूचित करता है । भगवान् के शरीर मे वे सभी चिन्ह थे । महापुराणकार कहते हैं—

अभिरामं वपुर्भर्तुः लक्षणैरभिरञ्जितैः ।
ज्योतिर्भिरिव संछन्नं गगनप्रांगणं बभौ ॥१५—४५॥

मनोहर तथा श्रेष्ठ लक्षणों से अलंकृत भगवान का शरीर ज्योतिषी देवों से व्याप्त आकाश रूपी प्रागण के समान प्रतीत होता था ।

उनके शरीर में शख, चक्र, गदादि १०८ चिन्ह (लक्षण) तथा तिल, मसूरिकादि नौसौ व्यंजन थे । आज के भोगप्रचुर युग में

लोकातिशायी पुण्यशाली नर रत्नों की उत्पत्ति न होने से श्रेष्ठ चिन्हों के दर्शन भी नहीं होते हैं। यदा कदा किन्हीं विशेष पुण्यशाली व्यक्तियों के कुछ थोड़े चिन्ह पाए जाते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से विविध महापुरुषों का जीवन चरित्र पढ़ा जाय तो यह ज्ञात होगा, कि एक हजार आठ लक्षणों से शोभायमान शरीर वाले तीर्थंकर जिनेन्द्रदेव के सिवाय अन्य व्यक्ति नहीं हैं।

तत्वार्थराजवार्तिक में आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है कि जिनवाणी के अंतर्भेद विद्यानुवाद नामक दशम पूर्व में शरीर के शुभ-अशुभ चिन्हों का वर्णन किया गया है। अष्टांगनिमित्त ज्ञान में अंतरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, छिन्न, व्यंजन तथा लक्षण सम्बन्धी विद्या का समावेश है। धवला टीका से विदित है कि इस निमित्त-विद्या में आचार्य धरसेन स्वामी प्रवीण थे। उनको "अट्ठंग-महाणि-मित्त-पारएणं" अष्टांग-निमित्त विद्या का पारगामी कहा है।

आजकल कुछ लोग प्रमाद एवं अहंकारवश व्यवस्थित रीति से जिनागम का अभ्यास न कर स्वयं एकाध अध्यात्मशास्त्र को कुछ देखकर अपने में लघु सर्वज्ञ की कल्पना करते हुए अन्य शास्त्रों के अभ्यास को निस्सार समझते हैं। अविवेक तथा अविचार पर स्थित ऐसी धारणा उस समय स्वयं धराशायी हो जाती है, जब मुमुक्षु यह देखता है कि महान आध्यात्मिक योगीजन भी लौकिक जीवन तथा बाह्य संसार से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रों में भी धरसेनाचार्य सदृश श्रेष्ठ आत्मा अवबोध प्राप्त करते रहे हैं। ज्ञान की विविध शाखाओं के सम्यक् अवबोध द्वारा मन में असत् विकल्प नहीं उठते हैं। एक ही वस्तु में मन थककर अन्यत्र उछलकूद मचाया करता है तथा राग, द्वेष, मोह रूप विकारी भावों को अपनाता है। आगमोक्त विविध ज्ञानराशि के परिचय द्वारा आत्मा के विकार नष्ट होते हैं, अहंकार दूर होता है, तथा शांति का रस प्राप्त होता है।

भ्रान्त कल्पना

कोई व्यक्ति यह सोचते है कि अध्यात्मशास्त्र पढने से ही कर्मो का क्षय होता है, अन्य ग्रथो के अभ्यास से बध होता है ।

यह कल्पना असम्यक् है । तिलोयपण्णत्ति मे लिखा है कि जिनागम के स्वाध्याय से "असखेज्ज-गुणसेडिकम्मणिज्जरण" असख्यात गुणश्रेणी रूप कर्मो की निर्जरा होती है । आत्म तत्व का निरूपण करने वाला *आत्मप्रवाद द्वादशाग वाणी के पुण्य भवन का* अत्यन्त मनोज्ञ, पावन तथा प्रमुख स्तभ है किन्तु उसके सिवाय अन्य सामग्री भी महत्वपूर्ण तथा हितकारी है । उस समस्त आगम-सिधु का नाम द्वादशागवाणी है । मानव शरीर मे नेत्र का महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु नेत्र ही समस्त शरीर नहीं है । अन्य अगो के सद्भाव द्वारा जैसे नेत्र को गौरव प्राप्त होता है, उसी प्रकार जिनागम के विविध अगो का सद्भाव भी गौरव सवर्धक है ।

कर्म तो अनात्म पदार्थ है । वह मोक्ष मार्ग मे कटक रूप है । अतएव कर्म सम्बन्धी साहित्य मुमुक्षु के जीवन मे कोई महत्व नही रखता । यह धारणा भ्रममूलक है । भेदविज्ञान ज्योति को प्राप्त करने के लिए जैसे स्व का ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार स्व से भिन्न पर का भी बोध उपयोगी है । कर्म सम्बन्धी द्वादशांगवाणी का अश जब *षट्खण्डागम सूत्र रूप मे* निवद्ध हुआ, तब विशाल जैन सघ ने महोत्सव मनाकर श्रुतपचमी पर्व की नींव डाली थी ।

इस चर्चा द्वारा यह वात स्थिर होती है कि समस्त द्वादशाग वाणी को महत्वपूर्ण स्वीकार करना कल्याणकारी है, चाहे वह समयसार हो, चाहे वह गोम्मटसार हो, अथवा शरीर के लक्षणो और व्यजनों का प्रतिपादक शास्त्र हो । वीतराग वाणी सर्वदा हितकारी है । है । सराग तथा अनाप्त व्यक्तियो का कथन प्रमाण कोटि को नही प्राप्त होता है । उसमे ससार परिभ्रमण नही छूट सकता । अध व्यक्ति दूसरे को किस प्रकार पथ प्रदर्शन करने में समर्थ हो सकता है ?

महत्व की बात

भगवान् तीर्थंकर परमदेव के शरीर में एक हजार आठ लक्षण पाए जाते हैं। ये उनमें ही पाए जाते हैं, दूसरों में नहीं पाये जाते, अतएव ये लक्षण भगवान् की विशेषता रूप हैं। इसी कारण प्रतीत होता है कि भगवान् के नामों के पूर्व में १००८ लिखने की प्रणाली प्रचलित है, जैसे संरंभ, समारंभ, आरंभ, मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना पूर्वक क्रोध, मान, माया तथा लोभ कषाय का त्याग करने से (३×३×३×४=१०८) निर्ग्रंथ दिगम्बर जैन मुनियों के नाम के पूर्व १०८ लिखने की पद्धति प्रचार में है।

अपूर्व आध्यात्मिक प्रभाव

तीर्थंकर भगवान् का बाल्य अवस्था में भी अद्भुत आध्यात्मिक प्रभाव देखा जाता है। वर्धमान चरित्र में लिखा है, कि चारण ऋद्धिधारी विजय तथा संजय नामक मुनीन्द्रों को किसी सूक्ष्म तत्व के विषय में शंका उत्पन्न हो गई थी। उनको महावीर भगवान् का दर्शन हो गया। तत्काल ही दर्शन मात्र से उनका संदेह दूर हो गया। उन मुनीन्द्रों को भगवान् की छवि का दर्शन महान् शास्त्र के स्वाध्याय का प्रतीक बन गया। यह घटना तीर्थंकरत्व की विशेषता को लक्ष्य में रखने पर आश्चर्यप्रद तो नहीं है, किन्तु इससे यह तत्व स्पष्ट होता है कि भगवान् के शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पुद्गल स्कन्धों में असाधारण विशेषता पाई जाती है। जिस शरीर के भीतर ऐसी आत्मा विद्यमान है, जिसके चरणों पर देव-देवेन्द्र मस्तक रखकर बारंबार प्रणाम करते हैं, जो शीघ्र ही दिव्यध्वनि द्वारा धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करेंगे, उनके आत्मतेज से प्रभावित पुद्गल भी ऐसी विशेषता दिखाता है, जैसी अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती। चारण मुनियों का संदेह-निवारण एक महान् ऐतिहासिक वस्तु बन गई, क्योंकि उक्त घटना के कारण उन्होंने भगवान् का नाम 'सन्मति' रखा था। असग-कवि के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं :—

तस्यापरेद्युरथचारणलब्धियुक्तौ ।
भर्तुयंतौ विजय-संजयनामधेयौ ।।
तद्वीक्षणात्सपदि निःसृतसंशयार्थौ ।
प्रातेनतुर्जगति सन्मतिरित्यभिख्यां ।।१६--६२।।वर्धमान चरित्र

तदनतर चारण, ऋद्धिधारी विजय तथा सजय नामक मुनीन्द्रो ने भगवान् का दर्शन होते ही शीघ्र सशय विमुक्त होने पर जगत् मे प्रसिद्ध 'सन्मति' नामकरण किया ।

तीर्थंकर के चिन्ह का हेतु

चौबीस तीर्थंकरो की मूर्तियो मे समान रूप से दिगम्बरपना तथा वीतराग वृत्ति पाई जाती है । श्रेष्ठ सौन्दर्य पूर्ण होने से उनकी समानता दृष्टिगोचर होती है, ऐसी स्थिति मे उनकी परस्पर मे भिन्नता का नियामक उनकी मूर्ति मे विशेष चिन्ह अकित किया जाता है, जैसे आदिनाथ भगवान् की मूर्ति मे वृषभ का चिन्ह पाया जाता है । इस सम्बन्ध मे तिलोयपण्णत्ति का यह कथन ज्ञातव्य है कि भगवान् के शरीर सम्बन्धी सुलक्षणो मे से प्रभु के दाहिने पैर के अँगुष्ठ मे जो चिन्ह पाया जाता है, वही लक्षण उन तीर्थंकर का चिन्ह बना दिया जाता है । कहा भी है :—

जम्मणकाले जस्स दु दाहिण-पायम्मि होई जो चिण्हं ।
त लक्खणपाउत्तं आगमसुत्तेसु जिणदेहं ।।

प्रभु की कुमारावस्था

महापुराणकार का कथन है कि बाल्यकाल मे भगवान् बाल चँद्रमा के समान प्रजा को आनद प्रदान करते थे । इसके पश्चात् किशोरावस्था ने उनके शरीर को समलकृत किया ।

बालावस्थामतीतस्य तस्याभूद् रुचिरं वपुः ।
कौमारं देवनाथानां अर्चितस्य महौजसः ।।१४—१७४।।

बाल्यकाल व्यतीत होने पर सुरेन्द्र-पूज्य तथा महा प्रतापी भगवान् का कुमार-कालीन शरीर बडा सुन्दर लगता था ।

उस समय उनका मनोहर शरीर, प्यारी बोली, मधुर निरीक्षण तथा मुस्कुराते हुए बोलना सभी संसार के प्रेम को प्राप्त कर रहे थे।

वपुः कान्तं प्रिया वाणी मधुरं तस्य वीक्षितम्।
जगतः प्रीतिमातेनुः सस्मितं च प्रजल्पितम् ॥१४--१७६॥

पूर्व जन्म की तपः साधना और पुण्य के तीव्र उदयवश प्रभु में अगणित गुणों का मानो परस्पर स्पर्धावश अद्भुत विकास हो रहा था। जिस प्रकार उनका शरीर अप्रतिम सौन्दर्य का केन्द्र था और जिसके समक्ष देव देवेन्द्र आदि की दीप्ति फीकी लगती थी, उन भगवान का हृदय भी उसी प्रकार सुन्दरता तथा पवित्रता-परिपूर्ण था। अंतःबाह्य सौन्दर्य से शोभायमान भगवान की समस्त बातें विश्व को अवर्णनीय आनन्द तथा आश्चर्य को उत्पन्न करती थीं।

विश्व-विद्या का ईश्वरत्व

उनके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के साथ 'भव-प्रत्यय' नामका अवधिज्ञान भी जन्म से था। इस कारण उन्होंने समस्त विद्याओं को अपने आप प्राप्त कर लिया था। आचार्य जिनसेनस्वामी कहते हैं----

विश्वविद्येश्वरस्यास्य विद्याः परिणताः स्वयम्।
ननु जन्मान्तराभ्यासः स्मृतिं पुष्णाति पुष्कलाम् ॥१४--१७६॥

भगवान समस्त विद्याओं के ईश्वर थे। इस कारण उनको सम्पूर्ण विद्याएँ स्वयमेव प्राप्त हो गई थीं। पूर्व जन्म का अभ्यास स्मरणशक्ति को अत्यन्त पोषण प्रदान करता है।

तीर्थंकर विश्व के गुरु हैं

जिन बाल जिनेन्द्र के दर्शन मात्र से महाज्ञानी चारणऋद्धि-धारी मुनीन्द्रों को गम्भीर ज्ञानलाभ हो, जो जन्म से मति, श्रुत, अवधिज्ञान समलंकृत हों, उन अलौकिक सामर्थ्य-सम्पन्न प्रभु को किसी गुरु के पास जाकर विद्याभ्यास करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

तस्थापरेद्युरथचारणलब्धियुक्तौ।
भर्तुर्यतो विजय-संजयनामधेयौ ॥
तद्वीक्षणात्सपदि निःसृतसंशयार्थौ।
आतेनतुर्जगति सन्मतिरित्यभिख्याँ ॥१६—६२॥वर्धमान चरित्र

तदनंतर चारण, ऋद्धिधारी विजय तथा सजय नामक मुनीन्द्रो ने भगवान् का दर्शन होते ही शीघ्र सशय विमुक्त होने पर जगत् मे प्रसिद्ध 'सन्मति' नामकरण किया।

तीर्थंकर के चिन्ह का हेतु

चौबीस तीर्थंकरो की मूर्तियो मे समान रूप से दिगम्बरपना तथा वीतराग वृत्ति पाई जाती है। श्रेष्ठ सौन्दर्य पूर्ण होने से उनकी समानता दृष्टिगोचर होती है, ऐसी स्थिति मे उनकी परस्पर में भिन्नता का नियामक उनकी मूर्ति मे विशेष चिन्ह अकित किया जाता है, जैसे आदिनाथ भगवान् की मूर्ति मे वृषभ का चिन्ह पाया जाता है। इस सम्बन्ध में तिलोयपण्णत्ति का यह कथन ज्ञातव्य है कि भगवान् के शरीर सम्बन्धी सुलक्षणो मे से प्रभु के दाहिने पैर के अँगुष्ठ मे जो चिन्ह पाया जाता है, वही लक्षण उन तीर्थंकर का चिन्ह बना दिया जाता है। कहा भी है :—

जम्मणकाले जस्स दु दाहिण-पायम्मि होई जो चिण्हं।
त लक्खणपाउत्त आगमसुत्तेसुजिणदेहं ॥

प्रभु की कुमारावस्था

महापुराणकार का कथन है कि बाल्यकाल मे भगवान् बाल चँद्रमा के समान प्रजा को आनद प्रदान करते थे। इसके पश्चात् किशोरावस्था ने उनके शरीर को समलकृत किया।

बालावस्थामतीतस्य तस्याभूद् रुचिरं वपुः।
कौमारं देवनाथानां अर्चितस्य महौजसः ॥१४—१७४॥

बाल्यकाल व्यतीत होने पर सुरेन्द्र-पूज्य तथा महा प्रतापी भगवान् का कुमार-कालीन शरीर बडा सुन्दर लगता था।

उस समय उनका मनोहर शरीर, प्यारी बोली, मधुर निरीक्षण तथा मुस्कुराते हुए बोलना सभी संसार के प्रेम को प्राप्त कर रहे थे।

> वपुः कान्तं प्रिया वाणी मधुरं तस्य वीक्षितम्।
> जगतः प्रीतिमातेनुः सस्मितं च प्रजल्पितम् ॥१४—१७६॥

पूर्व जन्म की तपः साधना और पुण्य के तीव्र उदयवश प्रभु में अगणित गुणों का मानो परस्पर स्पर्धावश अद्भुत विकास हो रहा था। जिस प्रकार उनका शरीर अप्रतिम सौन्दर्य का केन्द्र था और जिसके समक्ष देव देवेन्द्र आदि की दीप्ति फीकी लगती थी, उन भगवान का हृदय भी उसी प्रकार सुन्दरता तथा पवित्रता-परिपूर्ण था। अतःबाह्य सौन्दर्य से शोभायमान भगवान की समस्त बातें विश्व को अवर्णनीय आनन्द तथा आश्चर्य को उत्पन्न करती थीं।

विश्व-विद्या का ईश्वरत्व

उनके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के साथ 'भव-प्रत्यय' नामका अवधिज्ञान भी जन्म से था। इस कारण उन्होंने समस्त विद्याओं को अपने आप प्राप्त कर लिया था। आचार्य जिनसेनस्वामी कहते हैं—

> विश्वविद्येश्वरस्यास्य विद्याः परिणताः स्वयम्।
> ननु जन्मान्तराभ्यासः स्मृतिं पुष्णाति पुष्कलाम् ॥१४—१७६॥

भगवान समस्त विद्याओं के ईश्वर थे। इस कारण उनको सम्पूर्ण विद्याएँ स्वयमेव प्राप्त हो गई थीं। पूर्व जन्म का अभ्यास स्मरणशक्ति को अत्यन्त पोषण प्रदान करता है।

तीर्थंकर विश्व के गुरु हैं

जिन बाल जिनेन्द्र के दर्शन मात्र से महाज्ञानी चारणऋद्धि-धारी मुनीन्द्रों को गम्भीर ज्ञानलाभ हो, जो जन्म से मति, श्रुत, अवधिज्ञान समलंकृत हों, उन अलौकिक सामर्थ्य-सम्पन्न प्रभु को किसी गुरु के पास जाकर विद्याभ्यास करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

मयूर को सुन्दर नृत्य करने की शिक्षा कौन देता है ? हस को सुन्दरता पूर्वक गमन करने मे कौन शिक्षक बनता है ? पक्षियो को गगन गमन करने मे तथा मत्स्यादि को विपुल जलराशि मे विचरण करने की कला कौन सिखाता है ? निसर्ग सेही उनमे वे विशेषताएँ उद्भूत होती है । [1]इसलिए धर्मशर्माभ्युदय मे महाकवि हरिचद्र पूछते है कि नैसर्गिक ज्ञान के भण्डार उन जगद्गुरु को शिक्षित करने मे कौन गुरु हुआ ? कोई-कोई तीर्थंकर को साधारण श्रेणी का व्यक्ति समझ उनके पाठशाला मे अभ्यास की बात लिखते है । यह धारणा अयोग्य है । ऐसी विचारधारा वीतराग ऋषि-परम्परा के प्रतिकूल है । महापुराण के ये शब्द मनन योग्य है —

> वाङमय सकल तस्य प्रत्यक्ष वाक्प्रभोरभूत् ।
> येन विश्वस्य लोकस्य वाचस्पत्यादभूद् गुरुः ॥१४--१८१॥

वे भगवान सरस्वती के एकमात्र स्वामी थे इसलिए उन्हे समस्त वाङमय (शास्त्र) प्रत्यक्ष हो गए थे । इस कारण वे सम्पूर्ण विश्व के गुरु हो गए थे ।

> श्रुत निसर्गतोस्यासीत् प्रसूत. प्रशम. श्रुतात् ।
> ततो जगद्धितास्यासीत् चेष्टा सापालयत् प्रजा' ॥१८४॥

उन प्रभु के शास्त्र का ज्ञान स्वयमेव उत्पन्न हो गया था । शास्त्र ज्ञान के फलस्वरूप प्रशम भाव उत्पन्न हुआ था । इसमे उनकी चेष्टाएँ जगत् का हित करने वाली होती थी । उन चेष्टाओ द्वारा वे प्रजाजन का पालन करते थे ।

प्रभु की विशेषता

उन ऋषभनाथ तीर्थंकर के विषय मे महाकवि की यह सूक्ति हृदयहारिणी है —

---

१ क पण्डितो नाम शिखण्डमण्डने मराललीलागतिदीक्षिकोऽथवा ।
नैसर्गिकज्ञाननिधेर्जगद्गुरोर्गुरुश्च शिक्षासु बभूव तस्य क ॥९--१३॥

दीर्घदर्शी सुदीर्घायुः दीर्घबाहुश्च दीर्घदृक् ।
स दीर्घसूत्रो लोकानां अभजत् सूत्रधारताम् ।।१८८।।

वे दीर्घदर्शी थे अर्थात् दूर तक की बातें सोचते थे । उनकी आयु दीर्घ थी । उनकी भुजाएँ दीर्घ थीं । उनके नेत्र दीर्घ थे । वे स्थिरतापूर्वक विचार के उपरान्त कार्य करते थे, इससे दीर्घसूत्र थे । अतः वे तीनों लोकों की सूत्रधारता अर्थात् गुरुता को प्राप्त हुए थे । इस कथन से यह बात विदित होती है कि सुरेन्द्र समुदाय भी भगवान से मार्गदर्शन प्राप्त करता था । सौरभ समन्वित सुन्दर सुमन के समीप सभी सत्पुरुष रूप मधुकर स्वयमेव आया करते थे । प्रभु में गम्भीरता थी, साथ में अवस्था के अनुरूप परिहासप्रियता तथा विनोदशीलता भी उनमें थी । समस्त कलाओं और विद्याओं के आचार्य प्रभु के समीप आया करते थे । वे वैयाकरणों के साथ व्याकरण सम्बन्धी चर्चा करते थे, कभी कवियों के साथ काव्य विषय की वार्ता करते थे और कभी वादियों के साथ वादगोष्ठी करते थे ।

प्रभु का विनोद

विनोदवश कभी मयूरों का रूप धारण करने वाले नृत्य करते हुए देव-किंकरों को वे भगवान लय के अनुसार ताल देकर नृत्य कराते थे । यह वर्णन कितना मधुर है :—

कांश्चिच्च शुकरूपेण समालापितविक्रियान् ।
संपाठं पाठयंश्लोकान् अम्लिष्टमधुराक्षरम् ।।१९४।।

कभी विक्रिया शक्ति से तोते का रूप धारण करने वाले देवकुमारों को वे प्रभु स्पष्ट तथा मधुर अक्षरों से श्लोक पढ़ाते थे ।

हंसविक्रियया कांश्चित् कूजतो मन्दगद्गदम् ।
विसभंगैः स्वहस्तेन दत्तैः संभावयन्मुहुः ।।१९५।।

वे कभी-कभी हंस रूप विक्रिया कर धीरे-धीरे गद्गद् शब्द करने वाले देवों को अपने हाथ से मृणालखण्ड देकर सन्तुष्ट करते थे ।

इन्द्र महाराज सदा भगवान को आनन्दप्रद सामग्री पहुँचाने में हर्ष का अनुभव करते थे। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते'--बिना प्रयोजन के मन्दमति की भी प्रवृत्ति नही होती है, तब इन्द्र की जिनेन्द्रसेवा का भी कुछ रहस्य होना चाहिये ? समृद्धि के ईश्वर सुरेन्द्र के समीप अमर्यादित सुख की सामग्री रहती है। वह स्वाधीन है। किसी का सेवक नही है, फिर भी वह जिनेन्द्रदेव का किंकर बना हुआ प्रभु की सेवा में स्वयं स्वेच्छा से प्रवृत्त होता है तथा दूसरो को प्रवृत्त कराता है। इस सेवा का क्या लक्ष्य है ?

इन्द्र का मनोगत

महान् ज्ञानी इन्द्र इस तत्व को समझता है, कि पुण्यकर्म के क्षय होने पर वह एक क्षण भी स्वर्ग मे न रह सकेगा। सारा ऐश्वर्य तथा वैभव स्वप्न-साम्राज्य सदृश शून्यता को प्राप्त होगा। इन्द्र के पास सब कुछ है, किन्तु अविनाशी आनन्द नही है। उस आत्मानन्द की उपलब्धि के लिये ही वह जिननाथ की निरन्तर आराधना करता है, ताकि जिनभक्ति रूपी नौका के द्वारा वह ससार समुद्र के पार पहुँच जाय। भगवान् के समीप इन्द्र यह अनुभव ही नही करता है, कि वह असख्य देवो का स्वामी है, अपरिमित वैभव तथा समृद्धि का अधीश्वर है। वह तो सोचता है कि "मै जिनेन्द्र भगवान का सेवक नहीं, उनके दास का भी सेवक हूँ। मै जिनेन्द्र का दासानुदास हूँ।" भगवान के लिए भोगोपभोग की सामग्री सदा स्वर्ग से आती रहती थी। इन्द्र को तो ऐसा लगता था, मानो स्वर्ग में कुछ नही है, सबसे बडा स्वर्ग भगवान के चरणो के नीचे है। उन चरणो के समक्ष विनीत-वृत्ति द्वारा यह जीव इतना उच्च होता है कि उसके समान दूसरा नहीं होता।

महापुराणकार कहते है—

प्रतिदिनममरेन्द्रोपाहृतान् भोगसारान् ।
सुरभि-कुसुममाला-चित्रभूषाम्बरादीन् ॥

ललितसुरकुमारैरिंगितज्ञैर्वयस्यैः ।
सममुपहितरागः सोन्वभूत् पुण्यपाकात् ॥२११॥

वे भगवान पुण्यकर्म के उदय से प्रतिदिन इन्द्र के द्वारा भेजे हुए सुगन्धित पुष्पों की माला, अनेक प्रकार के वस्त्र तथा आभूषण आदि श्रेष्ठ भोगों का अपना अभिप्राय जानने वाले सुन्दर देव-कुमारों के साथ प्रसन्न होकर अनुभव करते थे ।

प्रभु का तारुण्य

धीरे धीरे भगवान ने यौवन अवस्था को प्राप्त किया । आचार्य कहते हैं :—

अथास्य यौवने पूर्णे वपुरासीन्मनोहरम् ।
प्रकृत्यैव शशी कान्तः किं पुनश्शारदागमे ॥१५-३१॥

यौवन अवस्था पूर्ण होने पर भगवान का शरीर बहुत ही मनोहर हो गया था । सो ठीक ही है, क्योंकि चन्द्रमा स्वभाव से ही सुन्दर होता है; यदि शरद्‌ऋतु का आगमन हो जावे तो फिर कहना ही क्या है ?

तदस्य रुरुचे गात्रं परमौदारिकाह्वयम् ।
महाभ्युदय-निःश्रेयसार्थानां मूलकारणम् ॥१५--३२॥

अतएव भगवान का परम औदारिक नाम का शरीर शोभायमान होता था । उनका वह शरीर महान् अभ्युदययुक्त मोक्ष पुरुषार्थ का मूल कारण था ।

भगवान की अनुपम सौन्दर्यपूर्ण छबि को अपनी पुण्य-कल्पना द्वारा निहारते हुए भूधरदास जी लिखते हैं :—

रहो दूर अंतर की महिमा बाहिज गुन वर्णत बल कांपै ।
एक हजार आठ लच्छन तन तेज कोटि रवि किरण न तापै ।
सुरपति सहस आंख अंजलि सों रूपामृत पीवत नहिं धापै ।
तुम बिन कौन समर्थ वीर जिन जगसों काढ़ मोक्ष में थापै ।

पंच बालयति तीर्थंकर

चौबीस तीर्थंकरो में वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पारसनाथ तथा महावीर भगवान ये पंच बालयति रूप से विख्यात हैं, क्योंकि ये बालब्रह्मचारी रहे हैं, शेष उन्नीस तीर्थंकरों ने पहले गृहस्थाश्रम स्वीकार किया था, पश्चात् काललब्धि प्राप्त होने पर उन्होंने साधु पदवी अंगीकार की थी।

महाराज नाभिराज का निवेदन

महाराज नाभिराज ने भगवान ऋषभदेव को विवाह योग्य देखकर कहा —

> हिरण्यगर्भस्त्वं धाता जगतां त्वं स्वभूरसि।
> निभमात्रं त्वदुत्पत्तौ पितृम्मन्या यतो वयम् ॥१५--५७॥

हे देव! आप कर्मभूमिरूपी जगत् की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा हैं। आप स्वभू हैं। आप स्वयमेव उत्पन्न हुए हैं। आपकी उत्पत्ति में हम लोग माता, पिता हैं, यह कथन निमित्त मात्र है।

> यथार्कस्य समुद्भूतौ निमित्तमुदयाचलः।
> स्वतस्तु भास्वानुद्याति तथैवास्मद्भवानपि ॥५८॥

जैसे सूर्य के उदय में उदयाचल निमित्तमात्र है। सूर्य तो स्वयं ही उदित होता है, इसी प्रकार आपकी उत्पत्ति में हम निमित्तमात्र हैं। आप स्वयं ही उत्पन्न हुए हैं।

पाणिग्रहण

इसके पश्चात् पिता ने प्रभु के पाणिग्रहण संस्कार का विचार उपस्थित किया। उन्होंने पिता की बात स्वीकार की। पिता ने यशस्वती तथा सुनन्दा नामकी राजकन्याओं के साथ उनका विवाहोत्सव किया।

भरत जन्म

योग्यकाल व्यतीत होने पर यशस्वती महादेवी ने चैत्रकृष्णा

नवमी के दिन जब मीन लग्न, ब्रह्मयोग, धन राशि का चन्द्रमा तथा उत्तराषाढ़ नक्षत्र था, उस समय ज्येष्ठ पुत्र भरत को उत्पन्न किया ।

> तन्नाम्ना भारतं वर्षमितिहासीज्जनास्पदम् ।
> हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम् ॥१५-१५६॥

इतिहास वेत्ताओं का कथन है कि हिमवान पर्वत से लेकर समुद्र पर्यन्त चक्रवर्तियों का क्षेत्र भरत के कारण भारतवर्ष नाम से विख्यात हुआ ।

भगवान द्वारा संस्कार कार्य

भगवान ने अपनी संतात को योग्य बनाने में पूर्ण सावधानी रखी थी । भरत के यज्ञोपवीत आदि संस्कार स्वयं भगवान ने किए थे । जिनसेन स्वामी लिखते हैं :—

> अन्नप्राशन-चौलोपनयनादीननुक्रमात् ।
> क्रियाविधीन् विधानज्ञः स्रष्टैवास्य निसृष्टवान् ॥१६४॥

क्रियाकांड के ज्ञाता (विधानज्ञ) भगवान ने भरत के अन्न-प्राशन अर्थात् पहली बार अन्नाहार कराना, चौल (मुंडन), उपनयन (यज्ञोपवीत) आदि संस्कार-क्रिया रूप विधि स्वयं की थी ।

भ्रम-शोधन

इस परमागम के कथन को ध्यान में रखकर उन लोगों को अपनी भ्रांत धारणा सुधारना चाहिए, जो यह एकान्त मत बना चुके हैं, कि यज्ञोपवीत आदि का जैन संस्कृति में कोई स्थान नहीं है । महापुराण कल्पित उपन्यास नहीं है, जिसमें लेखक ने अपने स्वतन्त्र विचारों के पोषणार्थ यथेच्छ मिश्रण कर दिया हो ।

प्रथमानुयोग क्या है ?

आज के स्वतन्त्र लेखक अपने विचारों को निर्भय हो आर्ष ग्रन्थों में मिला दिया करते हैं क्योंकि उन्हें जिनेन्द्र वाणी में

परिवर्तन करने के महापाप का पता नही है, ऐसी भूल सत्य महाव्रती महामुनि जिनसेन स्वामी सदृश वीतराग साधुराज कभी भी नही कर सकते क्योंकि उन्हे कुगति मे जाने का डर था। उनका महापुराण प्रथमानुयोग नामसे प्रख्यात परमागम मे अन्तर्भूत होता है। प्रथमानुयोग मे स्वकल्पित गप्पें नही रहती। वह सत्य प्रतिपादन से समलकृत रहता है। स्वामी समतभद्र ने प्रथमानुयोग के विषय मे लिखा है—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरित पुराणमपि पुण्यम्।
बोधि-समाधि-निधान, बोधति बोधः समीचीनः ॥४३॥

उत्तम ज्ञान-बोधि, समाधि के भण्डार रूप अर्थो का अर्थात् पुरुषार्थ चतुष्टय का प्रतिपादन करने वाले एक पुरुष की जीवनकथा रूप चरित्र तथा त्रेसठ शलाका पुरुषों की कथा रूप पुराण को, पुण्यदायी प्रथमानुयोग कहता है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने 'अर्थाख्यान' विशेषण पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि परमार्थ विषय का प्रतिपादन अर्थाख्यान है। उसका उल्लेख करने से कल्पित प्रतिपादन का निषेध हो जाता है। आचार्य की टीका के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। "तस्य (प्रथमानुयोगस्य) प्रकल्पितत्व-व्यवच्छेदार्थमर्थाख्यानमिति विशेषणं, अर्थस्य परमार्थस्य विषयस्याख्यान प्रतिपादन यत्र, येन वा त।"

जिनेन्द्र भगवान कथित आगम के अर्थ मे स्वेच्छानुसार परिवर्तन करने वाले व्यक्ति को तथा उसके कार्य मे अर्थादि के द्वारा सहायक बनने वालों को अपने अधकारमय भविष्य को नही भुलाना चाहिए। कम से कम मुमुक्षु वर्ग को विषय लोलुपी बुद्धिमानों के जाल से अपने को बचाना चाहिए। स्वतन्त्र चितन के क्षेत्र मे प्रत्येक विज्ञ व्यक्ति को विचार व्यक्त करने के विषय मे अधिकार है, किन्तु जब वह अन्य रचनाकार के मन्तव्य को विकृत कर स्वार्थ पोषण करता है तब वह अक्षम्य अपराध करता है।

इसलिये सत्पुरुष का कर्तव्य है कि आगम के साथ खिलवाड़ न करे। जब भगवान ऋषभदेव ने स्वयं अपने पुत्रों के यज्ञोपवीत आदि संस्कार किए थे तब उनको जैन संस्कृति की वस्तु न मानना क्या अनुचित नहीं है?

भरत बन्धु

भरत के पश्चात् उनके निन्यानवे भाई और हुए। वे सभी चरम-शरीरी और बड़े प्रतापी थे। भरत की बहिन का नाम ब्राह्मी था। सुनंदा महादेवी से प्रतापी पुत्र बाहुबली तथा सुन्दरी नामकी पुत्री का जन्म हुआ था।

बाहुबली

बाहुबली के नाम की अन्वर्थता पर महापुराणकार उस प्रकार लिखते हैं—

> बाहू तस्य महाबाहोः अधातां बलमूर्जितम्।
> यतो बाहुबलीत्यासीत् नामास्य महसां निधेः ॥१६--१७॥

उन तेजपुंज विशाल बाहु की दोनों भुजाएं उत्कृष्ट बल से परिपूर्ण थीं; इसलिये उनका बाहुबली नाम सार्थक था।

भगवान के सभी पुत्र पुण्यशाली थे। उनकी भुजायें घुटनों तक लम्बी थीं और वे व्यायाम के कारण कठोर थीं। "व्यायाम कर्कशौ बाहू पीनावाजानुलंबिनौ" (४६) सब राजकुमारों में भरत सूर्य तुल्य, बाहुबली चन्द्र समान तथा अन्य राजकुमार नक्षत्र मंडल सदृश शोभायमान होते थे। ब्राह्मी दीप्ति के समान और सुन्दरी चांदनी के समान प्रतीत होती थी। उनके मध्य भगवान किस प्रकार शोभायमान होते थे, इसे महाकवि इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

> स तैः परिवृतः पुत्रैः भगवान् वृषभो-वभौ।
> ज्योतिर्गणैः परिक्षिप्तो यथा मेरु महोदयः ॥१६--७१॥

जिस प्रकार महान उन्नत मेरु पर्वत ज्योतिषी देवों से घिरा हुआ शोभायमान होता है, उसी प्रकार वृषभदेव भगवान् अपने पुत्रादि से घिरे हुए सुशोभित होते थे ।

आदिनाथ प्रभु का शिक्षा प्रेम

भगवान् ने ब्राह्मी और सुन्दरी को विद्या प्राप्ति के योग्य देखकर कहा .—

> **इदं वपुर्वयश्चेदं इदं शील-मनीदृशम् ।**
> **विद्यया चेद्विभूष्येत सफलं जन्मवामिदम् ।।९७।।**

पुत्रियों ! तुम दोनो का यह शरीर, यह अवस्था तथा तुम्हारा अपूर्व शील यदि विद्या द्वारा अलकृत किया जाय, तो तुम दोनों का जन्म सफल हो जायगा ।

> **विद्यावान्पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविदैः ।**
> **नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम् ।।९८।।**

इस लोक में विद्यावान् पुरुष विद्वानों द्वारा सन्मान को प्राप्त करता है तथा विद्यावती नारी महिला समाज मे प्रमुखता को प्राप्त करती है ।

> **तद् विद्याग्रहणे यत्नं पुत्रिके कुरुतं युवाम् ।**
> **तत्संग्रहण-कालोयं युवयोर्वर्ततेधुना ।।१०२।।**

अतएव हे पुत्रियो, तुम दोनो विद्या प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो । तुम दोनों के विद्या ग्रहण करने के योग्य यह काल है ।

> **इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके ।**
> **अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवी सपर्यया ।।१०३।।**
> **विभु. करद्वयेनाभ्या लिखन्नक्षरमालिका ।**
> **उपादिशल्लिपिं संख्यास्थान चाङ्कैरनुक्रमात् ।।१०४।।**

यह कहकर भगवान् ने उन दोनो को अनेक बार आशीर्वाद दिया । उन्होंने अपने अंत.करण मे विद्यमान श्रुतदेवता की पूजा की । भगवान् ने अपने एक हाथ से अक्षर मालिका और दूसरे से संख्या रूप अको को लिखकर ज्ञान कराया ।

भगवान् ने पुत्रियों के समान भरतादि पुत्रों को भी शिक्षा दी। उन्होंने अपने पुत्रों की रुचि तथा योग्यता आदि को लक्ष्य में रख कर भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा दी थी। उन्होंने भरत को अर्थशास्त्र में निपुण बनाया था (भरतायार्थशास्त्रं च), वृषभसेन को (जो आगे जाकर भगवान् के समवशरण में मुख्य गणधर पदवी के धारक हुए) गीत-वाद्यादि की शिक्षा दी थी। बाहुबली कुमार को आयुर्वेद, धनुर्वेद, अश्व, गजादि के तंत्र, रत्नपरीक्षा, सामुद्रिक शास्त्र आदि में निपुण बनाया था।

सार की बात

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रं लोकोपकारि यत्।
तत्सर्वमादिकर्तासौ स्वाः समन्वशिषत प्रजाः ॥१२५॥

इस सम्बन्ध में अधिक कहने से क्या प्रयोजन है; भगवान् आदिनाथ ने जो-जो लोक-कल्याणकारी शास्त्र थे, वे सब अपने पुत्रों को सिखाए थे।

भगवान् ने जिस शैली का आश्रय ले अपनी संतति को स्वयं शिक्षा दी उसके अनुसार शिक्षा की व्यवस्था कल्याणप्रद होगी। शिक्षार्थी के नैसर्गिक झुकाव एवं सामर्थ्य का विचार किए बिना सबको एक ही ढंग पर शिक्षित करने का प्रयास इष्ट फलप्रद नहीं हो सकता। भगवान् ने लोकोपकारी शास्त्रों की शिक्षा दी थी। जो शास्त्र पाप प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दे पतन के पथ में पुरुषों को पहुँचाते हैं, वे लोकोपकारी न होकर लोकापकारी हो जाते हैं। वर्तमान युग में जीव वध तथा पापाचार के पोषण हेतु जो शिक्षा की व्यवस्था है, वह जिनेन्द्र की विचार पद्धति के प्रतिकूल है।

भगवान् ने ब्राम्ही और सुन्दरी नामकी कन्याओं की शिक्षा को प्राथमिकता देकर यह भाव दर्शाया कि पुरुष वर्ग का कर्तव्य है कि वह कन्याओं को ज्ञानवती बनाने में विशेष उत्साह धारण करे। उनके शिक्षित बनने पर समाज का अधिक हित होता है।

प्रजा की प्रार्थना

भगवान् ऋषभदेव के समय मे भोग–भूमि की समाप्ति एव कर्म-भूमि की नवीन व्यवस्था प्रचलित हुई थी। एक दिन प्रजाजन भगवान् के शरण मे आकर इस प्रकार निवेदन करने लगे "भगवान्! अब कल्पवृक्ष तो नष्ट हो गए इसलिए हम किस प्रकार क्षुधादि की वेदना को दूर करे ?" उन्होंने कहा था —

> वांछन्त्यो जीविकां देव त्वां वय शरणं श्रिता.।
> तन्न स्त्रायस्व लोकेश तदुपायप्रदर्शनात् ॥१३६॥

हे देव ! हम लोग आजीविका प्राप्ति की इच्छा से आपके शरण मे आए है, अत हे लोकेश ! जीविका का उपाय बताकर हम लोगो की रक्षा कीजिए।

प्रजापति ने क्या किया ?

उस समय भगवान् के हृदय मे दया का भाव उत्पन्न हुआ। वे अपने मन मे इस प्रकार विचार करने लगे —

> पूर्वापर-विदेहेषु या स्थिति. समवस्थिता।
> साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमू: प्रजा: ॥१४३॥
> षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः।
> यथा ग्राम-गृहादीना सस्त्यायश्च पृथग्विधाः ॥१४४॥
> तथा त्रात्प्युचिता वृत्तिः उपायैरेभिरङ्गिनाम्।
> नोपायान्तरमस्त्येषां प्राणिनां जीविका प्रति ।१४५॥
> कर्मभूरद्य जातेय व्यतीतौ कल्पभूरुहाम्।
> ततोऽत्र कर्मभिः षड्भिः प्रजानां जीविकोचिता ॥१४६–पर्व १६
> महापुराण

पूर्व तथा पश्चिम विदेह क्षेत्र में जो स्थिति इस समय विद्यमान है, वही पद्धति यहाँ प्रवृत्त करने योग्य है। उससे यह प्रजा जीवित रह सकती है। वहाँ जिस प्रकार असि, कृषि आदि छह कर्म हैं, क्षत्रिय आदि वर्ण की तथा आश्रम की व्यवस्था है, ग्राम,

घर आदि की पृथक्-पृथक् रचना हैं, उसी प्रकार की व्यवस्था यहाँ भी होना चाहिए। इन्हीं उपायों से प्राणियों की आजीविका चल सकती है और अन्य उपाय नहीं है। कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने से अब कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हुआ है; इसलिये कृषि आदि षट्-कर्मों के द्वारा अपनी जीविका करना उचित है।

जिनमन्दिर का निर्माण

इस प्रकार विचार करने के उपरांत भगवान् ने प्रजा को आश्वासन दिया, कि तुम भयभीत मत होओ। इसके पश्चात् भगवान् के द्वारा स्मरण किए जाने पर देवों के साथ इन्द्र ने वहाँ आकर प्रजा की जीविका के लिए उचित कार्य किया। *सर्व प्रथम इन्द्र ने योग्य समय, नक्षत्र, लग्न आदि के संयोग होने पर अयोध्या पुरी के मध्य में जिन मन्दिर की रचना की; पश्चात् चारों दिशाओं में भी जिनमंदिरों की रचना की। तदनन्तर ग्राम, नगरादि की रचना संपन्न की। उन ग्रामादि में प्रजा को बसाकर भगवान् की आज्ञा लेकर इन्द्र स्वर्ग चला गया। भगवान् ने प्रजा को छह कर्मों द्वारा आजीविका करने का उपदेश दिया था।

षट् कर्म

असिर्मषिः कृषिविद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवः ॥१७९॥
तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान् मतिकौशलात्।
उपादिक्षत् सरागो हि स तदासीज्जगद्गुरुः ॥१८०॥

असि (शस्त्रकर्म), मषि (लेखन कर्म), कृषि, विद्या अर्थात् शास्त्र के द्वारा उपजीविका करना (विद्या शास्त्रोपजीवने),

---

*शुभे दिने सुनक्षत्रे सुमुहूर्त–शुभोदये।
स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषुच्चै आनुकूल्ये जगद्गुरोः ॥१४९॥
कृतप्रथम–मांगल्ये सुरेन्द्रो जिनमंदिरम्।
न्यवेशयत्पुरस्यास्य मध्ये दिक्ष्वप्यनुक्रमात ॥१५०, पर्व १६॥

वाणिज्य (व्यापार) तथा शिल्प (शिल्प स्यात्करकौशलम्) हस्त की कुशलता से जीविका करना ये छह कार्य प्रजा के जीवन के हेतु हैं।

भगवान् ने अपनी बुद्धि की कुशलता से प्रजा को उनके द्वारा वृत्ति अर्थात् आजीविका करने का उपदेश दिया, क्योंकि उस समय भगवान् सरागी थे।

वर्ण-व्यवस्था

उत्पादिता स्त्रयो वर्णाः तदा तेनादिवेधसा।
क्षत्रियाः वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः ॥१८३॥

उस समय उन आदि ब्रह्मा भगवान् ने तीन वर्ण उत्पन्न किए, जो क्षत-त्राण अर्थात् विपत्ति से रक्षण करना, कृषि, पशुपालन, तथा सेवादि गुणों के कारण क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कहलाए।*

यावती जगतो वृत्तिः अपापोपहता च या।
सा सर्वास्य मतेनासीत् स हि धाता सनातनः ॥१८८॥

उस समय जगत् में जितने पाप रहित आजीविका के उपाय थे, वे सब वृषभदेव भगवान् की सम्मति से प्रवृत्त हुए थे, क्योंकि वे ही सनातन ब्रह्मा है। भगवान् ने कृतयुग-कर्मभूमि का प्रारम्भ किया था।

कर्मभूमि का आरम्भ

आषाढमासबहुल-प्रतिपद्दिवसे कृती।
कृत्वा कृतयुगारंभं प्राजापत्यमुपेयिवान् ॥१६२॥

*उत्तरपुराण में आचार्य गुणभद्र ने जातिमूढता का दोषोद्भावन करते हुए लिखा है कि शुक्लध्यान के लिये उच्चगोत्र, जाति-वर्ण आदि की भी आवश्यकता है। यह विशेषता त्रिवर्ण में है। शूद्र वर्ण में यह नहीं पाई जाती। आगम के श्रद्धालुओं का ध्यान स्वामी गुणभद्र के इस पद्य की ओर जाना चाहिए —

जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतव ।
येषु ते स्युस्त्रयो वर्णा. शेषा शूद्रा प्रकीर्तिता ॥७४–४६३॥

उन भगवान् ने आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा के दिन कृतयुग का आरम्भ करके 'प्रजापति' संज्ञा को प्राप्त किया था ।

वर्ण-व्यवस्था आगमोक्त है

इस वर्णन से यह बात स्पष्ट होती है, कि जिस विदेह क्षेत्र में सदा तीर्थंकरों का सानिध्य प्राप्त होता है, तथा उनके द्वारा जीवों को मार्ग दर्शन प्राप्त होता है, वहाँ वर्णाश्रम-व्यवस्था है । इस भरत क्षेत्र में भगवान् आदि ब्रम्हा ऋषभदेव ने जो वर्ण व्यवस्था का उपदेश दिया था, वह उन्होंने अपनी कल्पना द्वारा नहीं रचा था, बल्कि उन्होंने विदेह *क्षेत्र की व्यवस्था (जहाँ नित्य कर्मभूमि है) के अनुसार भरतक्षेत्र की भी व्यवस्था का उपदेश दिया, क्योंकि यहाँ भी कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हो गया था ।

कोई कोई यह सोचते हैं, कि जैनधर्म में वर्णाश्रम व्यवस्था का अभाव है । वह तो ब्राह्मण धर्म की नकल या प्रभाव मात्र है । यह कथन महापुराण रूप आगम ग्रंथ के वर्णन के प्रकाश में अयथार्थ प्रमाणित होता है । आगम के आधार को प्रमाणिक मानने वाला मुमुक्षु तो यह सोचेगा, कि अन्य परम्परा में पाई जाने वाली व्यवस्था जैन परम्परा से ली गई है और उस पर उन्होंने अपनी पौराणिक, अवैज्ञानिक पद्धति की छाप लगा ली है । यह वर्ण-व्यवस्था भगवज्जिन-सेन स्वामी की निजी मान्यता है, और उन्होंने उसे आगम का रूप दे दिया है ।

ऐसा कथन अत्यन्त अनुचित तथा अशोभन है । जिनसेन स्वामी सदृश सत्य महाव्रती श्रेष्ठ आत्मा के विषय में ऐसा आरोप जघन्यतम कार्य है । उन पर ऐसा प्रतारणा का दोष लगाना महा पाप है । आजकल वर्णाश्रम-व्यवस्था की पुण्य पद्धति के मूल पर कुठाराघात

*पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता ।
साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः ।।१६-१४३, महापुराण।।

होने से प्रजा की जीविका की समस्या उलझकर जटिलतम बनती जा रही है । इसके कारण ही सबका ध्यान आत्मा के स्थान में पेट की रोटी की ओर मुख्यता से जाया करता है । तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्रतिपादित पद्धति के विरुद्ध जितनी प्रवृत्ति बढेगी, उतनी ही अशाति तथा दु ख की भी वृद्धि हुए बिना न रहेगी ।

राज्याभिषेक

जब भगवान् के द्वारा व्यवस्था प्राप्त कर प्रजा सुख से रहने लगी, तब बडे वैभव के साथ भगवान् का अयोध्यापुरी मे राज्याभिषेक हुआ था । उस राज्याभिषेक के लिये गगा और सिंधु महानदियो का वह जल लाया गया था, जो हिमवत् पर्वत की शिखर पर से धारा रूप मे नीचे गिर रहा था तथा जिसका भूतल से स्पर्श नही हुआ था । पद्म, महापद्मआदि सरोवरो का जल, नदीश्वर द्वीप सबधी नदोत्तरा आदि वापिकाओ, क्षीर समुद्र, नदीश्वर समुद्र, स्वयभुरमण समुद्र आदि का भी जल उस राज्याभिषेक के लिए लाया गया था ।

पहले सुवर्ण निर्मित कलशो द्वारा इन्द्र ने राज्याभिषेक किया । इसके अनन्तर नाभिराज आदि अनेक राजाओ ने 'अय राजसिंह· राजवत्'—राजाओ मे श्रेष्ठ ये वृषभदेव राज्य पद के योग्य है ऐसा मानकर उनका एक साथ अभिषेक किया था ।

जनता द्वारा चरणों का अभिषेक

नागरिको ने भी उनके चरणो का अभिषेक किया था । किन्ही ने कमल पत्र के बने हुए दोने मे और किसी ने मृत्तिका पात्र में सरयू का जल लेकर चरणाभिषेक किया था । पहले तीर्थ जल से अभिषेक हुआ था, पश्चात् कषाय जल से और अन्त मे सुगधित जल द्वारा अभिषेक सम्पन्न हुआ था । इसके अनंतर कुछ कुछ गरम जल से भरे हुए सुवर्ण के कुण्ड में प्रवेश कर उन प्रजापति प्रभुने सुखकारी स्नानका अनुभव किया था ।

नीराजना

अभिषेक के पश्चात् भगवान की नीराजना (आरती) की गई। भगवान आभूषण, वस्त्र आदि से अलंकृत किए गए थे।

नाभिराजः स्वहस्तेन मौलिमारोपयत्प्रभोः।
महामुकुटबद्धानामधिराड् भगवानिति ॥२३२॥

भगवान् 'महामुकुटबद्धानां अधिराट्'—महामुकुटबद्ध राजाओं के शिरोमणि हैं, इससे महाराज नाभिराज ने अपने हाथ से प्रभु के मस्तक पर अपना मुकुट लगाया।

शासन-पद्धति

भगवान् ने राज्य पदवी स्वीकार करने के बाद प्रजा के कल्याण निमित्त उनकी आजीविका के हेतु नियम बनाए। उन्होंने प्रत्येक वर्ण को अपने योग्य कर्त्तव्य पालन का आदेश दिया था।

स्वामिमां वृत्तिमुत्क्रम्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाचरेत्।
स पार्थिवैर्नियन्तव्यो वर्णसंकीर्णिरन्यथा ॥१६-२४८॥

उस समय भगवान ने यह नियम प्रचलित किया था, कि जो वर्ण अपनी निश्चित आजीविका का परित्याग कर अन्य वर्ण की आजीविका को स्वीकार करेगा, वह दण्ड का पात्र होगा क्योंकि इससे वर्ण संकरता उत्पन्न होगी। महापुराणकार कहते हैं कि भगवान ने कर्मभूमि के अनुरूप दण्ड की व्यवस्था की थी, जिससे दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का परिपालन होता था।

दण्ड नीति

दण्ड के विषय में उनका सिद्धांत था :—

दण्डभीत्या हि लोकोऽयमपथं नानुधावति।
युक्तदण्डधरस्तस्मात् पार्थिवः पृथिवीं जयेत् ॥१६-२५३॥

दण्ड के भय से लोग कुमार्ग में नहीं जाते इसलिए उचित दण्ड धारक नरेन्द्र पृथ्वी को जीतता है। यह तीर्थंकर आदि जिनेन्द्र की नीति थी।

होने से प्रजा की जीविका की समस्या उलझकर जटिलतम बनती जा रही है। इसके कारण ही सबका ध्यान आत्मा के स्थान में पेट की रोटी की ओर मुख्यता से जाया करता है। तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्रतिपादित पद्धति के विरुद्ध जितनी प्रवृत्ति बढ़ेगी, उतनी ही अशांति तथा दुःख की भी वृद्धि हुए बिना न रहेगी।

राज्याभिषेक

जब भगवान् के द्वारा व्यवस्था प्राप्त कर प्रजा सुख से रहने लगी, तब बड़े वैभव के साथ भगवान् का अयोध्यापुरी मे राज्याभिषेक हुआ था। उस राज्याभिषेक के लिये गंगा और सिंधु महानदियो का वह जल लाया गया था, जो हिमवत् पर्वत की शिखर पर से धारा रूप मे नीचे गिर रहा था तथा जिसका भूतल से स्पर्श नही हुआ था। पद्म, महापद्मआदि सरोवरो का जल, नदीश्वर द्वीप सबधी नदोत्तरा आदि वापिकाओ, क्षीर समुद्र, नदीश्वर समुद्र, स्वयभुरमण समुद्र आदि का भी जल उस राज्याभिषेक के लिए लाया गया था।

पहले सुवर्ण निर्मित कलशो द्वारा इन्द्र ने राज्याभिषेक किया। इसके अनन्तर नाभिराज आदि अनेक राजाओ ने 'अय राजसिंह राजवत्'—राजाओ मे श्रेष्ठ ये वृषभदेव राज्य पद के योग्य हैं ऐसा मानकर उनका एक साथ अभिषेक किया था।

जनता द्वारा चरणों का अभिषेक

नागरिको ने भी उनके चरणो का अभिषेक किया था। किन्ही ने कमल पत्र के बने हुए दोने से और किसी ने मृत्तिका पात्र मे सरयू का जल लेकर चरणाभिषेक किया था। पहले तीर्थ जल से अभिषेक हुआ था, पश्चात् कषाय जल से और अन्त मे सुगंधित जल द्वारा अभिषेक सम्पन्न हुआ था। इसके अनंतर कुछ कुछ गरम जल से भरे हुए सुवर्ण के कुण्ड में प्रवेश कर उन प्रजापति प्रभु ने सुखकारी स्नानका अनुभव किया था।

नीराजना

अभिषेक के पश्चात् भगवान की नीराजना (आरती) की गई। भगवान आभूषण, वस्त्र आदि से अलंकृत किए गए थे।

> नाभिराजः स्वहस्तेन मौलिमारोपयत्प्रभोः।
> महामुकुटबद्धानामधिराड् भगवानिति ।।२३२।।

भगवान् 'महामुकुटबद्धानां अधिराट्'—महामुकुटबद्ध राजाओं के शिरोमणि हैं, इससे महाराज नाभिराज ने अपने हाथ से प्रभु के मस्तक पर अपना मुकुट लगाया।

शासन-पद्धति

भगवान् ने राज्य पदवी स्वीकार करने के बाद प्रजा के कल्याण निमित्त उनकी आजीविका के हेतु नियम बनाए। उन्होंने प्रत्येक वर्ण को अपने योग्य कर्त्तव्य पालन का आदेश दिया था।

> स्वामिमां वृत्तिमुत्क्रम्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाचरेत्।
> स पार्थिवैर्नियन्तव्यो वर्णसंकीर्णिरन्यथा ।।१६–२४८।।

उस समय भगवान ने यह नियम प्रचलित किया था, कि जो वर्ण अपनी निश्चित आजीविका का परित्याग कर अन्य वर्ण की आजीविका को स्वीकार करेगा, वह दण्ड का पात्र होगा क्योंकि इससे वर्ण संकरता उत्पन्न होगी। महापुराणकार कहते हैं कि भगवान ने कर्मभूमि के अनुरूप दण्ड की व्यवस्था की थी, जिससे दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का परिपालन होता था।

दण्ड नीति

दण्ड के विषय में उनका सिद्धांत था :—

> दण्डभीत्या हि लोकोऽयमपथं नानुधावति।
> युक्तदंडधरस्तस्मात् पार्थिवः पृथिवीं जयेत् ।।१६–२५३।।

दण्ड के भय से लोग कुमार्ग में नहीं जाते इसलिए उचित दण्ड धारक नरेन्द्र पृथ्वी को जीतता है। यह तीर्थंकर आदि जिनेन्द्र की नीति थी।

त्व को न भवति स्वजनः ।
त्व कस्य न बन्धुः स्वजनो वा ॥
आत्मा भवेत् आत्मा ।
एकाकी ज्ञायकः शुद्धः ॥४७॥

आत्मन् ! तेरा कोई कुटुम्बी नही है, तू किसीका बन्धु या कुटुम्बी नही है । तू आत्मा ही है तू अकेला है, ज्ञायक स्वभाव है, निर्मल है ।

इन्द्र की चिन्ता

भगवान का हृदय करुणापूर्ण था । इसमे पीडित प्रजा का करुणाक्रदन सुनकर वे उनके निवारण तथा सांत्वना प्रदानमे लग गए थे । इस मार्ग से अविनाशी मोक्ष पद की प्राप्ति नही होती । ससार मे विविध देव, देवताओं को देखने पर पता चलता है, कि उनमे से कुछ जीवों के प्रति ममता, राग तथा मोह मे फस गए और कुछ क्रोधादि के वशीभूत हो गए । राग-द्वेष की ओर न झुककर वीतराग भाव पूर्ण मनोवृत्ति जिनदेव की विशेषता है । इस वृत्ति के द्वारा ही मोह का नाश होता है ।

गृहस्थाश्रम मे वीतराग वृत्ति की उपलब्धि असम्भव है, यह बात भगवान के समक्ष उपस्थित करने की योग्यता किसमे है ? इन्द्र ने अनेक बार इस विषय मे सोचा कि भगवान अनुपम सामर्थ्यधारी तीर्थंकर होते हुए भी प्रत्याख्यानावरण कषाय के तीव्रोदयवश परम शान्ति तथा कल्याण प्रदाता सकल सग-परित्याग की ओर ध्यान नही दे रहे हैं । भगवान से ऐसा निवेदन करना कि आप राज्य का त्यागकर तपोवन को जाइये, विवेकी इन्द्र को योग्य नही जचता था । जगत् के गुरु तथा परमपिता उन प्रभुसे कुछ कहना उनके गुरु बनने की अज्ञ चेष्टा सदृश बात होगी ।

संकेत द्वारा सुझाव

गम्भीर विचार के उपरान्त सौधर्मेन्द्र ने सकेत (Symbol)

द्वारा भगवान के समीप अपना सुझाव उपस्थित करना उपयुक्त सोच-कर प्रभु के समक्ष नीलांजना अप्सरा के सुन्दर नृत्य की योजना की। नीलांजना का जीवन कुछ क्षण शेष रहा था।

प्रभु की प्रबुद्धता

नृत्य करते करते उस अप्सरा नीलांजना को प्रत्यक्ष में मृत्यु के मुख में जाते हुए देखकर भगवान की आत्मा प्रबुद्ध हो गई। अवधिज्ञान के प्रयोग द्वारा उन्हें समस्त रहस्य ज्ञात हो गया। वे गंभीर हो वैराग्य के विचारों में निमग्न हो गए। रागवर्धक सामग्री राज-सभा का मन मुग्ध कर रही थी, किन्तु भगवान तपोवन की ओर जाने की सोचने लगे। अब उनके जीवन प्रभात में वैराग्य रूप प्रभाकर के उदय की वेला समीप आ गई। उनकी दृष्टि विशेष रूप से ज्योतिर्मय आत्मदेव की ओर केन्द्रित हो गई।

तप-कल्याणक

नीलांजना के जीवन के माध्यम द्वारा भगवान के मन में अलौकिक वैराग्य ज्योति जग गई। वैराग्य-सूर्य के उदय होने से मोह की अंधियारी दूर हो गई। महापुराणकार के शब्दों में आदिनाथ भगवान विचार करते हैं:—

नारीरूपमयं यन्त्रमिदमत्यन्तपेलवम्।
पश्यतामेव नः साक्षात् कथमेतत् अगाल्लयम् ॥३६॥

देखो! यह नारीरूप अत्यन्त मनोहर यन्त्र सदृश नीलांजना का शरीर हमारे साक्षात् देखते-देखते किस प्रकार क्षय को प्राप्त हो गया?

रमणीयमिदं मत्वा स्त्रीरूपं बहिरुज्ज्वलम्।
पतन्तस्तत्र नश्यंति पतंग इव कामुकाः ॥३७॥

बाहर से उज्ज्वल दिखने वाले स्त्री के रूप को अत्यन्त मनोहर मानकर कामीजन उस पर आसक्त होकर प्रकाश पर पड़ने वाले पतंगे सदृश नष्ट होते हैं।

कूटनाटकमेतत्तु प्रयुक्तममरेशिना।
नूनमस्मत्प्रबोधाय स्मृतिमाधाय धीमता ॥१७ पर्व, ३८॥

इन्द्र ने जो यह नीलांजना का नृत्य रूप कृत्रिम नाटक कराया था, यथार्थ में बुद्धिमान अमरेन्द्र ने गम्भीर विचार पूर्वक हमारे प्रबोध हेतु ही ऐसा किया है।

काल लब्धि का महत्व

काल लब्धि समीप आने पर साधारण वस्तु भी महान् प्रबोध तो प्रदान करती है। किन्हीं की यह धारणा है कि काल द्रव्य तो पर तत्व है। उसकी अनुकूलता या प्रतिकूलता कोई महत्व नहीं धारण करती है। यह धारणा आगम तथा अनुभव के विरुद्ध है। कालद्रव्य

के द्वारा ही कार्य होता है, ऐसा एकान्त पक्ष अनेकान्त शासन को अमान्य है किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावरूप सामग्री चतुष्टय का भी महत्व है।

यदि कृषक खेत में बीज वपन करते समय द्रव्य, क्षेत्र, कालादि का उचित ध्यान रखता है, तो उसे इष्ट धान्य प्रचुर प्रमाण में परिपाक के पश्चात् प्राप्त होता है; किन्तु यदि उसने द्रव्यादि चटुष्टय की उपेक्षा की, तो अन्त में उसकी मनोकामना पूर्ण नहीं होगी। स्वाति नक्षत्र के उदयकाल में यदि मेघ की बिन्दु सीप के भीतर प्रवेश करती है, तो उस जल का मुक्तारूप में परिणमन होता है। इस कालिक अनुकूलता के अभाव में सीप में गया हुआ जल मोती के रूप को नहीं धारण करता है।

भूत नैगमनय की अपेक्षा दीपावली के दिन यह कहा जाता है—"अद्य दीपोत्सवदिने श्रीवर्धमानस्वामी मोक्षं गतः" (आलाप-पद्धति पृष्ठ १६६) आज दीपोत्सव के दिन ही वर्धमान स्वामी मोक्ष गए हैं। उस दीपावली के दिन जो वीरनिर्वाण के विषय में कालिक समानता के कारण चित्त में निर्मलता तथा प्रसन्नता की उपलब्धि होती है, वह प्रत्येक श्रावक के अनुभवगोचर है। दीपावली के दिन यदि पावापुरी क्षेत्र में वर्धमान भगवान की निर्वाण पूजा का सुयोग लाभ मिलता है, तो गृहस्थ अपने को विशेष भाग्यशाली अनुभव करता है।

मरीचि का उदाहरण

महावीर भगवान के जीव भरतेश्वर के पुत्र मरीचिकुमार ने अपने पितामह ऋषभनाथ भगवान के साथ मुनिमुद्रा धारण की थी, किन्तु काललब्धि न मिलने से वह जीव किंचित् न्यून कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण नाना योनियों में भ्रमण करता रहा। काललब्धि आने पर वही जीव तीर्थंकर महावीर स्वामी के पद को प्राप्त कर

चतुर्थकाल को समाप्त होने के तीन वर्ष साढे आठ माह शेष रहने पर मुक्ति-रमा का स्वामी बन गया । काललब्धि भी अद्भुत है ।

सिंह का भाग्य

सिह पर्यायधारी जीव हरिण-भक्षण मे उद्यत था । उसे अजितजय तथा अमितगुण नाम के चारणमुनियुगल का उपदेश सुनने का सुयोग मिला । काललब्धि की निकटता आ जाने से उस सिह को धर्मोपदेश प्रिय लगा । उत्तरपुराण मे गुणभद्र स्वामी उस मृगेन्द्र के विषय मे लिखते है—

> **तत्वश्रद्धानमासाद्य सद्यः कालादिलब्धितः ।**
> **प्रणिधाय मनः श्रावकव्रतानि समाददे ।।७४—२०८।।**

कालादि की लब्धि मिल जाने से उस सिह ने तत्वश्रद्धान अर्थात् सम्यक्त्व को प्राप्त कर श्रावक के व्रतों को चित्तपूर्वक स्वीकार किया । आचार्य की उस मृगपति के विषय मे यह उक्ति अत्यन्त मार्मिक है —

> **स्थिररौद्ररसः सद्य. स शम समधारयत् ।**
> **सच्छैलूषसमो मोह-क्षयोपशमभावतः ।।७४—२१०।।**

मोहनीय का क्षयोपशम होने से स्थिरता को प्राप्त रौद्ररस-धारी उस सिह ने कुशल अभिनेता के समान तत्काल शान्त रस को धारण किया, अर्थात् सदा रौद्र परिणाम वाला सिह अब प्रशान्त परणति वाला बन गया ।

काललब्धि आदि के सुयोग समन्वित उस सिह ने जन्मत मांसाहारी होते हुए भी मांस का परित्याग कर परम कारुणिकता अङ्गीकार की । गुणभद्राचार्य भविष्य मे सिह के चिन्ह वाले वर्धमान-भगवान बनने वाले उस मृगपति के विषय मे लिखते है —

> **व्रत नैतस्य सामान्यं निराहारं यतो विना ।**
> **क्रव्यादन्योस्य नाहारः साहसं किमतः परम् ।।७४—२११।।**

उस सिंह ने समस्त आहार त्याग के सिवाय अन्य साधारण नियम नहीं लिया था, क्योंकि मांस के सिवाय उसका अन्य प्रकार का आहार नहीं था। इससे बड़ा साहस और क्या हो सकता है?

सिंह की शिक्षा

आज मांसाहार में प्रवृत्त होने वाला तथा अपने को सभ्य और सुसंस्कृत मानने वाला मनुष्य की मुद्राधारी प्राणी गम्भीरता पूर्वक इस मांसत्यागी मृगपति के जीवन को देखकर क्या कुछ प्रकाश प्राप्त करेगा?

इस सत्य दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट होती है कि जीवन में काललब्धि का कितना महत्वपूर्ण स्थान है। जो योग्य कालादि सामग्री को प्राप्त कर प्रमादी बनते हैं, उनको जीवन-प्रदीप बुझने के बाद पाप के फल से नरक में जाकर पश्चात्ताप करने तथा वर्णनातीत दुःख भोगने के सिवाय और कुछ नहीं मिलता है। तीर्थंकर पदवी के स्वामी होते हुए भी परिग्रह का त्याग कर आत्मशांति के लिए तपोवन की ओर प्रस्थान करने वाली श्रेष्ठ आत्माओं को देखकर मोही जीव को अपने लिए शिक्षा लेनी चाहिये।

वैराग्य-ज्योति

धर्मशर्माभ्युदय में भोगों से विरक्त धर्मनाथ जिनेन्द्र के उज्ज्वल भावों का इस प्रकार चित्रण किया गया है :—

बालं वर्षीयांसमाढ्यं दरिद्रं धीरं भीरुं सज्जनं दुर्जनं च।
अश्नात्येकः कृष्णवर्त्मेव कक्षं सर्वग्रासी निर्विवेकः कृतान्तः ॥२०—२

विवेक शून्य यमराज बालक को, वृद्ध को, धनी को, निर्धन को, धीर को, भीरु को, सज्जन को, दुर्जन को भक्षण करता है। इसी से उसे सर्वग्रासी अर्थात् सब को ग्रास बनानेवाला कहते हैं। जैसे अग्नि समस्त जङ्गल को जला डालती है, इसी प्रकार यमराज भी सबको स्वाहा कर देता है।

वैराग्य की ज्योति प्रदीप्त होने पर तीर्थंकर शीतलनाथ भगवान के मनोभावों को गुणभद्रस्वामी इस प्रकार प्रकाशित करते हैं —

विषयैरेव चेत्सौख्यं तेषां पर्यन्तगोऽस्म्यहम् ।
ततः कुतो न मे तृप्तिः मिथ्या वैषयिकं सुखम् ॥६—४१॥

इन्द्रियों के प्रिय भोग सामग्री मे यदि आनन्द प्राप्त होता है, तो मुझे सीमातीत विषय-सामग्री उपलब्ध हुई है, तब भी मुझे तृप्ति क्यों नही प्राप्त होती है ? अतः तत्व की बात यही है कि भोग-सामग्री पर निर्भर सुख अयथार्थ है ।

औदासीन्यं सुखं तच्च सति मोहे कुतस्ततः ।
मोहारिमेव निर्मूलं विलय प्रापये द्रुतम् ॥६—४२॥

सच्चा सुख राग-द्वेष रहित उदासीन परणति मे है । वह सुख मोह के होते हुए कैसे प्राप्त होगा ? इससे मै शीघ्र ही मोह रूपी शत्रु को जड मूल से नष्ट करूँगा । मोह ही असली शत्रु है, क्योंकि उसके कारण आत्मा सत्य तत्व को प्राप्त करने से वंचित हो जाता है ।

अपूर्व बात

आचार्य कहते है —

अहमन्यदिति द्वाभ्यां शब्दाभ्यां सत्यमर्पितम् ।
तथापि कोप्ययं मोहादाग्रहो विग्रहादिषु ॥८—४२ उत्तरपुराण॥

'अहं' अर्थात् मै 'अन्यत्' अर्थात् पृथक् हूँ—इन दो शब्दो में सत्य विद्यमान है, किन्तु मोहवश जीव की शरीरादि के विषय मे ममता उत्पन्न होती है । अर्थात् मोह के कारण 'अह अन्यत्' मै पुद्गल से अलग हू इस सत्य तत्व का विस्मरण हो जाता है ।

उज्ज्वल निश्चय

अतएव भगवान् अपने मन मे यह निश्चय करते हैं ।

छेत्तु मूलात्मकर्मपाशानशेषान्सद्यस्तीक्ष्णैस्तद्यतिष्ये तपोभिः ।
को वा कारागाररुद्धं प्रबुद्धः शुद्धात्मानं वीक्ष्य कुर्यादुपेक्षां ॥२०—२३॥
धर्मशर्माभ्युदय

अब मैं तीक्ष्ण तपस्या के द्वारा शीघ्र ही कर्म-बंधनों को मूल से काटने के लिए उद्योग करूँगा। ऐसा कौन व्यक्ति है जो मोह निद्रा दूर होने से जागकर अपनी निर्मल आत्मा को कर्मों के जेलखाने में पराधीन देखकर उपेक्षा या प्रमाद करेगा? विष मिश्रित मधुर लगने वाले भोजन को कोई व्यक्ति अजानकारी वश तब तक खाता है, जब तक उसे यह सत्य अवगत नहीं होता कि इस भोजन में प्राण घातक पदार्थ मिले हुए हैं। रहस्य का ज्ञान होते ही वह तत्काल उस आहार को छोड़ देता है। इसके सिवाय वह उस उपाय का आश्रय लेता है, जिससे खाया गया विष निर्विषता को प्राप्त हो जाय। ऐसी ही स्थिति अब भगवान् की हो गई।

अपने जीवन के अनमोल क्षणों का अपव्यय उनको अब बहुत व्यथित कर रहा है। मन वारंवार पश्चात्ताप करता है। अब उनकी आत्मा सच्चे वैराग्य के प्रकाश से समलंकृत हो गई। जो अयोध्यावासी उनकी ममता के केन्द्र थे, जो परिवार उनके स्नेह तथा ममत्व का मुख्य स्थल था, मनोवृत्ति में परिवर्तन होने से सभी कुछ आत्म विकास में प्रबल विघ्न दिखने लगे।

अब उनको बाह्य कुटुम्ब के स्थान में आत्मा के सच्चे बंधुओं की इस प्रकार याद आ गई कि क्षमा, मार्दव, सत्य, शील, संयम आदि ही मेरे सच्चे बंधु हैं, कुटुम्बी हैं, अन्य बंधु तो बंध के मूल हैं, कुगति में पतन कराने वाले हैं। अब मैं पुनः मायाजाल में नहीं फसूँगा। अब मेरी मोह निद्रा दूर हो गई। नीलांजना के निमित्त ने उनके नेत्रों के लिए नील अंजन का काम किया। इस अंजन के द्वारा उन्हें सच्चे स्व और पर का पूर्ण विवेक हो गया। वैसे सम्यक्त्व के अधिपति होने से वे स्वानुभूति के स्वामी थे, किन्तु अंतर्मुख बनने में चारित्र मोह उपद्रव करता था। अब प्रबल और सजीव वैराग्य ने उनके अंतर्चक्षु खोल दिए।

दृष्टि परिवर्तन

मोह निद्रा दूर होने से वे भली प्रकार जाग चुके । अब उन्हे कर्मचोर नही लूट सकते है । जगने के पूर्व वे भगवान् पिता के रूप मे भरत, बाहुबली, ब्राम्ही, सुदरी को देखते रहे । पितामह के रूप मरीचि आदि पौत्रो पर दृष्टि रखते थे । अयोध्या की जनता को प्रजापति होने से आत्मीय भाव देखते थे । अब उनकी सपूर्ण दृष्टि बदल गई । एक चैतन्य आत्मा के सिवाय सर्व पदार्थ पर रूप प्रतिभासमान हो गए । मोतिया बिन्दु वाले के नेत्र मे जाला आने से वह अध सदृश हो जाता है । जाला दूर होते ही प्रकाश प्राप्त होता है । अपना पराया पदार्थ स्पष्ट दिखने लगता है । ऐसा ही यहाँ हुआ ।

नीलाजना को अवलम्बन बनाकर सुधी सुरराज ने भगवान् के नेत्रो को स्वच्छ करने मे बड़ी चतुरतासे काम लिया । भगवान् के जन्म होने पर उस इद्र ने आनन्दित हो सहस्रनेत्र बनाए थे । आज भी सुरराज मोहजाल दूर होने से आध्यात्मिक सौन्दर्य समन्वित विरक्त आदिनाथ प्रभु की अपने ज्ञान नेत्रो द्वारा नीराजना करते हुए-आरती उतारते हुए अपूर्व शान्ति तथा प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है । इसका कारण यह है कि इन्द्र महाराज की जिनेन्द्र मे जो भक्ति थी, वह मोहान्धकार से मलिन नही थी । वह सम्यक्त्व रूप चितामणि रत्न के प्रकाश से दैदीप्यमान थी ।

लौकांतिकों द्वारा समर्थन

अब तक विरक्त तथा विषयो मे अनासक्त रहने वाले देवर्षि रूप से माने जाने वाले लौकान्तिक देव अपने स्थान से ही जिनेन्द्र को प्रणाम करते थे । सुदर्शन मेरु के शिखर पर सारे विश्व को चकित करने वाले जिनेन्द्र भगवान का जन्माभिषेक हुआ । वहाँ चारों निकाय के देव विद्यमान थे, केवल इन विरक्त देवर्षियो का वहाँ अभाव था । ये वैराग्य के प्रेमी कोकिल सदृश थे, जिन्हे अपना मधुर

गीत प्रारम्भ करने के लिए वैराग्यपूर्ण वसन्त ऋतु ही चाहिये थी, जिससे सब कष्टों का सदा के लिए अन्त हो जाता है। योग्य वेला देखकर ये देवर्षि भगवान के समीप आए।

प्रभु को प्रणाम कर कहने लगे "भगवन्! आपने मोह के जाल से छूटने का जो पवित्र निश्चय किया है, वह आप जैसी उच्च आत्मा की प्रतिष्ठा के पूर्णतया अनुरूप है। अब तो धर्मतीर्थ-प्रवर्तन का योग्य समय आ गया है"—"वर्तते कालो धर्मतीर्थ-प्रवर्तने"। हरिवंशपुराण का यह पद्य बड़ा मार्मिक है :—

> चतुर्गति-महादुर्गे दिङ्मूढस्य प्रभो दृढं।
> मार्गं दर्शय लोकस्य मोक्षस्थानप्रवेशकं ॥९—६९॥

हे नाथ! चारोंगतिरूप महाटवी में दिशाओं का परिज्ञान न होने से भटकते हुए जीवों को मुक्ति पुरी में पहुँचने का सुनिश्चित मार्ग बताइये।

> विश्रामन्त्वमुना गत्वा संतस्त्वद्दर्शिताध्वना।
> ध्वस्तजन्मश्रमा नित्यं सौख्ये त्रैलोक्यमूर्धनि ॥९—७०॥

प्रभो! अब आपके द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर सत्पुरुष जन्मश्रम शून्य होकर त्रिलोक के शिखर पर, जहाँ अविनाशी आनन्द है, पहुँचकर विश्राम करेंगे। वैराग्य की अनुमोदना के उपरान्त वे स्वर्ग चले गए।

अभिषेक की अपूर्वता

इसके अन्तर चारों निकायके देव आए। उन्होंने क्षीर सरोवर के जल से भगवान का अभिषेक किया। जन्मकल्याणक के समय निर्मल शरीर वाले बाल-जिनेन्द्र के शरीर का महाभिषेक हुआ। आज वैराग्य को प्राप्त मोक्षपुरी को जाकर अपने आत्म-साम्राज्य को प्राप्त करने को उद्यत प्रभु के अभिषेक में भिन्न प्रकार की मनोवृत्ति है। आज तो ऐसा प्रतीत होता है कि बाह्य शरीर के अभिषेक के बहाने ये सुरराज अन्तःकरण में जागृत ज्ञान ज्योति से समलंकृत आत्म

देव का अभिषेक कर रहे है । यह अभिषेक बालरूप धारी तीर्थंकर का नही है । यह तो सिद्धिवधू को वरण करने के लिए उद्यत प्रबुद्ध, पूर्ण विरक्त जिनेन्द्र के शरीर का अतिम अभिषेक है । इसके पश्चात् इन वीतरागी जिनेन्द्र का अभिषेक नही होगा । आगे ये सदा चिन्मयी विज्ञान गगा मे डुबकी लगाकर आत्मा को निर्मल बनावेगे । अब तो भेदविज्ञान-भास्कर उदित हो गया है । उसके प्रकाश मे ये शरीर से भिन्न चैतन्य ज्योति देखकर उसे विशुद्ध बनाने के पवित्र विचारों में निमग्न है ।

दीक्षा-पालकी

आत्मप्रकाश से सुशोभित जिनराज ने मार्मिक वाणी द्वारा सब परिवार को तथा प्रजा को सात्वना देते हुए अत बाह्य नग्नमुद्रा धारण करने का निश्चय किया । वीतराग प्रभु अब सुदर्शना पालकी पर विराजमान हो गए । भूमिगोचरी राजाओ ने प्रभु की पालकी सात पैड तक अपने कन्धो पर रखी । विद्याधरो ने भी सप्त पद प्रमाण प्रभु की पालकी को वहन किया । इसके पश्चात् देवताओ ने प्रभु की पालकी कन्धो पर रखकर आकाश मार्ग द्वारा शीघ्र ही दीक्षावन को प्राप्त किया । यह सिद्धार्थ नामक दीक्षावन अयोध्या के निकट ही था। भगवान का सारा परिवार प्रभु की विरक्ति से व्यथित हो साश्रु नयन था । उसे देख ऐसा लगता था, मानो मोह शत्रु के विजयार्थ उद्योग मे तत्पर भगवान को देखकर मोह की सेना ही रो रही हो । चारो ओर वैराग्य का सिधु उद्वेलित हो रहा था ।

भ्रम-निवारण

कोई कोई सोचते है, भगवान के प्रस्थान के पावन प्रसग पर प्रभु की पालकी उठाने के प्रकरण को लेकर मनुष्यो तथा देवताओ में झगडा हो गया था ।

यह कल्पना अत्यन्त असंगत, अमनोज्ञ तथा अनुचित है। उस प्रसंग की गंभीरता को ध्यान में रखने पर एक प्रकार से सारशून्य ही नहीं; अपवादपूर्ण भी प्रतीत हुए बिना न रहेगी। जहाँ विवेकी सौधर्मेन्द्र के नेतृत्व में सर्व कार्य सम्यक् रीति से संचालित हो रहे हों, चक्रवर्ती भरत सदृश प्रतापी नरेन्द्र प्रजा के अनुशासन प्रदाता हों और जहाँ भगवान के वैराग्य के कारण प्रत्येक का ममता पूर्ण हृदय विशिष्ट विचारों में निमग्न हो, वहाँ झगड़ा उत्पन्न होने की कल्पना तक अमंगल रूप है। सभी लोग विवेकी थे, अतएव संपूर्ण कार्य व्यवस्थित पद्धति से चल रहा था। सौधर्मेन्द्र तो एक सौ सत्तर कर्म-भूमियों में एक सौ सत्तर तक तीर्थंकरों के कल्याणकों के कार्य संपादन करने में सिद्धहस्त तथा अनुभवप्राप्त है। अतः स्वप्न में भी क्षोभ की कल्पना नहीं की जा सकती।

तपोवन में पहुँचना

भगवान् सिद्धार्थ वन में पहुँचकर पालकी से नीचे उतरे। हरिवंशपुराण में लिखा है :—

> अवतीर्णः स सिद्धार्थी शिविकायाः स्वयं यथा।
> देवलोकशिरस्थाया दिवः सर्वार्थसिद्धितः ॥६--६३॥

सिद्ध बनने की कामना वाले सिद्धार्थी भगवान ऋषभदेव देवलोक के शिर पर स्थित पालकी पर से स्वयं उतरे, जैसे वे सर्वार्थ-सिद्धि स्वर्ग से अवतीर्ण हुए थे। अब मुमुक्षु भगवान मोहज्वर से मुक्त होकर आत्म स्वास्थ्य प्राप्ति के हेतु स्वस्थता संपादक तपोवन के ही वातावरण में रहकर क्रमशः रोगमुक्त हो अविनाशी स्वास्थ्य को शीघ्र प्राप्त करेंगे। उन्होंने देख लिया कि सच्चा स्व तथा पर का कल्याण अपने जीवन को आदर्श (दर्पण) के समान आदर्श बनाना है। मलिन दर्पण जब तक मलरहित नहीं बनता है, तब तक वह पदार्थों का प्रति-बिम्ब ग्रहण करने में असमर्थ रहता है, इसी प्रकार मोहमलिन मानव का मन त्रिभुवन के पदार्थों को अपने में प्रतिबिंबित कराने में अक्षम रहता है।

भगवान के विचार

भगवान ने यह तत्व हृदयगम किया, कि आत्मा की कालिमा को धोकर उसे निर्मल बनाने के लिए समाधि अर्थात् आत्मध्यान की आवश्यक्ता है । जनाकीर्ण जगत् के मध्य मे रहने से व्यग्रता होती है, भावो मे चचलता आती है तथा चचल मन अत्यन्त सामर्थ्यहीन होता है, अतएव चित्त वृत्ति को स्थिर बनाकर मोह को ध्वस करने के लिए ही ये प्रभु आवश्यक कार्य सपादन मे सलग्न है ।

तीर्थंकर भगवान के कार्य श्रेष्ठ रहे है, अतएव तपस्या के क्षेत्र म भी इनकी अत्यन्त समुज्ज्वल स्थिति रहती है । वैराग्य से परिपूर्ण इनका मन आत्मा की ओर पूर्ण उन्मुख है । अब वह अधिक बहिर्मुखता को आत्महित के लिए बाधक सोच रहा है ।

प्रजा को उपदेश

अपने समीप मे स्थित प्रजा को प्रभु ने कहा 'शोक त्यजत भो प्रजा '—अरे प्रजाजन ! तुम शोक भाव का परित्याग करो । हमने तुम्हारी रक्षा के हेतु भरत को राजा का पद दिया है, 'राजा वो रक्षणे दक्ष स्थापितो भरतो मया' । तुम भरतराज की सेवा करना । भगवान ने सर्वतोभद्र नरेन्द्र भवन परित्याग करते समय एकबार पहले बधु वर्ग से पूछ लिया था, फिर भी उन जगत् पिता ने सर्व इष्ट जनो को धैर्य देते हुए पुन: अनुज्ञा प्राप्त की । यह उनकी महानता थी ।

दीक्षा विधि

उस वन मे देवो ने चन्द्रकातमणि की शिला पहिले ही रख दी थी । इन्द्राणी ने अपने हाथो से रत्नो को चूर्णकर उस शिला पर चौका बनाया । उस पर चन्दन के मागलिक छीटे दिए गए थे । उस शिलाके समीप ही अनेक मगल द्रव्य रखे थे । भगवान उस शिला पर विराजमान हो गए । आसपास देव, मनुष्य, विद्याधरादि उपस्थित थे ।

परिग्रह-त्याग तथा केशलोच

भगवान ने यवनिका (पर्दा) के भीतर वस्त्र, आभूषणादि का परित्याग किया। उस त्याग में आत्मा, देवता तथा सिद्ध भगवान ये तीन साक्षी थे। महापुराण में लिखा है :—

तत् सर्वं विमुरत्याक्षीत् निर्व्यपेक्षं त्रिसाक्षिकम् ॥१७—१९९॥

भगवान ने अपेक्षा रहित होकर त्रिसाक्षीपूर्वक समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया। अनन्तर भगवान ने पूर्व की ओर मुख करके पद्मासन हो सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार किया और पंचमुष्टि केशलोच किया। पंचअंगुली निर्मित मुष्टि के द्वारा संपादित केशलोच करते हुए वे पंचमगति को प्रस्थान करने को उद्यत परम पुरुष द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भावरूप पञ्चकाल-परावर्तनों का मूलोच्छेद करते हुए प्रतीत होते थे।

महामौन व्रत

अब ये प्रभु सचमुच में महामुनि, महामौनी, महाध्यानी, महादम, महाक्षम, महाशील, महायज्ञवाले तथा महामखयुक्त बन गए :—

महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महादमः।
महाक्षमः महाशीलो महायज्ञो महामखः॥

इन महामुनि प्रभु का मौन अलौकिक है। इनका मौन अब केवलज्ञान की उपलब्धि पर्यन्त रहेगा। इनकी दृष्टि बहिर्जगत् से अंतर्जगत् की ओर पहुँच चुकी है इसलिए राग उत्पन्न करने की असाधारण परिस्थिति आने पर भी इन्होंने वीतराग वृत्ति को निष्कलंक रखा। इनके चरणानुरागी चार हजार राजाओं ने इनका अनुकरण कर दिगम्बर मुद्रा धारण की थी। परीषहों को सहने में असमर्थ हो वे भ्रष्ट होने लगे। और भी विशिष्ट परिस्थितियाँ समक्ष आई। दुर्बल मनोवृत्ति वाला ऐसे प्रसंगों पर मोह के चक्कर

में फसे बिना न रहता, और कुछ न कुछ अवश्य कहता, किन्तु ये वीतराग जिनेन्द्र महामौनी ही रहे आए।

यदि भगवानने मौनव्रत न लिया होता और उनका उपदेश प्राप्त होता, तो उनके साथ में दीक्षित चार सहस्र राजाओ को प्रभु द्वारा उद्बोधन प्राप्त होता तथा उनका स्थितीकरण होता। उन प्रभु को छह माह से अधिक काल पर्यन्त आहार की प्राप्ति नही हुई, क्योकि लोगो को मुनियो को आहार देने की पद्धति का परिज्ञान न था। यदि भगवान् का मौन न होता, तो चतुर व्यक्ति को प्रभु के द्वारा श्रावको के कर्तव्य का स्वरूप सहज ही अवगत हो सकता था।

मौन का रहस्य

कोई व्यक्ति पूछ सकता है कि मौन लेने मे क्या लाभ है ? प्रकृति के द्वारा प्राप्त सभाषण की सामग्री का लाभ न लेना अनुचित है।

इस शका का समाधान महान योगी पूज्यपाद महर्षि की इस उक्ति से हो जाता है —

> जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्च चित्त-विभ्रमाः।
> भवति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ।। समाधिशतक ७२।।

लोक संपर्क होने पर वचनो की प्रवृत्ति होती है। इस वचन प्रवृत्ति के कारण मानसिक विकल्प उत्पन्न होते है। उससे चित्त में विभ्रम पैदा होता है, अतएव योगी जन-संसर्ग का परित्याग करे।

मन को जीतना अत्यन्त कठिन कार्य है। तनिक भी चचलता का कारण प्राप्त होते ही मन राग-द्वेष के हिंडोले में झूलना प्रारम्भ कर देता है, अतएव जिन महान् आत्माओ ने योग विद्या का अतस्तत्त्व समझ लिया है, वे मौन को बहुत महत्व देते हैं। मौन के आश्रय से चित्त की चंचलता को न्यून करने में सहायता प्राप्त होती

है। आत्मा की प्रसुप्त लोकोत्तर शक्तियां जागृत होती हैं। मोक्षपुरी के पथिक की प्रवृत्ति संसार वन में भटकने वाले प्राणी की अपेक्षा पूर्णतया पृथक् होती है।

तीर्थंकर भगवान ने जीवन में सदा श्रेष्ठ कार्य ही संपन्न किए हैं। तप के क्षेत्र में भी पदार्पण करने पर उनकी संयम-साधना सर्वोपरि रही है, अतएव केवलज्ञान की उपलब्धि पर्यन्त उन्होंने श्रेष्ठ मौन व्रत स्वीकार किया।

विशेष कारण

उनके श्रेष्ठ मौन का एक विशेष रहस्य यह भी प्रतीत होता है, कि अब वे मुख्यता से अंतः निरीक्षण तथा आत्मानंद में निमग्न रहने लगे। अब वे विशुद्ध तत्व का दर्शन कर रहे हैं। जब तक भगवान् ने मुनि पदवी नहीं ली थी, तब तक उनको महान् ज्ञानी माना जाता था। थे भी वे महान् ज्ञानी। जन्म से अवधिज्ञान की विमल दृष्टि उनको प्राप्त हुई थी; दीक्षा लेने के उपरान्त वे प्रभु मनःपर्ययज्ञान के अधिपति हो जाते हैं। उनके क्षायोपशमिक ज्ञान चतुष्टय अपूर्व विकास को प्राप्त हो रहे हैं, किन्तु वे आत्म-निरीक्षण द्वारा स्वयं को ज्ञानावरण, दर्शनावरण के जाल में फंसा हुआ देखते हैं। इसीलिए दीक्षा लेने के बाद जब तक साधना का परिपाक कैवल्य ज्योति के रूप में नहीं होता है, तब तक भगवान् को 'छद्मस्थ' शब्द से (आगम में) कहा गया है। अपरिपूर्ण ज्ञान की स्थिति में परिपूर्ण तत्व का प्रकाशन कैसे संभव होगा? ऐसी स्थिति में मौन का शरण स्वीकार करना उचित तथा श्रेयस्कार है।

इस प्रसंग में तत्वदर्शी परम योगी पूज्यपाद मुनीन्द्र का यह कथन बहुत मार्मिक है :—

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥

मै नेत्रो के द्वारा जिस रूप का (शरीर का) दर्शन करता हूँ, वह तो पूर्णतया ज्ञान रहित है । ज्ञानवान आत्मा मे रूपादि का असद्भाव है । उसका दर्शन नही होता है, ऐसी स्थिति मे किसके साथ बातचीत की जाय ?

आचार्य का भाव सूक्ष्म तथा गभीर है । मै तो ज्ञानमय चैतन्य ज्योति हूँ । दूसरे व्यक्ति के शरीर मे विद्यमान ज्ञानमय आत्मा का दर्शन नही होता । दर्शन होता है रूपवान देह का, जो ज्ञान रहित है । अत. ज्ञानवान आत्मा ज्ञान रहित शरीर मे किस प्रकार वार्तालाप करे ? इस विचार द्वारा साधु बाह्य जल्प को बद करते है । मन मे जो अतर्जल्प होता है, उस विकल्प के विषय मे स्वानुभूति का अमृत रसपान करने वाले आत्म-निमग्न साधु सोचते है :—

यत्परैः प्रतिपाद्योहं यत्परान् प्रतिपादये ।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥१६॥

मै वचनादि विकल्पो से रहित निर्विकल्प अवस्था वाला हूँ, अत मै दूसरो के द्वारा प्रतिपाद्य हूँ (प्रतिपादन का विषय हूँ) अथवा मै दूसरो को प्रतिपादन करता हूँ, ऐसी मेरी चेष्टा यथार्थ मे उन्मत्त की चेष्टा सदृश है । इस चितन द्वारा मुनीन्द्र अतर्जल्प का भी त्याग करते है ।

निश्चयदृष्टि की प्रधानता

भगवान् का लक्ष्य है शुक्ल ध्यान की उपलब्धि । उन्होने मुमुक्षु होने के कारण विशुद्ध तात्विक दृष्टि को प्रमुख बनाया है । अब वे आत्म-सापेक्ष निश्चय दृष्टि को प्रधानता देते है । इसलिये वे स्वोपकार मे सलग्न है । परोपकार सपादनार्थ बोलने की रागात्मक परणति उन्हें मुक्ति की प्राप्ति मे बाधक लगती है । उनकी दृष्टि है कि कोई किसी दूसरे जीव का न हित कर सकता है, न अहित ही कर सकता है । कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है 'ण कोवि जीवस्स कुणइ उवयार' —जीव का कोई अन्य उपकार नही करता है, 'उवयार

अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि' (३१६ गाथा) शुभ तथा अशुभ कर्म ही जीव का उपकार तथा अपकार करते हैं। अध्यात्मशास्त्र स्वतत्व की मुख्यता से कहता है, कि एक द्रव्य दूसरे का कुछ भी भला बुरा नहीं करता है। समयसार में कितनी सुन्दर बात लिखी है :—

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य में गुण का उत्पाद नहीं किया जा सकता, अतएव सर्व द्रव्य स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

मोक्षाभिलाषी श्रमण की दृष्टि यदि तनिक स्व से बहिर्मुख हो गई तो उस आत्मा को लक्ष्य से च्युत हो जाना पड़ता है। सूक्ष्मतम भी रागांश जगकर इस आत्मा को संसार जाल में फसा देता है।

हरिवंशपुराण में लिखा है कि दुर्योधन के कुटुम्बियों ने आत्मध्यान में निमग्न पांचों पांडवों पर भयंकर उपसर्ग किए थे। अग्नि में संतप्त लोहमयी आभूषण उनके शरीर को पहिनाए थे। उस उष्ण परीषह को उन्होंने शांत भाव से सहन किया था।"रौद्रं दाहोपसर्गं ते मेनिरे हिमशीतलम्" (सर्ग ६५—२१) उन्होंने भीषण दाह की वेदना को हिम सदृश शीतल माना।

शुक्लध्यानसमाविष्टा भीमार्जुनयुधिष्ठिराः।
कृत्वाष्टविध-कर्मान्तं मोक्षं जग्मुस्त्रयोऽक्षयं ॥६५—२२॥

भीम, अर्जुन तथा युधिष्ठिर ने शुक्ल ध्यान को धारण करके आठ कर्मों के क्षय द्वारा अविनाशी मोक्ष को प्राप्त किया।

बहिर्दृष्टि का परिणाम

उस समय नकुल तथा सहदेव का ध्यान ज्येष्ठ बन्धुओं के देहदाह की ओर चला गया, इससे उनको मोक्ष के स्थान में सर्वार्थसिद्धि में जाकर तेतीस सागर प्रमाण स्वर्ग में रहना पड़ा। इस समय तीन पांडव मोक्ष में हैं, किन्तु नकुल और सहदेव संसार में ही हैं। हरिवंशपुराण में लिखा है :—

नकुलः सहदेवश्च ज्येष्ठदाहं निरीक्ष्य तौ।
अनाकुलितचेतस्कौ जातौ सर्वार्थसिद्धिजौ॥६५—२३॥

नकुल तथा सहदेव ने ज्येष्ठ बन्धुओ के शरीर-दाह की ओर दृष्टि दी थी, इससे आकुलता रहित मनोवृत्तियुक्त होते हुए भी वे शुद्धोपयोग विहीन होने से मोक्ष के बदले सर्वार्थसिद्धि मे पहुँचे।

इस दृष्टात से यह बात स्पष्ट होती है, कि अल्प भी रागाश अग्नि कण के समान तपश्चर्यारूप तृणराशि को भस्म कर देता है; अतएव जिस जन-कल्याण को पहले गृहस्थावस्था मे भगवान ने मुख्यता दी थी, अब उस ओर से उन्होंने अपना मुख पूर्णतया मोड लिया। वे महाज्ञानी होने के कारण मोहनीय कर्म की कुत्सित प्रवृत्तियो का रहस्य भली भाति जानते है।

जीवन द्वारा उपदेश

एक बात और है, सच्चे तपस्वी मुख से उपदेश नही देते, किन्तु उनका समस्त वीतरागता पूर्ण जीवन मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करता हुआ प्रतीत होता है। पूज्यपाद आचार्य के ये शब्द अत्यन्त मार्मिक है 'अवाग्विसर्गं वपुषा मोक्षमार्ग निरुपयत निर्ग्रन्थाचार्यवर्यम्' अर्थात् वाणी का उच्चारण किए बिना अपने शरीर के द्वारा ही मोक्ष के मार्ग का निरूपण करते हुए निर्ग्रन्थाचार्य शिरोमणि थे, अतएव उज्ज्वल आत्मा का जीवन ही श्रेष्ठ तथा प्रभावप्रद उपदेश देता है। भगवान की समस्त प्रवृत्तियाँ अहिंसा की ओर केन्द्रित है।

मौन वाणी का प्रभाव

मौनावस्था मे भी सवेदनशील पशु तक भी उस अहिंसा पूर्ण मौनोपदेश को अवधारणकर सम्यक् आचरण करते हुए पाए जाते थे। महापुराणकार लिखते है —

मृगारिव समुत्सृज्य सिंहाः संहतवृत्तयः।
बभुर्यू थेन माहात्म्य तद्धि योगजम् ॥१८—८२॥

सिंह, हरिण आदि जन्तुओं के साथ वैरभाव छोड़कर हाथियों के समुदाय के साथ मिलकर रहने लगे थे। यह सब प्रभु के योग का प्रभाव ही था।

प्रस्नुवाना महाव्याघ्री रुपेत्य मृगशावकाः।
स्वजनन्यास्थया स्वैरं पीत्वा स्म सुखमासते ॥१८--८४॥

मृगों के बच्चे दूध देती हुई महा बाघनियों के पास जाते हैं। वे उनको स्व-जननी सोचकर इच्छानुसार दूध पीकर सुखी हो रहे हैं।

शक्ति संचय

मौन द्वारा भगवान अलौकिक शक्ति संचय कर रहे हैं, उसके फल स्वरूप केवलज्ञान होने पर उनकी दिव्यध्वनि द्वारा असंख्य जीवों को सच्चे कल्याण की प्राप्ति होती है। इस विवेचन के प्रकाश में सभी तीर्थंकरों का दीक्षा के उपरान्त मौन धारण करने का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। यह मौन महान तप है, इच्छाओं के नियंत्रण का महान् कारण है।

त्यागे गये वस्त्रादि का आदर

भगवान ने दीक्षा लेकर तपोवन का मार्ग ग्रहण किया। पूर्व में उनसे संबंध रखने वाले वस्त्रादि के प्रति इन्द्रादि ने बड़ा आदर भाव व्यक्त किया। यथार्थ में यह आदर भगवान के प्रति समझना चाहिए। महापुराणकार कहते हैं :--

वस्त्राभरण-माल्यानि यान्युन्मुक्तान्यधीशिना।
तान्यप्यनन्य-सामान्यां निन्युरत्युन्नतिं सुराः ॥१७--२११॥

भगवान ने जिन वस्त्र, आभूषण, माला आदि का त्याग किया था; देवों ने उन सब का असाधारण आदर किया।

केशों की पूज्यता

केशलोंच के उपरान्त केशों का तक आदर हुआ। भक्त

इन्द्र की दृष्टि अपूर्व थी । केश वास्तव मे अपवित्र है । आहार मे केश आ जाने पर मुनिजन अतराय मानते है । गृहस्थो तक को यह अतराय मानना आवश्यक कहा गया है, फिर भी वे केश पवित्र थे, क्योकि भगवान के मस्तक पर उन्होंने बहुत काल तक निवास किया था । आचार्य कहते है —

केशान्भगवतो मूर्ध्नि चिरवासात्पवित्रितान् ।
प्रत्यैच्छन्मघवा रत्नपटल्यां प्रीतमानसः ॥१७-२०४॥

भगवान के मस्तक पर चिरकाल से स्थित रहने के कारण पवित्र हुए केशो को इन्द्र ने प्रेम पूर्ण अत करण से रत्नके पिटारे मे रख लिया ।

धन्याः केशाः जगद् भर्तुः येऽधिमूर्धमधिष्ठिताः ॥
धन्योसौ क्षीरसिन्धुश्च यस्तानाप्स्यत्युपायनम् ॥२०८॥

ये केश धन्य है जो त्रिलोकीनाथ के मस्तक पर स्थित रहे । यह क्षीर समुद्र भी धन्य है, जो इन केशो को भेट स्वरूप प्राप्त करेगा ।

ऐसा विचार कर इन्द्रो ने उन केशो को सादर क्षीर समुद्र मे विसर्जन कर दिया । आचार्य कहते है —

महता संश्रयान्नून यान्तीज्या मलिना अपि ।
मलिनैरपि यत्केशैः पूजावाप्ता श्रितैर्गुरुम् ॥२१०॥

मलिन पदार्थ भी महान आत्माओ का आश्रय लेने से इज्या अर्थात् पूजा को प्राप्त होते है । भगवान के मलिन (श्यामवर्ण वाले) केशो ने भगवान का आश्रय ग्रहण करने के कारण पूज्यता प्राप्त की ।

इस श्लोक के अर्थ पर यदि गहरा विचार किया जाय, तो कहना होगा कि यदि मलिन केश अचेतन होते हुए भगवान के सपर्कवश पूजा के पात्र होते है, तो अन्य सचेतन आराधक विशेष भक्ति के कारण यदि पूजा के पात्र कहे जावे, तो इसमे क्या आपत्ति की जा सकती है ?

जिस चैत्र कृष्णनवमी को भगवान ने दीक्षा ली थी, वह दिवस पवित्र माना जाने लगा । जिस वृक्ष के नीचे भगवान ने दीक्षा

ली थी, वह वट वृक्ष आदर का पात्र हो गया। समवशरण में वह वट वृक्ष अशोक वृक्ष के रूप में महान् प्रतिष्ठा का स्थान बन गया। वह अष्ट प्रातिहार्यों में सम्मिलित किया गया। इन पदार्थों में स्वयं पूज्यता नहीं है। जो इन वृक्षों को स्वयं के कारण पूज्य मानता है, वह तत्वज्ञ नहीं माना गया है।

सामायिक चारित्र धारण

भगवान ने दीक्षा लेते समय सिद्ध भगवान को प्रणाम करते हुए सर्व सावद्य-योग त्याग रूप सामायिक चारित्र धारण किया था। महापुराण में लिखा है :—

> कृत्स्नाद् विरस्य सावद्याच्छ्रितः सामायिकं यमम्।
> व्रत-गुप्ति-समित्यादीन् तद्भेदानाददे विभुः ॥१७—२०२॥

समस्त पापारंभ से विरक्त होकर भगवान ने सामायिक चारित्र धारण किया ; उन्होंने व्रत, गुप्ति, समिति आदि चारित्र के भेद भी ग्रहण किए थे।

दीक्षा लेते ही वे साम्राज्य रक्षा आदि के भार से मुक्त हो गए। साम्राज्य का संरक्षण अनेक चिंताओं एवं आकुलताओं का हेतु रहता है। दीक्षा लेते ही आत्मयोगी ऋषभनाथ भगवान को विलक्षण शांति प्राप्त हुई। उनके मन में ऐसी विरागता तथा विशुद्धता उत्पन्न हुई कि उन्होंने तत्काल छह माह का लम्बा उपवास ग्रहण कर लिया। उनकी बहिर्जगत् से तो पूर्ण विमुख दृष्टि है, वे अंतर्ज्योति को जगाकर चुन चुनकर कर्म शत्रुओं का विनाश करने में तत्पर हैं।

भगवान देखने में परम शांत हैं। प्रशम भाव के प्रशान्त महासागर तुल्य लगते हैं, किन्तु कर्म शत्रुओं का नाश करने में वे अत्यन्त दयाहीन हो गए हैं। क्रूरता पूर्वक चिरसंचित कर्मरूपी ईन्धन को वे ध्यानाग्नि में भस्म कर रहे हैं।

आध्यात्मिक साधना में निमग्नता

चर्म चक्षुओं से देखने पर ऐसा लगता है कि जो पहले निरन्तर कार्यशील प्रजापति थे, वे अब विश्राम ले रहे हैं या अकर्मण्य बन गए हैं, क्योंकि उनका कोई भी कार्य नहीं दिखता। आज का भौतिक दृष्टियुक्त व्यक्ति कोल्हू के बैल की तरह जुते हुए मानव को ही कार्यशील सोचता है। जिस व्यक्ति को खाने की फुरसत न मिले, सोने को पूरा समय न मिले, ऐसे कार्य-सलग्न चितामय मानव को लोग कर्मठ पुरुष मानते हैं, इस दृष्टि से तो तपोवन के एकान्त स्थल में विराजमान ये साधुराज ससार के उत्तरदायित्व का त्याग करने वाले प्रतीत होंगे, किन्तु यह दृष्टि अज्ञान तथा अविवेक पूर्ण है।

अब ये महामुनि अत्यन्त सावधानी पूर्वक आत्मा के कलक प्रक्षालन में सलग्न हैं। आत्मा को सुसस्कृत बनाने के महान आध्यात्मिक उद्योग में निरत हैं। अनादिकालीन विपरीत सस्कारो के कारण मन कुमार्ग की ओर जाना चाहता है, किन्तु ये आध्यात्मिक महायोद्धा बलपूर्वक प्रचड मन का नियत्रण करते हैं। जैसे भयकर हत्या करने वाले आततायी डाकू पर पुलिस की कडी निगाह रहती है, एक क्षण भी उस डाकू को स्वच्छद नही रखा जाता, उसी प्रकार ये मुनीन्द्र अपने मन को आर्तध्यान, रौद्रध्यान रूपी डाकुओं से बचाते हैं। उसे स्वकल्याण के कार्यो मे सावधानी पूर्वक लगाते हैं।

शासन व्यवस्था करते समय सुचतुर शासक को जितनी चिता रहती है तथा श्रम उठाना पडता है, उससे अधिक उद्योग प्रभु का चल रहा है। 'वैराग्यभावना नित्यं, नित्य तत्वानुचितनम्' का महान कार्यक्रम सदा चलता रहता है। क्षणभर भी ये प्रमाद नही करते हैं, जैसे यत्र का चक्र एक जगह रहते हुए भी बड़े वेग से गतिशील रहता है। अत्यधिक गतिशीलता के कारण वह स्थिर रूप सरीखा दिखाई पडता है, इसी प्रकार की तीव्र गति इन योगिराज की हो रही है। भोगी व्यक्ति वास्तव में योगी की आतरिक स्थिति को

इसी प्रकार नहीं जान सकता, जैसे अन्ध व्यक्ति चक्षुष्मान मानव के ज्ञान की कल्पना नहीं कर सकता है।

आत्मयज्ञ

भगवान ने जगत की तरफ पीठकर दी है। अब उनका मुख आत्मा की ओर है। वे महान आत्मन्यज्ञ में लगे हैं। यह यज्ञ विलक्षण है। क्रोधाग्नि, कामाग्नि एवं उदराग्नि रूप तीन प्रकार की अग्नि प्रदीप्त हैं। वे क्रोधाग्नि में क्षमा की आहुति, कामाग्नि में वैराग्य की आहुति तथा उदराग्नि में अनशन की आहुति अर्पण करते रहते हैं। गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण में लिखा है :—

> त्रयोग्नयः समुद्दिष्टाः क्रोध-कामोदराग्नयः।
> तेषु क्षमाविरागत्वानशनाहुतिभिर्वने ॥६७ पर्व, २०२।

इस आत्मयज्ञ के फल स्वरूप प्रत्येक साधक साधु शीघ्र ही सिद्ध भगवान की पदवी को प्राप्त करता है।

मनः पर्ययज्ञान के विषय में उत्प्रेक्षा

जब भगवान ने परिग्रहादि का परित्याग करके प्रत्येक बुद्ध श्रमण की वृत्ति अंगीकार की थी, तब उनको पंचम गुणस्थान से सातवें गुणस्थान की अवस्था प्राप्त हुई थी; अंतर्मुहूर्त के पश्चात् वे प्रमत्त संयत बन गए। प्रमत्त दशा से अप्रमत्तता की ओर चढ़ना उतरना जारी रहता था।

शीघ्र ही भगवान् को मनःपर्ययज्ञान की प्राप्ति हो गई। यह ज्ञान परिग्रह त्यागी दिगम्बर भावलिंगी मुनिराज के ही होता है, गृहस्थ इस ज्ञान के लिए अपात्र है। इस सम्बन्ध में गुणभद्राचार्य ने बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षा की है। वे कहते हैं; भगवान् ने परिग्रह त्याग करके सामायिक संयम को स्वीकार किया है। संयम ने भगवान को मनः पर्ययज्ञान प्रदान किया है, वह एक प्रकार से केवलज्ञान का ब्याना

समान है । जैसे व्यापारी वर्ग किसी वस्तु का सौदा पक्का करने के हेतु विश्वास सपादन निमित्त कुछ द्रव्य पहले ही दे देते है, इसी प्रकार अन्त में केवलज्ञान रूप निधि प्रदान करने के पूर्व मन पर्ययज्ञान की उत्पत्ति सयम के द्वारा प्रदत्त ब्याना की रकम सदृश है । आचार्य के मार्मिक शब्द इस प्रकार है —

चतुर्थोप्यवबोधोस्य सयमेन समर्पितः ।
तवैवांत्यावबोधस्य सत्यंकार इवेशितुः ॥७४—३१२॥

दीक्षा लेने के अनतर ही सयम ने केवलज्ञानके ब्याना (सत्यकार) के समान भगवान को मन पर्ययज्ञान नामका चौथा ज्ञान समर्पण किया था ।

प्रभु की पूजा

महाराज भरत ने महामुनि ऋषभनाथ भगवान की अष्ट-द्रव्यो से भक्तिपूर्वक पूजा की । जिनसेन स्वामी महापुराण में लिखते है, कि भरत महाराज ने विविध फलो द्वारा पूजा सम्पन्न की थी —

परिणतफलभेदैराम्र-जम्बू-कपित्थैः ।
पनस-लकुच-मोचैः दाडिमैर्मातुलिंगैः ॥
क्रमुकरुचिरगुच्छैर्नालिकेरैश्चरम्यैः ।
गुरुचरणसपर्यामातनोदाततश्रीः ॥१७—२५२॥

समृद्ध लक्ष्मीयुक्त महाराज भरत ने पके मनोहर आम, जामुन, कैथा, कटहल (पनस) बड़हल, केला, अनार, बिजौरा नीबू सुपारियो के सुन्दर गुच्छे तथा रमणीय नारियलों से वीतराग गुरु के चरणो की पूजा की थी ।

वीतराग-वृत्ति

कोई पूजा करे तो उस पर उनका रागभाव नही था । कोई पूजा, सत्कार न करे, तो उस पर उनके मन में द्वेषभाव नही था । वे तो यथार्थ में वीतराग थे । लोग सामान्यतया अध्यात्म की रचना को

पढ़कर अपने को वीतराग समझने लगते हैं। गृहवास करने वाला व्यक्ति राग, द्वेष, मोह तथा ममता की मूर्ति रहता है। सहस्र चिंताओं तथा आकुलताओं का भण्डार रहता है।

परिग्रह का संचय करनेवाला वाचनिक वीतरागता के क्षेत्र में विचरण कर सकता है। बिना अकिंचन वृत्ति को अङ्गीकार किए स्वयं में वीतरागता का अभिनिवेश श्वान को सिंह मानने सदृश अपरमार्थ बात है। किसी गीत को यदि गा लिया कि, हे चेतन! तू तो कर्ममल रहित है, रागद्वेष रहित है, तू सिद्ध परमात्मा है। उस गीत का गान करते हुए नेत्रों से आनन्द के अश्रु भी टपक पड़े, तो क्या वह गृहस्थ वीतराग विज्ञानता का रसपान करने लगा? वीतरागता की प्राप्ति तुतलाने वाले तथा खड़े होने में भी असमर्थ बच्चों का खेल नहीं है। अपना सर्वस्व त्याग करके जब आत्मा परमार्थतः स्वाधीन वृत्ति को स्वीकार करता है, तब उसे वीतरागता की आंशिक उपलब्धि होती है। निर्ग्रन्थ भावलिंगी प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती साधु के पास दूज के चन्द्रमा समान वीतरागता की अल्प ज्योति आती है। मोह कर्म का पूर्ण क्षय होने पर वीतरागता का पूर्णचन्द्र अपनी ज्योत्स्ना द्वारा मुमुक्षु को वर्णनातीत आनन्द तथा शान्ति प्रदान करता है। ऐसे महापुरुष के पास अंतर्मुहूर्त में ही अनन्तज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

स्वावलम्बी जीवन

भगवान अब उच्च चरित्र को अंगीकार कर वास्तविक वीतरागता के पथ पर चलने को उद्यत हैं, इससे वे यह नहीं सोचते कि मैं महान वैभव का स्वामी रहा हूँ तथा मैं रत्नजटित सिंहासन पर बैठा करता था। मैं सुरेन्द्र द्वारा लाई गई अपूर्व सामग्री का उपभोग करता था।

अब वे तीन लोक के नाथ भूतल पर सोते थे। उनको पृथ्वी तल पर बैठे या लेटे हुए देखकर ऐसा प्रतीत होता था,

मानो ये प्रकृति माता की गोद मे ही बैठे हों। मुनि सामान्य के लिए परमागम मे प्रतिपादित अट्ठाईस मूलगुणों का ये पालन करते थे। तीर्थंकर होने के कारण इनको संयम पालन में कोई विशेष सुविधा नही दी गई थी। दीक्षा लेने के पश्चात् ये सिंह सदृश एकाकी साधु परमेष्ठी के रूप में थे। ये न आचार्य पदवी वाले थे, न उपाध्याय पद वाले थे। ये तो साधुराज थे। इनको देखकर यह प्रतीत हो जाता है, कि परमार्थ दृष्टि से साधु का पद बहुत ऊँचा है। जब आत्मा श्रेणी पर आरोहण करता है, तब वह साधु ही तो रहता है। आचार्य, उपाध्याय तो विकल्प की अवस्थाएँ हैं। निर्विकल्प स्थिति को प्राप्त करने के लिए इन उपाधियों से भी मुक्त होना आवश्यक है। ये भगवान कर्तृत्व, भोक्तृत्व की विकृत दृष्टि के स्थान मे ज्ञातृत्व भाव को अङ्गीकार करते हुए ज्ञानचेतना जनित आत्मरस का पान करते हैं। ऋषभनाथ भगवान ने छह माह का उपवास किया था (छह माह अन्तराय हुए थे)। इसका वास्तविक भाव यह था, कि उन देवाधिदेव के शरीर को पोषक अन्नादि पदार्थ उतने काल तक नहीं मिलेंगे। अध्यात्मतत्व की दृष्टि से विचारने पर ज्ञात होगा, कि भगवान वैराग्य रस का विपुल मात्रा में सेवन कर अपनी आत्मा को अपूर्व आनन्द तथा पोषण प्रदान कर रहे हैं। ये मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हैं। इनकी आत्मा बाह्य द्रव्यों में विचरण नही करती है। मोक्ष प्राप्ति का मूलमंत्र समयसार में बताया गया है, उसकी ये सच्चे हृदय से आराधना करते हैं। प्रत्येक मुमुक्षु के लिए यह उपदेश अत्यन्त आवश्यक है। कुदकुंद स्वामी कहते हैं —

मोक्ष पथ

> मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
> तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥ समयसार

हे भद्र ! तू मुक्तिपथ में अपनी आत्मा को स्थापित कर। उसी

आत्मा का ध्यान कर। उसी निजतत्व को अनुभवगोचर बना। उस स्वरूप में नित्य विहार कर। अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

अमृतचंद्रसूरि कहते हैं :—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्तात्मकः।
तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति॥
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन्।
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति॥२४०॥

दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक ही मोक्ष का पथ है। जो पुरुष उसी में स्थित रहता है, उसी को निरन्तर ध्याता है, उसी का अनुभव करता है और अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करता हुआ उस रत्नत्रय धर्म में निरन्तर विहार करता है, वह पुरुष शीघ्र ही सदा उदयशील समय के सार अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त करता है।

भगवान के मूलगुण

भगवान पंचमहाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति, पंचेन्द्रिय रोध, केशलोंच, दिगम्बरत्व, अस्नान व्रत, षडावश्यक, स्थित भोजन, क्षिति शयन तथा अदंतधावन रूप अष्टाविंशति मूलगुणों में से २७ गुणों की पूर्ति कर रहे हैं। आहार का छह माह तक परित्याग कर देने से खड़े रहकर आहार लेना इस नियम की पूर्ति नहीं हुई है। ऐसी स्थिति में भी वे प्रभु अट्ठाईस मूल गुण वाले ही माने जाएंगे, कारण उन्होंने खड़े होकर ही आहार लेने की प्रतिज्ञा की है।

दीर्घ तपस्या का हेतु

कोई व्यक्ति यह सोचता है, भगवान ऋषभदेव ज्येष्ठ जिनवर हैं। उनसे पश्चात्वर्ती किसी भी तीर्थंकर ने इतना लम्बा उपवास नहीं किया। स्वयं उन प्रभु के आत्मज भरत ने अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त किया था, ऐसी स्थिति में आदिजिनेन्द्र को भी सरल तप का अवलंबन अंगीकार करना चाहिए था।

इस विचित्र प्रश्न के समाधान हेतु यह सोचना आवश्यक है कि सभी की मानसिक स्थिति एक प्रकार की नही रहती। तीव्र कर्म-सचय होने पर मन की चचलता समुद्र की लहरो को भी पराजित कर देती है। ऊपर से सुन्दर सुरूप दिखने वाले शरीर के भीतर अनेक विकार पाए जाते हैं तथा बाहर में कुरूप होते हुए भी नीरोगता पूर्ण देह की उपलब्धि होती है। इसी नियम के प्रकाश मे आत्मा के विषय मे भी चिंतवन करना चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से विश्ववद्य होते हुए भी अतरग दोष राशि का सचय देखकर योगीजन आत्मशुद्धि के लिए तप रूपी अग्नि मे प्रवेश करते है। आत्म सामर्थ्य तथा आवश्यकता का विचार कर महाज्ञानी आदिनाथ भगवान ने उग्र तपश्चर्या प्रारम्भ की थी।

कोई सोचता है, इतना महान् तप न कर भगवान को सरलता-पूर्ण पद्धति को स्वीकार करना चाहिए था।

यह विचार दोष पूर्ण है। खदान से निकले हुए मलिन रूप-धारी सुवर्ण पाषाण को भयकर अग्नि मे डालते समय यह नही सोचा जाता, कि इस बेचारे सुवर्ण के प्रेमवश अग्नि दाहादि कार्य नही किए जाय। वहाँ तो यह कहा जाता है, जितनी भी अग्नि प्रज्ज्वलित की जा सके, उसे जलाकर सोने को शुद्ध करो। अग्नि सोने को तनिक भी क्षति नही पहुँचाती है। उसके द्वारा दोष का ही नाश होता है। यही स्थिति तपस्या की है। तपोग्नि के द्वारा आत्मा के चिरसचित दोष नष्ट होकर आत्मा परम विशुद्ध बनती है।

बाह्य-तप साधन है, साध्य नहीं

बाह्य तप स्वय साध्य नही है। अतरंग तप की उपलब्धि का वह महान् साधन है। अतएव आत्मा को शुद्ध करने वाले अतरग तप का साधक होने से यथा शक्ति बाह्य तप का अवश्य आश्रय लेना चाहिये। तत्वज्ञानी निर्ग्रन्थ शरीर को आत्म ज्योति से पूर्ण भिन्न

मानते हैं। वे आत्म देव की समाराधना को मुख्य लक्ष्य बनाकर उस सामग्री तथा पद्धति का आश्रय लेते हैं, जिससे आत्मा में संक्लेश भाव न हो, आर्तध्यान न हो, रौद्रध्यान न हो तथा विशुद्धता की वृद्धि हो। विशुद्ध भावों के होने पर शरीर की बाधा आत्मा को पीड़ाप्रद नहीं होती। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि योगी इतना अधिक आत्मा में तल्लीन रहा करता है, कि उसे अपने शरीर की अवस्था का भान नहीं रहता है। "सः बहिर्दुःखेषु अचेतनः"-वह योगी बाह्य दुःखों के विषय में अचेतन सदृश रहता है। यदि उसका ध्यान बाहर की ओर ही रहा आवे, तो आर्तध्यान के द्वारा आत्मा का भयंकर अहित हो जायगा। इसी कारण जिनागम में त्याग तथा तप के विषय में 'यथाशक्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। "शक्तितस्त्याग-तपसी" रूप तीर्थंकरत्व के हेतु भावना कही गई है।

तप आनन्दप्रद है

एक बात और है, जैसे-जैसे जीव को आत्मा का आनन्द आने लगता है, वैसे-वैसे उसकी विषयों के प्रति विमुखता स्वयमेव होती जाती है। जिस प्रकार मत्स्य को जल में क्रीड़ा करते समय आनंद आता है; जल के विना वह तड़फ-तड़फकर प्राण दे देती है; जल में गमन करने में उसे कष्ट नहीं होता, इसी प्रकार आत्मोन्मुख बनने में मुमुक्षु को सच्ची विश्रान्ति तथा निराकुलता जनित आनन्द प्राप्त होता है। इष्टोपदेश का कथन बड़ा मार्मिक है :—

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥
यथा यथा न रोचते विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्वमुत्तमम् ॥३८॥

जैसी-जैसी संवेदना में श्रेष्ठ तत्व-आत्म स्वरूप की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार सहज ही उपलब्ध विषय सुख की सामग्री रुचिकर नहीं लगती है। जैसे-जैसे सुलभ विषय प्रिय नहीं लगते हैं, वैसे-वैसे संवेदन में आत्म तत्व की उपलब्धि होती है।

क्षण-क्षण मे भगवान के कर्मो की महान् निर्जरा हो रही है। कर्म-भार दूर होने से आत्मा की निर्मलता भी बढ़ रही है। इससे स्वाभाविक शाति तथा आनन्द की वृद्धि भी हो रही है। यह आनन्द उस सुख की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट एव अलौकिक है, जो प्रभु को गृहस्थावस्था मे तीव्र पुण्यकर्म के विपाकवश उपलब्ध हो रहा था। भगवान का जीवन अद्भुत था। उनकी तपश्चर्या भी असाधारण थी।

अपूर्व स्थिरता

महानशनमस्यासीत् तपः षण्मासगोचरम् ।
शरीरोपचयस्त्विद्धः तथैवास्यादहोधृतिः ॥१८--७३॥

यद्यपि भगवान का छह मास का महोपवास था, फिर भी उनके शरीर का पिड पूर्ववत् ही दैदीप्यमान बना हुआ था। उनकी स्थिरता आश्चर्यकारी थी।

केशों की जटारूपता

संस्कारविरहात् केशाः जटीभूतास्तदा विभोः।
नूनं तेपि तपःक्लेश अनुसोढ़ं तथा स्थिताः ॥७५॥

भगवान के केशो का अब सस्कार नही हुआ। अत सस्कार रहित होने के कारण वे केश जटा स्वरूप हो गए। ऐसा प्रतीत होता था, कि वे केश भी तप का कष्ट सहन करने के लिए कठोर हो गए है।

भगवान के लम्बे-लम्बे केश उनकी तपस्या के सूचक थे। इससे यह प्रतीत होता है कि विषय लोलुपी होते हुए भी अनेक साधु महान तपस्या के चिन्ह स्वरूप लम्बे-लम्बे केश धारण करने लगे हैं।

ऋद्धियों की प्राप्ति

भगवान के अनेक प्रकार की ऋद्धिया उत्पन्न हो गई थी। मन पर्ययज्ञान की उत्पत्ति ऋद्धिधारी मुनियो के होती है। उनमे भी

विरले ऋद्धिप्राप्त मुनियों को मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है । सर्वार्थसिद्धि में मनःपर्ययज्ञान के विषय में लिखा है, "प्रवर्धमानचारित्रेषु चोत्पद्यमानः सप्तविधान्यतमर्द्धिप्राप्तेषूपजायते नेतरेषु । ऋद्धिप्राप्तेपु केषुचिन्न सर्वेषु-" (सूत्र २५ अध्याय १) यह मनःपर्ययज्ञान प्रवर्धमान चारित्र वालों में से सप्तविध ऋद्धियों में से अन्यतम ऋद्धिधारी मुनियों के पाया जाता है । ऋद्धिप्राप्त साधुओं में भी सबमें नहीं पाया जाता, किन्तु किन्हीं विरले संयमियों में वह पाया जाता है । अपनी आत्मशुद्धि के कार्य में संलग्न रहने के कारण भगवान अपनी ऋद्धियों का कोई भी उपयोग नहीं करते । उनका मनःपर्ययज्ञान भी एक प्रकार से अलंकार रूप रहता है । उसके प्रयोग करने का कोई विशेष प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता । मौन व्रत रहने से जन संपर्क तथा प्रश्नोत्तरादि की भी कल्पना नहीं की जा सकती । इसी प्रकार शायद ही कभी अवधिज्ञान के भी उपयोग की जरूरत पड़ती हो । यह उज्ज्वल सामग्री उनके श्रेष्ठ व्यक्तित्व को सूचित करती थी । वे आत्मतेज संपन्न जगद्गुरु जहाँ भी जाते थे, वहाँ उनके लोकोत्तर महत्व का ज्ञान हो जाता था ।

अपूर्व प्रभाव

उनका प्रभाव अत्यधिक चमत्कार पूर्ण था । जन्मतः हिंसक जीवों के हृदय में उनके कारण दया तथा मैत्री का अवतरण हो जाता था । तपोवन में विद्यमान उन विश्वपिता के प्रभाव को महापुराणकार इस प्रकार चित्रित करते हैं :—

> कंटकालग्न-वालाग्राश्चमरीश्च मरीमृजाः ।
> नखरैः स्वैरहो व्याघ्राः सानुकंपं व्यमोचयन् ॥१८—८३॥

अहो ! जिन चमरी गायों के बालों के अग्रभाग कांटों में उलझ गए थे और जिनको सुलझाने का वे बारबार प्रयत्न करती थीं, ऐसी चमरी गायों को व्याघ्र बड़ी दया पूर्वक अपने नखों से छुड़ा रहे थे । यहां व्याघ्रों के साथ करुणा का पर्यायवाची शब्द 'सानुकम्पं'

बडा मार्मिक है । क्रूरता के परमाणुओं से जिन शेरो की शरीर रचना हुई हो, उनमे अनुकम्पा की उत्पत्ति भगवान के दिव्य प्रभाव को द्योतित करती है ।

भगवान ने चैत्र मे दीक्षा ली थी । उनके समक्ष भीषण ग्रीष्म आया और चला गया । वर्षाकाल भी आया । भगवान की स्थिरता मे अन्तर नही था । वे बाईस परीषहो को सहन करने की अपूर्व क्षमता मयुक्त थे, अतएव भीषण परिस्थितियो मे भी वे साम्यभाव सम्पन्न रहते थे । साधारण मनोबल वाले पुरुष भी विपत्ति की वेला मे मनस्विता का परिचय देते है, तब तो ये असाधारण क्षमतायुक्त तीर्थंकर परम देव है । आचार्य कहते है, 'इस प्रकार छह माह मे पूर्ण होने वाले प्रतिमायोग को प्राप्त हुए और धैर्य से शोभायमान रहने वाले भगवान का वह लम्बा काल भी क्षणभर के समान व्यतीत हो गया ।'

उपवास के विषय में प्रभु की दृष्टि

भगवान मे अपरिमित शक्ति थी, फिर भी लोगो को मोक्ष-मार्ग बताने की दृष्टि से भगवान ने आहारग्रहण करने का विचार किया । उपवास के विषय मे उन प्रभु का यह अभिमत था —

न केवलमयं कायः कर्शनीयो मुमुक्षुभिः ।
नाप्युत्कटरसैः पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च वल्भनैः ॥२०—५॥

मध्यम मार्ग

वशे यथा स्युरक्षाणि नोत-धावन्त्यनूत्पथम् ।
तथा प्रयतितव्यं स्याद् वृत्तिमाश्रित्यमध्यमाम् ॥२०—६॥

मोक्षाभिलाषी मुनियो को यह शरीर न तो केवल कृश ही करना चाहिये और न अधिक रसयुक्त, मधुर तथा मनोवाछित पदार्थो के द्वारा इसे पुष्ट ही करना चाहिए । जिस प्रकार इन्द्रिया वश मे रहें तथा कुमार्ग की ओर न जावे, उस प्रकार मध्यम मार्ग का अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करना चाहिए ।

इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनधर्म की तपस्या में अतिरेकपूर्ण प्रवृत्ति का उपदेश नहीं है। इसमे जो आज कल के लोग बुद्ध की तपस्या का उल्लेख करते हुए जैनधर्म की तपस्या की कठोरता का कथन कर उस पर आक्षेप करते हैं, वह उचित नहीं है। जैनधर्म स्वयं मध्यम पथ का प्रतिपादक है।

कायक्लेश की सीमा

यह कथन भी मनन करने योग्य है :—

कायक्लेशो मतस्तावन्न क्लेशोस्ति यावता।
संक्लेशे ह्यसमाधानं मार्गात् प्रच्युतिरेव च ॥२०—८॥

कायक्लेश तप उतना ही करना चाहिए, जहाँ तक संक्लेश नही उत्पन्न होता है। संक्लेश होने पर मन में स्थिरता नहीं रहती है तथा जीव मार्ग से भी च्युत हो जाता है।

सिध्यै संयमयात्रायाः तत्तनुस्थितिमिच्छुभिः।
ग्राह्यो निर्दोष आहारो रसासंगाद्विनर्षिभिः ॥६॥

अतएव संयम रूप यात्रा की सिद्धि के लिये शरीर स्थिति को चाहने वालों को रसों में आसक्त न हो निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिये।

आहारार्थ विहार

अब आहार ग्रहण करने के उद्देश्य से भगवान ने विहार प्रारम्भ कर दिया। उस कर्मभूमि के प्रारम्भ में मुनिदान कैसे दिया जाता है, इस विषय को कोई नहीं जानता था। भगवान मौनव्रती थे। उनका भाव कोई नहीं जानता था। ऐसी अद्भुत परिस्थितिवश भगवान को आहार का लाभ नहीं हो रहा है।

त्रिलोकीनाथ आहार के हेतु भ्रमण कर रहे हैं, किन्तु अन्तराय कर्म का तीव्र उदय होने से आहार का लाभ नहीं होता था। भक्त प्रजाजन प्रभु के समीप बड़े आदर, ममता और भक्तिपूर्वक विविध पदार्थ भेंट में लाते थे, किन्तु उनसे उन प्रभु का कोई प्रयोजन न था।

कर्मो की कितनी विचित्र अवस्था होती हैं। छह माह पर्यन्त महोपवास के पश्चात् भी कर्म के विपाक की इतनी तीव्रता है कि तीर्थंकर भगवान को भी शरीर यात्रा के हेतु आहार प्राप्ति का सुयोग नही मिल रहा है। आहार के लिए प्रभु का प्रतिदिन विहार हो रहा रहा है। अब एक वर्ष हो चुका। चैत्र सुदी नवमी फिर आ गई, किन्तु स्थिति पूर्ववत् है। भगवान् अत्यन्त प्रसन्न तथा प्रशान्त हैं। वे क्षुधा, तृपा रूप परीषहो को बडी समता पूर्वक सहन करते हुए कर्मो की निर्जरा कर रहे है। ऐसी तपस्या के द्वारा ही चिरसंचित कर्मो के पहाड नष्ट हुआ करते हैं।

अंतराय का उदय

वे भगवान धनवान् अथवा निर्धन, सभी के घर पर आहार हेतु जाते थे। उनकी यह चर्या चान्द्री-चर्या कही गई है, क्योकि वे चन्द्रमा के समान प्रत्येक के घर पर जाते थे। अपने दर्शन द्वारा सबको आनन्द प्रदान करते थे। सारा जगत् चिन्ता निमग्न था। कर्म का विपाक भी विलक्षण होता है। तीर्थकर हो या सामान्य जन हो, कर्मोदय समान रूप से सब को शुभ, अशुभ फल प्रदान करता है।

गुणभद्रस्वामी ने आत्मानुशासन मे लिखा है "कि दैव की गति बडी विचित्र है। यह अलघनीय है। देखो! भगवान वृषभदेव के गर्भ मे आने के छह माह पहले से ही इन्द्र सेवक के समान हाथ जोडे रहता था, जो इस कर्म भूमि रूपी जगत् के विधाता है, नवनिधियो के स्वामी चक्रवर्ती भरत जिनके पुत्र है, वे भी छहमाह पर्यन्त इस पृथ्वी पर बिना आहार प्राप्त किए विहार करते थे।"[1]

---

१ पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकर किंकर इव।
स्वयं सृष्टा सृष्टे पतिरथनिधीना निजसुत.॥
क्षुधित्वा षण्मासान् स किल पुरुरप्याट जगती-
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलध्य हतविधे॥११९॥

अंतराय कर्मोदयवश उस समय इन्द्र को भी प्रभु की गूढ़-चर्या का ध्यान नहीं रहा। अमितगति आचार्य ने यथार्थ कहा है, कि जीव को उसके शुभ-अशुभकर्मों के सिवाय अन्य सुख दुःख नहीं देता है।

भवितव्यता

एक बात विचारणीय है कि वैशाख सुदी दशमी को जृंभकग्राम की ऋजुकूला नदी के तट पर महावीर भगवान को केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ। उस समय गणधर का योग नहीं मिला। इस कारण भगवान की दिव्य ध्वनि छियासठ दिन तक नहीं खिरी थी। उस समय सुचतुर इन्द्र ने इन्द्रभूति ब्राह्मण को भगवान के सानिध्य में उपस्थित किया। मानस्तम्भ दर्शन से इन्द्रभूति गौतम का अहंकार दूर हुआ और शीघ्र ही वह महामिथ्यात्वी व्यक्ति श्रमण संघ का नायक गौतम गणधर बना। कदाचित् इन्द्र ऐसी कुशलता भगवान के छह मास के प्रतिमा योग के पश्चात् दिखाता और लोगों को आहार दान की विधि से अवगत कराता, तो त्रिलोकीनाथ को एक वर्षाधिक काल के पश्चात् क्यों आहार प्राप्ति का योग मिलता ? आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है, 'अलंध्यशक्ति र्भवितव्यतेति'—भवितव्यता की सामर्थ्य अलंघनीय है। उसमें बाह्य तथा अन्तरंग सामग्री का योग आवश्यक है।

हस्तिनापुर में आगमन

भगवान विविध देशों में विहार करते हुए कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में पहुँचे। वहाँ के राजा सोमप्रभ महाराज हैं। उनके छोटे भाई श्रेयांस महाराज हैं।

तस्यानुजः कुमारोऽभूच्छ्रेयान् श्रेयान्गुणोदयैः।
रूपेण मन्मथः कान्त्या शशी दीप्त्या स भानुमान् ॥२०—३१॥

उनके अनुज श्रेयांसकुमार हैं। गुणों की वृद्धि से वह श्रेय

स्वरूप है । सौन्दर्य में कामदेव है । कांति में चन्द्रमा तथा दीप्ति में सूर्य के समान है ।

श्रेयांस राजा का स्वप्न

वैशाख शुक्ला की तृतीया के प्रभात में महापुण्यवान श्रेयांस महाराज ने सुन्दर स्वप्न देखे । प्रथम स्वप्न में राजकुमार ने सुवर्णमय विशालकाय तथा उन्नत सुमेरु पर्वत देखा । इस स्वप्न का फल निरूपण करते हुए राजपुरोहित ने कहा --

> मेरुसन्दर्शनाद्देवो यो मेरुरिव सून्नतः ।
> मेरौ प्राप्ताभिषेकः स गृहमेष्यति नः स्फुटम् ।।२०--४०।।

सुमेरु के दर्शन से यह सूचित होता है कि जो प्रभु सुमेरु सदृश समुन्नत है तथा जिनका सुमेरुगिरि पर अभिषेक हुआ, वे अपने राजभवन में पधारेंगे । अन्य स्वप्न भी उन्हीं भगवान के गुणों की उन्नति को सूचित करते हैं । आज उन भगवान के योग्य विनय के फलस्वरूप हमारे बड़े भारी पुण्य का उदय होगा । पुरोहित ने यह भी कहा --

> प्रशंसां जगति ख्यातिम् अनल्पां लाभसम्पदम् ।
> प्राप्स्यामो नात्र सन्दिहः कुमारश्चात्र तत्त्ववित् ।।२०--४२।।

आज हमें जगत् में महान् कीर्ति तथा विपुल सम्पत्ति प्राप्त होगी, इस विषय में सन्देह का स्थान नहीं है । राजकुमार स्वयं इस रहस्य के ज्ञाता हैं ।

सिद्धार्थ द्वारपाल द्वारा सूचना

अल्पकाल के पश्चात् भगवान राजमन्दिर की ओर आते हुए दृष्टिगोचर हुए । तत्काल सिद्धार्थ नाम के द्वारपाल ने राजा सोमप्रभ तथा राजकुमार श्रेयांस को मंगल समाचार सुनाए । दोनों भाई राजभवन के प्रांगण के बाहर आए और वहाँ उन्होंने भगवान् के चरणों को जल से धोकर उनकी प्रदक्षिणा की । उनका शरीर भगवान्

के दर्शन से रोमांच युक्त हो गया था। वे दोनों प्रभु के समीप सौधर्म और ईशान स्वर्ग के इन्द्रों सदृश दिखते थे।

अपूर्व दृश्य

पर्यन्तवर्तिनोर्मध्ये तयोर्भर्ता स्म राजते।
महामेरुरिवोद्भूतो मध्ये निषधनीलयोः ॥२०—७७॥

दोनों ओर खड़े हुए महाराज सोमप्रभ और श्रेयांस के मध्य में भगवान इस प्रकार शोभायमान होते थे मानो निषध और नील पर्वतों के मध्य में सुमेरुगिरि ही खड़ा हो।

जन्मान्तर की स्मृति

उस समय राजकुमार श्रेयांस को भगवान का दर्शन कर पूर्व जन्म का स्मरण हो गया, जबकि भगवान राजा वज्रजंघ थे और श्रेयांसकुमार का जीव उनकी महारानी श्रीमती था तथा जिस भव में उन दोनों ने दमधर और सागरसेन नाम के गगनगामी महामुनियों को भक्ति पूर्वक आहार दान दिया था तथा उसके फल स्वरूप देवताओं ने पंचाश्चर्य किए थे। उस जातिस्मरण के फलस्वरूप राजकुमार श्रेयांस के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि उक्त समय मुनि को आहार दान के उपयुक्त है। पूर्व जन्म के संस्कारों से राजकुमार को आहार-दान की सब विधि ज्ञात हो गई।

इक्षुरास का दान

श्रेयांसकुमार ने राजा सोमप्रभ और उनकी रानी लक्ष्मीमती के साथ भगवान के हाथ में इक्षुरस का आहार दिया था।

श्रेयान् सोमप्रभेणामा लक्ष्मीमत्या च सादरम्।
रसमिक्षोरदात् प्रासुमुत्तानीकृतपाणये ॥२०—१००॥

उस समय के आनन्द का कौन वर्णन कर सकता है? भगवान के आहार ग्रहण के समाचार सुनकर समस्त संसार को अपार आनन्द हुआ था।

महान फल

हरिवशपुराण में लिखा है कि देवताओ ने इक्षु धारा से स्पर्धा करते हुए आकाश से पृथ्वी तल पर रत्नो की वर्षा की थी। ग्रन्थकार के शब्द इस प्रकार है।

श्रेयसा पात्रनिक्षिप्तपड्क्षुरसधारया।
स्पर्धयेव सुरैः स्पृष्टा वसुधाराऽपतद्दिवः ॥९—१९५॥

इस दान का आर्थिक दृष्टि से क्या मूल्य हो सकता है? इक्षु रस यथार्थ मे अमूल्य अर्थात बिना मूल्य का आज भी देखा जाता है। वही अमूल्य रस सचमुच मे अमूल्य अर्थात् जिसके मूल्य की तुलना न की जा सके ऐसे लोकोत्तर पुण्य और गौरव का कारण बन गया। इस प्रसग मे पात्र, विधि, द्रव्य तथा दातारूप सामग्री चतुष्टय अपूर्व थे। त्रिलोकीनाथ को एक वर्ष एक महा तथा नौ दिन (३९९ दिन के उपवास पश्चात् कर्मभूमि के प्रारभ मे प्रथमवार तप के अनुकूल सामग्री अर्पण करने का सौभाग्य श्रेयास महाराज को दान-तीर्थंकर पदवी का प्रदाता हो गया। वह अक्षयफल प्रदाता दिन अक्षय तृतीया के नाम से मगल पर्व बन गया।

दान-तीर्थंकर का गौरव

चक्रवर्ती भरत महाराज ने उस दान के कारण कुमार श्रेयास को महादानपति कहकर सन्मानित किया था। भरतेश्वर कहते हैं —

त्वं दानतीर्थकृच्छ्रेयान त्वं महापुण्यभागसि ॥२०—१२८॥

हे श्रेयास! तुम दान तीर्थके प्रवर्तक दानतीर्थंकर हो। तुम महान पुण्यशाली हो।

हरिवशपुराण में कहा है :—

अर्भ्यार्चिते तपोवृध्यं धर्मतीर्थंकरे गते।
दानतीर्थंकरं देवाः साभिषेकमपूजयन् ॥९—१९६॥

धर्मतीर्थंकर वृषभदेव भगवान की पूजा के पश्चात् ततोवृद्धि

के हेतु प्रस्थान करने के अनंतर देवताओं ने दान-तीर्थंकर महाराज श्रेयांस की अभिषेक पूर्वक पूजा की ।

तीर्थंकरों की पारणा का काल

आगम में लिखा है :—

वर्षेणपारणाद्यस्य जिनेन्द्रस्य प्रकीर्तिता ।
तृतीयदिवसेऽन्येषां पारणा प्रथमा मता ॥६०—२३७ हरिवंशपुराण॥

आदि तीर्थंकर की प्रथम पारणा एक वर्ष के उपरान्त हुई थी । शेष तीर्थंकरों ने तीसरे दिन पारणा की थी ।

अक्षय तृतीया के पूर्व राजकुमार श्रेयांस की जो लौकिक स्थिति थी, उसमें आहार दान के उपरान्त लोकोत्तर परिवर्तन हो गया । अब वे दानशिरोमणि, पुण्यवान नररत्न कहलाने लगे । वे विश्वपूज्य बन गए । महान् आत्माओं का संपर्क अवर्णनीय कल्याणदायी बन जाता है । इस दान की अनुमोदना द्वारा बहुत लोगों ने पुण्य का भण्डार पूर्ण किया ।

निमित्त कारण का महत्व

बाह्य समर्थ उज्ज्वल निमित्त कारण का भी बड़ा महत्व है । महापुराणकार का कथन है :—

दानानुमोदनात्पुण्यं परोपि बहवोऽभजन् ।
यथासाद्य परं रत्नं स्फटिकस्तद्रुचि भजेत् ॥२०—१०७॥

उस तीर्थंकर के दान की अनुमोदना द्वारा बहुत से लोगों ने परम पुण्य को प्राप्त किया था जैसे स्फटिकमणि अन्य उत्कृष्ट रत्न के संपर्क को प्राप्तकर उस रत्न की दीप्ति को धारण करता है ।

जिनकी यह समझ है कि निमित्तकारण कुछ नहीं करता है, उनके संदेह निवारणार्थ आगम में कहा है :—

कारणं परिणामः स्याद् बंधने पुण्यपापयोः ।
बाह्यं तु कारणं प्राहुः आप्ताः कारण-कारणम् ॥२०—१०८॥

पुण्यकर्म तथा पाप कर्म के बन्ध में जीव के भाव कारण है। भगवान ने कहा है कि बाह्य कारण उस परिणाम अर्थात् भाव रूप कारण के कारण है। इससे भावों की पवित्रता के लिए योग्य बाह्य साधनो का भी आश्रय ग्रहण करने में सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

तीर्थंकरों की पारणा

ऋषभनाथ भगवान ने इक्षुरस लिया था, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। शेष तीर्थंकरो ने गोक्षीर से बनाए गए श्रेष्ठ अन्न का आहार किया था। हरिवंशपुराण मे कहा है :—

> **आद्येनेक्षुरसो दिव्यः पारणायां पवित्रितः।**
> **अन्यैर्गोक्षीरनिष्पन्न-परमान्नमलालसैः ॥६०—२३८॥**

क्या दूध सदोष है ?

आजकल कोई-कोई लोग नवयुग के वातावरण से प्रभावित हो दूध को मास सदृश सोचते है। यह दृष्टि असम्यक् है। दूध यदि सदोष होता, तो परम दयालु, सर्व परिग्रह त्यागी तथा समस्त भोगो का भी परित्याग करने वाले तीर्थंकर भगवान उसको आहार मे क्यो ग्रहण करते ? मधुर होते हुए भी मधु को, जीवो का विघातक होने से जैसे जिनागम में त्याज्य कहा है, उसी प्रकार वे त्रिकालदर्शी जिनेन्द्र दूध को भी त्याज्य कह देते। दूध दुहने के बाद अन्तर्मूहूर्त अर्थात् ४८ मिनिट के भीतर उष्ण करने से निर्दोष है, ऐसा जैनाचार-ग्रन्थो में वर्णन है। दूध मे सदोषता होती तो परमागम तीर्थंकर भगवान की मूर्ति के अभिषेक के लिए दूध का क्यो विधान करता ? पद्मपुराण में भगवान के जल, घृतादि के द्वारा अभिषेक का महत्व बताते हुए लिखा है :—

> **अभिषेकं जिनेन्द्राणां विधाय क्षीरधारया।**
> **विमाने क्षीरधवले जायते परमद्युतिः ॥३२—१६६॥**

जो जिनेन्द्र भगवान का दुग्ध की धारा द्वारा अभिषेक करते हैं, वे क्षीर सदृश धवल विमान में जन्म लेकर निर्मल दीप्ति को प्राप्त करते हैं।

हरिवंशपुराण में भी उक्त कथन का इस प्रकार समर्थन किया गया है :—

क्षीरेक्षुरस-धारोघै-घृत-दध्युदकादिभिः।
अभिषिच्य जिनेन्द्रार्चामर्चितां नृसुरासुरैः ॥२२—२१॥

क्षीर तथा इक्षुकी धारा के प्रवाह द्वारा तथा घृत, दधि, जल आदि से जिनेन्द्र देव की अभिषेक पूर्वक जो पूजा करता है, वह मनुष्यों तथा सुरासुरों द्वारा पूजित होता है।

आयुर्वेद का अभिमत

दूध के विषय में आयुर्वेद शास्त्र कहता है, कि भोजन पहले खलभाग रूप परिणत होता है। इसके पश्चात् वह रस रूपता धारण करता है। रस बनने के अनन्तर दूध का रक्त बनता है। धारोष्ण दूध को इसीलिए आयुर्वेद में महत्वपूर्ण कहा है कि वह तत्काल ही शरीर में जाकर रुधिर रुप पर्याय को प्राप्त करता है। दूध को गोरस कहने से भी स्पष्ट होता है कि वह रस रूप पर्याय है। दूध के दुहने से गाय क्षीण नहीं होती, किन्तु रक्त निकालने से उस जीव में क्षीणता आती है, वेदना की वृद्धि होती है। दूध के सेवन से सात्विक भावों का उदय होता है। रुधिर, मांसादि सेवी नर क्रूर परिणामी बन जाते हैं।

दूध में मांस का दोष माना जाय, तो सभी मनुष्य मांसभक्षी व्याघ्र आदि की श्रेणी में आ जावेंगे, क्योंकि बिना दूध पिये बालक का प्रारम्भिक जीवन ही असम्भव है। शरीर रचना की दृष्टि से मनुष्य की समानता शाक तथा फल भोजी प्राणियों के साथ है। मांसभक्षी निरन्तर अशान्त, क्रूर, चंचल तथा दुष्ट स्वभाव वाले होते हैं जबकि दूध के सेवन से ऐसी बात नहीं होती है।

जो दूध को सदोष सोचते हैं, वे पानी भी नही पी सकते ? पानी मे जलचर जीवो का सदा निवास रहता है। उनका जन्म-मरण उसी के भीतर होता है। उनका मल, मूत्रादि भी उसके भीतर हुआ करता है, फिर भी सभी लोग जल को पवित्र मानते हैं। इसी प्रकार गतानुगतिकता या अँध-परंपरा का त्याग कर यदि मनुष्य मस्तिष्क, अनुभव तथा सद्विचार से काम लेगा, तो उसे शुद्ध साधनों द्वारा प्राप्त मर्यादा के भीतर उष्ण किया गया तथा सावधानी पूर्वक शुचिता के साथ सुरक्षित किया गया दूध अभक्ष्य कोटि के योग्य नही दिखेगा।

आश्चर्य की बात

यह देखकर आश्चर्य होता है कि सरासर अशुचि भोजन पान को करते हुए मांसाहार के दोषी लोग अहिंसात्मक प्रवृत्ति वालों के उज्ज्वल कार्यो को भी सकलक सोचते है। उन्हे रात्रि भोजन में दोष नहीं दिखता, अनछने जल के पीने में सकोच नही होता, अशुद्ध अचार आदि के भक्षण करने मे तथा मधु सेवन करने में निर्दोषता दिखती है। मधु की एक बिन्दु भक्षण करने मे जीव घात का महान पाप लगता है, किन्तु वे उसे निर्दोष, बल-दायक मानकर बिना सकोच के सेवन करते हैं, और अपने को अहिंसा व्रती सोचते है।

अहिसा के क्षेत्र में अतिम प्रामाणिक निर्णयदाता के रूप में जिनेन्द्र की वाणी की प्रतिष्ठा है। उस जिनागम के प्रकाश में दूध के विषय मे अभक्ष्यता का भ्रम दूर करना चाहिए। वैसे रस का परित्याग करने वाला व्रती व्यक्ति घी, दूध आदि का त्याग इद्रियजय की दृष्टि से किया करता है।

प्रथम आहार दाता की महिमा

जिनेन्द्र भगवान को प्रथम पारणा के दिन क्षीरादि निर्मित

पदार्थों के दाता नर रत्नों की सर्वत्र स्तुति की गई है । उत्तम पात्र को आहारदाता या तो उसी भव में मोक्ष को प्राप्त करता है या स्वर्ग का सुख भोगकर वह तीसरे भव में मुक्ति को पाता है । भगवान को प्रथम वार आहार देने वाले व्यक्ति के भाव अवर्णनीय उज्ज्वलता प्राप्त करते हैं । इससे वह उत्तम दाता शीघ्र ही तप का शरण ग्रहण कर अपना उद्धार करता है । हरिवंशपुराण में कहा है :—

तपस्थितास्च ते केचित्सिद्धास्तेनैव जन्मना ।
जिनांते सिद्धिरन्येषां तृतीये जन्मनि स्मृता ॥६०—२५२॥

यह तो आध्यात्मिक श्रेष्ठ लाभ है कि दातार मोक्ष को प्राप्त करता है । तत्काल लाभ यह है कि दातार के भवन में अधिक से अधिक साढ़े वारह करोड़ और कम से कम इसका हजारवाँ भाग अर्थात् एक लाख पच्चीस हजार रत्नों की वर्षा होती है ।

सत्पात्र के दान की अपार महिमा है । पंचाश्चर्य सत्पात्र को आहार के दान में ही होते हैं । इससे इसकी महत्ता इतर दानों की अपेक्षा स्पष्ट ज्ञात होती है । इसका कारण यह है कि इस आहारदान से वीतराग मुनीन्द्रों की रत्नत्रय परिपालना में विशिष्ट सहायक उनके पवित्र शरीर का रक्षण होता है । गृहस्थ स्वयं श्रेष्ठ तप नहीं कर पाता है, किंतु न्याय पूर्वक अपने प्राप्त द्रव्य के द्वारा वह महाव्रती का सहायक बनता है । इस कारण पात्र दान द्वारा गृहस्थ के षट्कर्मों अर्थात् असि, मषी, कृषि, शिल्प, वाणिज्य, पशुपालन तथा चक्की, चूल्हादि पँचसूना क्रियाओं द्वारा अर्जित महान दोषों का क्षय होता है ।

आहारदान का महत्व

आहार दान को महत्व प्रदान करने का एक कारण यह भी है कि तीर्थंकर भगवान जैसे श्रेष्ठ पात्र की सेवा केवल आहार दान द्वारा ही संभव है । उनको औषधि, शास्त्र तथा अभयदान कौन देगा ? शरीर नीरोग रहने से औषधि का प्रयोजन नहीं, स्वयं महान ज्ञानी होने से शास्त्र दान कीभी उयोपगत्ता नहीं प्रतीत होती, स्वयं शरणा-

गतो को अभयप्रदाता परम प्रभु को कौन अभय देगा ? आहार दान तो प्राय प्रत्येक दिन सभाव्य है ।

किसी असयमी को भोजन कराने का वह महत्व नही है, जो सयमी महान पुरुप को पवित्र भावो सहित आहारदान का है । सयमी आत्मा मे अपार आत्म सामर्थ्य रहती है । उसके प्रभाव से आहारदान द्वारा सयम में प्रकारान्तर से सहयोग देने वाले को स्वभावत महान लाभ होगा । श्रावक के लिए सत्पात्रदान मुख्य कार्य बताया गया है । भगवान की पूजा करना तथा पात्रदान देना गृहस्थ के आवश्यक कर्तव्य कहे गए है । इनके बिना वास्तव मे श्रावक नही कहा गया है । यदि श्रावक पात्रदान के कर्तव्य को भूल जाय, तो मुनिपद का निर्वाह किस प्रकार होगा ? द्यानतराय जी ने ठीक ही लिखा है, 'बिन दान श्रावक साधु दोनो लहे नाँहि बोध को' ।

मुक्तिपुरी का प्रवेश द्वार

कुछ लोग सत्पात्रदान के आतरिक रहस्य तथा सौन्दर्य को न समझ यह सोचते है कि इस दान के द्वारा पुण्यकर्म का बध होता है । इसमे मोक्ष नही मिलता, अत यह उपादेय नही है । इस विकृत विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाला महाराज श्रेयाँसकुमार के जीवन पर दृष्टि डाले और समझे कि इस सत्पात्र दान मे कितना रस है ? लौकिक श्रेष्ठ अभ्युदय, प्रतिष्ठादि प्राप्ति के पश्चात् सकल सयम का शरण लेकर दानशिरोमणि श्रेयाँस राजा कर्मक्षय कर सिद्ध भगवान बने । दान के माध्यम से गृहस्थ सत्पुरुषो के निकट सपर्क में आता है और जिस प्रकार पारस के सपर्क से लोहा सुवर्ण बनता है, उसी प्रकार लोह सदृश पतित प्राणी पारस रूप सत्पुरुष के संपर्क द्वारा क्रमश. उन्नति करता हुआ परज्योति परमात्मा बनता है । आरभ और परिग्रह के मध्य निमग्न गृहस्थ के लिए पुण्य-पाप बध को त्याग कर वीतरागता प्राप्त करना शक्य नही है । यदि माया जाल के मध्य रहते हुए भी गृहस्थ कर्मजाल काट सकता, तो तीर्थंकर भगवान

साम्राज्यादि का परित्याग कर क्यों दिगम्बर साधु बनते ? अतएव गृहस्थ का कर्तव्य है कि मुक्ति की उपलब्धि को जीवन का केन्द्र बिन्दु मानकर उस ओर आगम के अनुसार प्रवृत्ति करे। अनुभवी तथा सिद्धहस्त व्यक्तियों का मार्ग दर्शन छोड़कर अज्ञानी, अविवेकी तथा अतत्वज्ञ का अवलंबन स्वीकार करने वाला संसार-सिंधु के मध्य डूबे विना नहीं रहता।

दान द्वारा जनहित

इस कारण चतुर गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह सत्पात्र दान के विषय में अत्यधिक उत्साह धारण करे। श्रावक के सप्तशीलों में अतिथि-संविभाग नामक व्रत बताया गया है। यदि गृहस्थ इस बात के महत्व को समझकर विवेक पूर्वक द्रव्यादि का उपयोग करे तो जगत् में संपन्न वर्ग तथा निर्धनवर्ग के बीच जो क्रूर संघर्ष प्रारम्भ हुआ है, उसका मधुर रूप में परिणमन हो सकता है।

स्वामी समंतभद्र की यह वाणी कितनी मार्मिक तथा अर्थवती है :—

उच्चै र्गोत्रं प्रणते र्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥११५॥ रत्नकरंड श्रावकाचार

तपोनिधि साधुओं को प्रणाम करने से उच्चगोत्र, दान देने से भोग्य सामग्री की विपुलता, उनकी उपासना से पूजा, भक्ति करने से सुन्दर रूप तथा उनकी स्तुति करने से कीर्ति की प्राप्ति होती है।

बुद्धिमान मनुष्य का कर्तव्य है कि साधुओं को प्रणाम करे, उनकी उपासना करे, भक्ति करे तथा स्तवन करे। इन कार्यों के फल स्वरूप उसे उपरोक्त समस्त सदगुणों तथा विशेषताओं की उपलब्धि होगी।

अनुमोदना का सुफल

जो व्यक्ति सत्पात्रों के दान की हृदय से अनुमोदना करते

है, वे भी सुफल को प्राप्त करते है । भगवान वृषभनाथ के जीव ने राजा वज्रजघ की पर्याय मे जो चारण मुनियुगल को आहारदान दिया था, उनकी अनुमोदना नकुल, सिंह, वानर तथा शूकर के जीवों ने की थी, उस अनुमोदना के कारण वे चारो जीव उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न हुए थे । महापुराण मे बताया है कि इन पशुओं को जातिस्मरण हो गया था । इससे उनके भाव ससार से बहुत ही विरक्त हो गए थे । चारणमुनि दमवर स्वामी ने भगवान ऋषभदेव के जीव वज्रजंघ से कहा था —

भवद्दानानुमोदेन बद्धायुष्काः कुरुष्वमी ।
ततोऽमीभी तिमुत्सृज्य स्थिता धर्मश्रवार्थिनः ।।८--२४३।।

राजन् ! आपके दान की अनुमोदना करने से इन नकुल, वानर, सिह तथा शूकर ने उत्तम भोगभूमि की आयु बध किया है, इस कारण ये धर्म श्रवण करने की इच्छा से यहाँ निर्भय होकर बैठे है .—

इतोऽष्टमे भवे भाविन्यपुनर्भवतां भवान् ।
भविताऽमी च तत्रैव भवे सेत्स्यन्त्यसंशयम् ।।२४४।।

इस भव से आगामी आठवें भव में तुम तीर्थंकर वृषभनाथ होकर मोक्ष प्राप्त करोगे और उसी भव मे ये सब भी निश्चय से सिद्ध होगे ।

श्रीमती च भवत्तीर्थे दानतीर्थप्रवर्तकः ।
श्रेयान् भूत्वा परंश्रेयः श्रयिष्यति न संशयः ।।२४६।।

श्रीमती का जीव भी आपके तीर्थ में दानतीर्थ का प्रवर्तक राजा श्रेयास होकर उत्कृष्ट कल्याण रूप मोक्ष को प्राप्त करेगा इसमें सशय नही है ।

इस वर्णन से धर्मात्मा व्यक्ति की समझ मे यह बात आ जायेगी कि पात्रदान तथा उसकी अनुमोदना के द्वारा वज्रजंघ, श्रीमती तथा सिंह आदि ने महान् पुण्य का बँध करके भोगभूमि आदि मे अपूर्व सुख भोग और क्रमशः उन्नति कर उन सबने मोक्ष-पदवी प्राप्त की,

इसलिए उनके समान उज्ज्वल पुण्य के संग्रह में विवेकी गृहस्थों को प्रवृत्ति कल्याणकारी है; क्योंकि इससे उक्त जीवों के समान यह आत्मा विकास को प्राप्त कर निर्वाण अवस्था को प्राप्त कर सकेगा। मिथ्यादृष्टि भी सत्पात्रदान की हार्दिक अनुमोदना करके उत्तम भोगभूमि में अपार सुख प्राप्त करता है। मुनिभक्ति की बड़ी महिमा है।

आत्म-निरीक्षण

आश्चर्य की बात है कि मनुष्य आत्म निरीक्षण कर सत्यता पूर्वक यह सोचने का प्रयत्न नहीं करता, कि मैं हिंसा, माया, असत्य, प्रमादादि की मलिनता में डूब रहा हूँ तथा जीवन दीप बुझने के बाद अपनी असत् प्रवृत्ति तथा आर्तध्यान–रौद्रध्यान के फलस्वरूप तिर्यंच-गति की निपट अज्ञानी की स्थिति में पहुंचूंगा, अथवा अनन्त दुःखों से पूर्ण नरक में निवास करूंगा। यह विचारकर बड़ी व्यथा होती है, कि आजकल पढ़कर आदमी आदर्श जीवन बनाने से विमुख होकर दूसरों को ठगने के साथ साथ अपने आपको ही ठगते संकोच नहीं करता। असत् तर्क का आश्रय ले यह अपनी स्वच्छन्द पापमयी प्रवृत्तियों पर परम पवित्र अध्यात्मवाद का मनोहर आवरण डालता हुआ ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कोई मूढ़ अपने शरीर के भयंकर फोड़े की पीप आदि जहरीली सामग्री को बिना साफ किए ऊपर से सुन्दर दिखनेवाला वस्त्र पहिनकर उसे ढांक ले। इस प्रक्रिया से वह घाव और भयंकररूप होता है। इसी प्रकार पुण्य के साधनों में दोषदर्शन करता हुआ तथा उनको छोड़कर पाप कार्यों में निमग्न रहने वाला गृहस्थ ऐसा ही विचार विहीन है, जैसे पानी को छोड़कर पेट्रोल राशि द्वारा शरीर को स्वच्छ करने के साथ अग्नि के समीप बैठने वाला व्यक्ति, जो क्षण भर में अपनी विचार शून्यता के कारण जलकर भस्म हो जाता है।

अमंगल प्रवृत्ति

आज के युग मे भोग-विलास की सामग्री प्रचुर रूप मे मनुष्य का धन ले लेती है । परोपकार, दान, पुण्य के लिए उसके पास देने योग्य द्रव्य कठिनता से बच पाता है; ऐसी स्थिति में भी जो भक्तिपूर्वक पात्रदानादि कार्य करते है, वे यथार्थ मे स्तुति के पात्र है । किन्तु ऐसे सात्विक दान देनेवालो को देखकर कोई-कोई उनकी अनुमोदना के बदले मन में कुढते है, दु खी होते है और उस दान की निन्दा करते है । पाप कार्यो मे पानी की तरह पैसे का बहाया जाना इन लोगो को कष्ट नही देता, क्योकि ऐसा करना उनको अपनी प्रतिष्ठा के अनुरुप लगता है ।

असात्विक कार्यो मे अपनी धनसम्पत्ति का व्यय करने वाला रत्नत्रयधारी मुनीन्द्रों की योग्य सेवा, परिचर्या में द्रव्य-व्यय का आनन्द नही जानता । कुगति मे जाने वाले जीव के भाव तथा आचरण धर्म तथा धर्मात्माओ के प्रतिकूल हुआ करते हैं । नीचगति मे जाने वाले प्राणी बहुत है, सुगति मे जाने वालो की संख्या न्यून है, इसलिए हिसा, माया, लोभादि के पथ मे प्रवृत्त होने वाले अधिक मिलते है और आज के कलिकाल मे ऐसो की वृद्धि दु ख अवश्य पैदा करती है, किन्तु उसे देखकर आश्चर्य नही होता ।

यदि इस काल मे लोग अधर्म की ओर प्रवृत्ति न करे, तो फिर यह दुषमा काल ही क्यो कहा जाता ? जीव की अधर्म की ओर प्रवृत्ति के लिये प्रेरणाप्रद प्रचुर सामग्री यत्र-तत्र मिलती है । पूर्व में कुदान, कुतप करने के फलसे आज पापमयी जीवन बिताते हुए भी धन वैभव सम्पन्न लोगो को देखकर भ्रमवश लोग यह मान बैठते है, कि सदाचार का कोई मूल्य नही है । बेचारी शीलवती सती कष्टपूर्वक जीवन निर्वाह कर पाती है और हीनाचरण वाली ललनाएँ विलासी पुरुषो के कारण वैभव के साथ सुखी और समृद्ध दिखाई पडती है । ऐसी ही अन्यत्र भी विचित्र दशा दिखाई पडती है ।

ऐसी स्थिति में सद्धर्म में श्रद्धा रखकर सत्पात्रदानादि में अपनी सम्पत्ति आदि का उपयोग करने वाले व्यक्ति विरले हैं। उनका भविष्य उज्ज्वल है और पाप प्रवृत्तियों में लगे लोगों का जीवन भावी पतन का निश्चायक है। प्रायः देखा जाता है कि असदाचार के मार्ग में लगने वाले जीव की इसी जन्म में दुर्गति हुआ करती है। अतः सज्जन पुरुषों को सत्कार्य में सदा तत्पर रहना चाहिये।

अधर्म से पतन

आगामी जीवन के विषय में सर्वज्ञ प्रणीत आगम कहता है; धर्म के द्वारा आत्मा उर्ध्वगमन करता है तथा अधर्म द्वारा उसका नरकादि गतियों में पतन होता है :—

धर्मेणात्मा व्रजत्यूर्ध्वम्, अधर्मेण पतत्यधः ॥१०—११॥

नरक गति में जाकर दुःख भोगने वाले कौन जीव हैं इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महापुराणकार ने लिखा है कि साधु वर्ग के प्रति दोष लगाने वाले, उनसे द्वेष करने वाले आदि जीवों का नरक में पतन होता है।

सत्पुरुषों की निंदा से घोर पाप

आजकल त्यागी तथा मुनि निन्दा के कार्य में अल्पज्ञ ही नहीं, पतित जीवनवाले बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ भी गर्व के साथ प्रवृत्त होकर जन-साधारण के मन को मलिन बनाते हैं। हमें समाज में गौरव प्राप्त ज्ञानमद, तथा प्रभुता के मदवाले ऐसे अनेक व्यक्ति मिले, जो किसी साधु का परिचय बिना प्राप्त किए ही अपनी मुखरूपी बाँबी से दुष्ट वचन रूपी विषधर को निकाला करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि इसका आगे क्या फल होगा?

उग्रतपस्वी १०८ चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शाँतिसागर महाराज ने एक बार कहा था, कि लोग साधु निंदा का क्या दुष्परिणाम होता

है, इसे भूल जाते हैं। साधु का जीवन तो गाय के समान है। उस निरपराधी साधु की यदि कोई निन्दा करता है तो वह उसका प्रत्युत्तर न देकर उसको शांत भाव से सहन करता है।

चेतावनी

महापुराणकार की यह चेतावनी ध्यान देने योग्य है :—'ते नरा पापभारेण प्रविशंति रसातलम्'—वे पुरुष कौन हैं जो पाप के भार से रसातल में (नरक में) पहुँचते हैं? इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं —

ये च मिथ्यादृशः क्रूरा रौद्रध्यानपरायणाः।
सत्वेषु निरनुक्रोशाः बह्वारम्भपरिग्रहाः ॥१०—२३॥
धर्मद्रुहश्च ये नित्यम् अधर्मपरिपोषकाः।
दूषकाः साधुवर्गस्य मात्सर्योपहताश्च ये ॥२४॥
रुष्यन्त्यकारणं ये च निर्ग्रन्थेभ्योऽतिपातकाः।
मुनिभ्यो धर्मशीलेभ्यो मधुमांसाशने रताः ॥२५॥
वधकान् पोषयित्वान्यजीवानां येऽतिनिर्घृणाः।
खादका मधुमांसस्य तेषां ये चानुमोदकाः ॥२६॥

जो मिथ्यादृष्टि हैं, रौद्रध्यान में तत्पर हैं, प्राणियों में सदा निर्दय रहते हैं, बहुत आरम्भ और परिग्रह रखते हैं, सदा धर्म से द्रोह करते हैं, अधर्म में संतोष रखते हैं, साधुओं की निन्दा करते हैं, मात्सर्य संयुक्त हैं, धर्म सेवन करने वाले परिग्रहरहित मुनियों से बिना कारण ही क्रोध करते हैं, अतिशय पापी हैं, मधु और माँस खाने में तत्पर हैं, अन्य जीवों की हिंसा करने वाले कुत्ता, बिल्ली आदि पशुओं को पालते हैं, अतिशय निर्दय हैं, स्वयं मधु, माँस खाते हैं और उनके खाने वालों की अनुमोदना करते हैं; वे जीव पाप के भार से नरक में प्रवेश करते हैं।

निंदनीय प्रवृत्ति

कुछ लोग प्रसन्नतापूर्वक साधुओं का अवर्णवाद करते हैं,

उनपर मिथ्या दोष लगाते हैं। कभी अल्प दोष होता है तो उसे बढ़ाकर प्रचार करते हैं। एक बार देखे दोष का प्रायश्चित्त लेने पर भी ये साधु को जीवन भर उस दोष से लिप्त मानते हैं। ऐसे लोग कहते हैं हम समालोचना मात्र करते हैं। हमारा भाव निन्दा का नहीं है। यथार्थ में यह आत्मवंचना है।

ऐसे सज्जन यह सोचें, कि क्या स्थितिकरण और उपगूहन अंगों का अर्थ यही मानना उचित है, कि पत्रों में साधुओं के विरुद्ध मन माने दूषण छापते जावें और यह कहते जावें कि उससे धर्म को कोई क्षति नहीं पहुँचती। जननी और जनक में अपनी संतति के प्रति जिस ममतामयी दृष्टि का सद्भाव रहता है, क्या ऐसी दृष्टि इन लोगों की रहती है, जो गुण पर पर्दा डालकर बुराई को ही बढ़ाकर साधुओं को लांछित करते हैं? कभी कषायोदयवश किसी साधु में कोई दोष आ गया, तो बाल-चिकित्सक के समान ऐसे साधुओं की कुशल धर्मात्मा द्वारा अंतरङ्ग चिकित्सा करानी चाहिए। ऐसा न कर पत्रोंमें निंदा छापनेसे वीतराग संस्कृतिके विपक्षी लोग अहिंसा धर्मका उपहास करते हैं। यह बात ये महानुभाव नहीं सोचते; यह दुःख की बात है।

श्रेणिक का उदाहरण

साधु परमेष्ठी के महत्व को भूलने वाले ये पढ़े लिखे निंदक महानुभाव कृपा कर महामंडलेश्वर राजा श्रेणिक के उदाहरण को दृष्टि पथ में रखें तो उचित हो। मिथ्यात्व की अवस्था में श्रेणिक राजा ने[1] यशोधर मुनिराज के गले में मरा सर्प डाला था, इस दुष्ट कार्य के कारण श्रेणिक ने नरकायु का बन्ध किया था। वह बन्ध तीर्थंकर महावीर प्रभु के समवशरण में बहुत समय तक रहने पर भी छूट नहीं

१ कृतो मुनिवधानंदस्तीव्रो मिथ्यादृशा मया।
येनायुष्कर्म दुर्मोचं बद्धं श्वाभ्रीं गतिं प्रति ॥महापुराण २-२४॥

है, इसे भूल जाते है । साधु का जीवन तो गाय के समान है । उस निरपराधी साधु की यदि कोई निन्दा करता है तो वह उसका प्रत्युत्तर न देकर उसको शांत भाव से सहन करता है ।

चेतावनी

महापुराणकार की यह चेतावनी ध्यान देन योग्य है —'ते नरा. पापभारेण प्रविशति रसातलम्' —वे पुरुष कौन है जो पाप के भार से रसातल मे (नरक मे) पहुँचते हैं ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते है —

ये च मिथ्यादृशः क्रूरा रौद्रध्यानपरायणाः ।
सत्वेषु निरनुक्रोशाः बह्वारम्भपरिग्रहाः ॥१०—२३॥
धर्मद्रुहश्च ये नित्यम् अधर्मपरिपोषकाः ।
दूषकाः साधुवर्गस्य मात्सर्योपहताश्च ये ॥२४॥
रुष्यन्त्यकारणं ये च निर्ग्रन्थेभ्योऽतिपातका ।
मुनिभ्यो धर्मशीलेभ्यो मधुमांसाशने रताः ॥२५॥
वधकान् पोषयित्वान्यजीवानां येऽतिनिर्घृणाः ।
खादका मधुमासस्य तेषां ये चानुमोदकाः ॥२६॥

जो मिथ्यादृष्टि है, रौद्रध्यान मे तत्पर हैं, प्राणियो में सदा निर्दय रहते है, बहुत आरम्भ और परिग्रह रखते हैं, सदा धर्म से द्रोह करते है, अधर्म मे सतोष रखते हैं, साधुओ की निन्दा करते है, मात्सर्य सयुक्त है, धर्म सेवन करने वाले परिग्रहरहित मुनियों से बिना कारण ही क्रोध करते है, अतिशय पापी है, मधु और माँस खाने मे तत्पर है, अन्य जीवों की हिसा करने वाले कुत्ता, बिल्ली आदि पशुओं को पालते है, अतिशय निर्दय हैं; स्वयं मधु, माँस खाते हैं और उनके खाने वालो की अनुमोदना करते हैं; वे जीव पाप के भार से नरक में प्रवेश करते हैं ।

निंदनीय प्रवृत्ति

कुछ लोग प्रसन्नतापूर्वक साधुओ का अवर्णवाद करते है,

उनपर मिथ्या दोष लगाते हैं। कभी अल्प दोष होता है तो उसे बढ़ाकर प्रचार करते हैं। एक बार देखे दोष का प्रायश्चित्त लेने पर भी ये साधु को जीवन भर उस दोष से लिप्त मानते हैं। ऐसे लोग कहते हैं हम समालोचना मात्र करते हैं। हमारा भाव निन्दा का नहीं है। यथार्थ में यह आत्मवंचना है।

ऐसे सज्जन यह सोचें, कि क्या स्थितिकरण और उपगूहन अंगों का अर्थ यही मानना उचित है, कि पत्रों में साधुओं के विरुद्ध मन माने दूषण छापते जावें और यह कहते जावें कि उससे धर्म को कोई क्षति नहीं पहुँचती। जननी और जनक में अपनी संतति के प्रति जिस ममतामयी दृष्टि का सद्भाव रहता है, क्या ऐसी दृष्टि इन लोगों की रहती है, जो गुण पर पर्दा डालकर बुराई को ही बढ़ाकर साधुओं को लांछित करते है? कभी कषायोदयवश किसी साधु में कोई दोष आ गया, तो बाल-चिकित्सक के समान ऐसे साधुओं की कुशल धर्मात्मा द्वारा अंतरङ्ग चिकित्सा करानी चाहिए। ऐसा न कर पत्रोंमें निंदा छापनेसे वीतराग संस्कृतिके विपक्षी लोग अहिंसा धर्मका उपहास करते हैं। यह बात ये महानुभाव नहीं सोचते; यह दुःख की बात है।

श्रेणिक का उदाहरण

साधु परमेष्ठी के महत्व को भूलने वाले ये पढ़े लिखे निंदक महानुभाव कृपा कर महामंडलेश्वर राजा श्रेणिक के उदाहरण को दृष्टि पथ में रखें तो उचित हो। मिथ्यात्व की अवस्था में श्रेणिक राजा ने[1] यशोधर मुनिराज के गले में मरा सर्प डाला था, इस दुष्ट कार्य के कारण श्रेणिक ने नरकायु का बन्ध किया था। वह बन्ध तीर्थंकर महावीर प्रभु के समवशरण में बहुत समय तक रहने पर भी छूट नहीं

१ कृतो मुनिवधानंदस्तीव्रो मिथ्यादृशा मया।
येनायुष्कर्म दुर्मोचं बद्धं श्वाभ्रीं गतिं प्रति॥महापुराण २-२४॥

सका । वीतराग, शात, निस्पृह, निर्ग्रन्थ साधुग्रों में विलक्षण शक्ति का सद्भाव पाया जाता है । इनकी भक्ति वाला जीव स्वयमेव उन्नति को प्राप्त करता है, तथा निंदक समृद्ध होते हुए भी शनैःशनैः पतन को प्राप्त करता है ।

मुनियों द्वारा अपार हित

उत्तरपुराण मे बताया है कि महावीर तीर्थकर का जीव बहुत भव पहले पुरुरवा भील था । वह सागरसेन मुनि को देखकर उनका वध करने को तत्पर था, कि उसकी स्त्री कालिका ने कहा 'वनदेवाश्चरतीमे मावधी' (७४ पर्व, १८)-ये वन देवता है । इनका वध नही करना चाहिए । इस प्रकार उस पाप कार्य को त्यागकर वह पुरुरवा उन मुनिराज के पास गया ग्रौर उसने उनसे मद्य, माँस तथा मधु त्याग रूप व्रत लिए थे । इस प्रकार उस पतित ग्रात्मा का उद्धार दिगम्बर जैन साधु के निमित्त से हुग्रा था । इस तरह इन मुनियो के द्वारा गणनातीत जीवो का कल्याण होता है । उन पावन-मूर्ति दया के देवताग्रों के प्रति वात्सल्य तथा भक्ति कल्याणदायी है ।

स्वामी समन्तभद्र ने स्थितीकरण का लक्षण करते हुए लिखा है, कि यह कार्य धर्म-वत्सल प्राज्ञ पुरुष करते हैं । विकृत मनवाले मानव की ग्रंतर्चिकित्सा बालबुद्धि व्यक्ति द्वारा सम्भव नही है । उस हृदय शुद्धि के कार्य को करने वाला धर्म प्रेमी तथा बुद्धिमान (धर्मवत्सलै. प्राज्ञै) होना चाहिए । ग्रयोग्य व्यक्ति यदि चिकित्सा कार्य मे प्रवृत्त होता है, तो उससे ग्रहित ग्रधिक होता है । ग्राज जो भी निन्दापूर्ण लेख लिखने में कुछ प्रवीणता धारण करता है, वह साधु की त्रुटि को देखकर घाव पर बैठने वाली मक्खी की तरह पीडा देने के साथ घाव को बढाने का कार्य करता है ।

सज्जनों का कर्तव्य

सत्पुरुषों को विषधरों से डरना नहीं चाहिए। नागदमनी रूप जिनभक्ति का आश्रय ले आत्म शुद्धि के मार्ग में उन्नति करते जाना चाहिये। जिसके हृदय में वीतराग की भक्ति है, आगम की श्रद्धा है, यथार्थ में उसका कोई भी बिगाड़ नहीं कर सकता है।

आचार्य मानतुंग का यह पद्य बहुत प्रेरणादायी है :—

सम्पूर्णमण्डलशशांककलाकलाप-।
शुभ्रगुणास्त्रिभुवनं तव लंघयन्ति॥
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वरनाथमेकम्।
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम्॥१४॥

हे ऋषभनाथ भगवान ! पूर्णचन्द्रमा की कलाओं के समान आपके निर्मल गुण त्रिलोक को लाँघते हैं—तीन लोक में व्याप्त हो जाते हैं। जिन्होंने त्रिभुवन के स्वामी एक आपका शरण ग्रहण किया है, उनको इच्छानुसार संचरण करते हुए कौन रोक सकता है?

इस विषय में इतना ही लिखना उचित प्रतीत होता है कि विवेक के प्रकाश में वात्सल्य दृष्टि को सजग रखते हुए सत्पुरुषों को साधु-भक्ति और सेवा द्वारा अपने जीवन को सफल बनाते हुए जिनदेव से प्रार्थना करना चाहिए कि उनकी भक्ति के प्रसाद से संयमी की सेवा के प्रसाद रूप में स्वयं का जीवन भी उस साम्य भाव से अनुप्राणित हो वीतरागवृत्ति की ओर अग्रसर हो।

शरीर निग्रह द्वारा ध्यान-सिद्धि

भगवान ने कठोर से कठोर तपोग्नि में कर्मों को नष्ट करने का महान उद्योग अंगीकार किया था। इसमें संदेह नहीं है कि मनोजय के द्वारा कर्मों का क्षय होता है। उस मन को इन्द्रियों के द्वारा विकार-वर्धक सामग्री प्राप्त होती है। शरीर द्वारा कठोर तप करने से उन्मत्त इन्द्रियाँ शांत हो जाती हैं। आचार्य कहते हैं कि भगवान ने घोर

१०

तपश्चरण किया था। इसका कारण यह है :—

निगृहीतशरीरेण निगृहीतान्यसशयम्।
चक्षुरादीनि रुद्धेषुतेषुरुद्ध मनो भवेत् ॥२०—१७६॥
मनोरोधः परं ध्यानं तत्कर्मक्षयसाधनम्।
ततोऽनन्तसुखाप्ति' ततः कायं प्रकर्शयेत् ॥२०—१८०॥

निश्चयसे शरीर का निग्रह होने से चक्षु आदि सभी इन्द्रियो का निग्रह हो जाता है और इन्द्रियो का निग्रह होने से मन का निरोध होता है। मन का निरोध होना ही उत्कृप्ट ध्यान कहलाता है तथा यह ध्यान ही समस्त कर्मो के क्षय का साधन है। समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से अनन्त सुख की प्राप्ति होती है; इसलिए शरीर को कृश करना चाहिए।

शरीर को स्थूल बनाने योग्य सुमधुर सामग्री प्रदान करने से आत्मा की निधि को प्रमाद रूपी चोर लूटने लगते है। शरीर की रक्षा इसलिए आवश्यक है कि उसके द्वारा तप होता है। यथार्थ मे साधु आत्मशक्ति की वृद्धि को मुख्य लक्ष्य बनाते हुए शरीर को योग्य सामग्री प्रदान करते है। पूज्यपाद स्वामी का यह कथन गम्भीर अनुभव पर प्रतिष्ठित है कि जीव का कल्याण तथा शरीर का हित इन दोनों मे सघर्ष होता है, क्योकि :—

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥१६॥

जिस तपश्चर्या के द्वारा जीव का कल्याण होता है, उसके द्वारा शरीर की भलाई नही होती। जिसके द्वारा शरीर को लाभ पहुचता है, उसके द्वारा आत्मा का हित नही होता।

भगवान की वृत्ति

निर्ग्रन्थ भगवान वृषभदेव मुमुक्षु है। ससार के अनत दु.खो से छूटकर अपने स्वरूप को प्राप्त करना चाहते है। इस कारण वे कर्मों को जलाने में तत्पर है।

कर्मेन्धनानि निर्दग्धुं उद्यतः स तपोग्निना ।
दिदीपे नितरां धीरः प्रज्वलन्निव पावकः ।।२०—१८५।। महापुराण

वे वृषभदेव तीर्थंकर तप रूपी अग्नि के द्वारा कर्म रूपी ईंधन को जलाने को उद्यत हुए । अतः वे धीर प्रभु अत्यन्त देदीप्यमान अग्नि के समान शोभायमान होते थे । उस समय भगवान असंख्यात गुण-श्रेणी रूप कर्मों की निर्जराकर रहे थे । वे भगवान भिन्नभिन्न निर्जन स्थलों पर जाकर आत्मध्यान किया करते थे ।

कदाचित् गिरिकुंजेषु कदाचिद् गिरिकन्दरे ।
कदाचिच्चाद्रिशृंगेषु दध्यावध्यात्म-तत्ववित् ।।२०—२११।।

अध्यात्मतत्व के ज्ञाता वे प्रभु कभी पर्वत के लतागृहों में, कभी गिरिगुहाओं में, कभी पर्वत की शिखरों पर ध्यान किया करते थे ।

जिनसेन आचार्य कहते हैं :—

मौनी ध्यानी स निर्मानी देशान् विहरन् शनैः ।
परं पुरिमतालाख्यं सुधीरन्येद्यु रासदत् ।।२०—२१८।।

अपूर्व ध्यान

मौनी, ध्यानी, निर्मानी वे बुद्धिमान भगवान धीरे-धीरे अनेक देशों का विहार करते हुए एक दिन पुरिमतालपुर नाम के नगर के समीप पहुँच गए ।*

वहाँ वे नगर के समीपवर्ती शकट नामके उद्यान के वट वृक्ष के नीचे पूर्व दिशा की ओर मुख करके एक शिला पर ध्यान के हेतु विराजमान हो गए । उन्होंने सिद्ध परमेष्ठी के अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य, सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व और अगुरुलघुत्व इन गुणों का ध्यान किया । इतने लम्बे अभ्यास के द्वारा प्रभु का मनोबल अत्यन्त वर्धमान हो चुका है ।

*हरिवंशपुराण में नगर का नाम पूर्वतालपुर तथा उद्यान का शकटास्य नाम आया है । (सर्ग ६, २०५) ।

मोह से महायुद्ध

अब वे मोह शत्रु का पूर्णतया सहार करने का प्रयत्न कर रहे हैं। वे प्रभु पहले भी मोहनीय कर्म से युद्ध कर चुके हैं। इस भव से दो भव पहले वे वज्रनाभि चक्रवर्ती थे। उस समय उन्होंने अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर के पादमूल मे निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर षोडश कारण भावनाओं का चितवन किया था। महापुराण मे कहा है —

ततोऽसौ भावयामास भावितात्मा सुधीरधीः।
स्वगुरोर्निकटे तीर्थकृत्वस्यागानि षोडशः ॥११—६८॥

आत्मा का चितवन करने वाले धीरवीर वज्रनाभि मुनिराज ने अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर के निकट तीर्थंकरत्व के कारण सोलह कारण भावनाओं का चितवन किया था।

विशुद्धभावनः सम्यग् विशुध्यन् स्वविशुद्धिभिः।
तदोपशमकश्रेणी-मारुरोह मुनीश्वर. ॥८६॥

विशुद्ध भावना वाले उन मुनीश्वर ने आत्म विशुद्धि को भली प्रकार बढाते हुए उपशम श्रेणी पर आरोहण किया। अतर्मुहूर्त पर्यन्त उन्होंने उपशांत मोह अवस्था का अनुभव किया। पश्चात् वहाँ से च्युत होकर वे स्वस्थान अप्रमत्त गुणस्थान मे आ गए। ग्यारहवे गुणस्थान मे उन्होंने आरोहण किया था, क्योंकि उन्होंने मोहनीय कर्म का उपशमन किया था, क्षय नहीं किया था। इसके बाद दूसरी बार भी वे ग्यारहवे गुणस्थान को पहुँचे [illegible] वहाँ पहुँचने के पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई थी। इससे उ [illegible] हुआ था। आचार्य जिनसेन का कथन है :

द्वितीयवार मा [illegible]

नाम के ग्यारहवें गुणस्थान में उन्होंने प्राण विसर्जन कर सर्वार्थसिद्धि में जाकर अहमिन्द्रता प्राप्त की थी।

इस प्रकार शुक्लध्यानी, शुद्धोपयोगी उन प्रभु का दो बार मोहनीय कर्म से युद्ध हो चुका था। मोहनीय का पूर्ण क्षय न करने के कारण ये सर्वार्थसिद्धि में तेतीस सागर पर्यन्त अहमिन्द्र रहे। गोम्मटसार कर्मकाँड की गाथा ५५६ की संस्कृत टीका में लिखा है:—

उपशांतगुणश्रेण्यां येषां मृत्युः प्रजायते।
अहमिन्द्रा भवन्त्येते सर्वार्थसिद्धिसद्मनि ॥ पृष्ठ ७६२॥

उपशांत–कषाय गुणस्थान में जिनकी मृत्यु होती है, वे सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र होते हैं।

मोह के मूलोच्छेद का उद्योग

अब मोहनीय कर्म को जड़-मूल से नष्ट करने के लिए भगवान ने विशेष प्रकार की सामग्री एकत्रित की थी। एक कुशल शासक के रूप में उन्होंने विशेष प्रकार के योद्धा का रूप धारण किया था:—

शिरस्त्राणं तनुत्रं च तस्यासीत् संयमद्वयम्।
जैत्रमस्त्रंच सद्ध्यानं मोहारातिं विभित्सतः ॥२०—२३५॥

भगवान ने मोहशत्रु के क्षय करने के लिए इंद्रिय संयम को शिर की रक्षा करने वाला टोप और प्राणिसंयम को शरीर रक्षक कवच बनाया था। उत्तम ध्यान को जयशील अस्त्र बनाया था।

अंतर्युद्ध का चित्रण

ध्यान के द्वारा कर्म शत्रुओं का पर-प्रकृतिरूप संक्रमण हो रहा था। कर्मों की शक्ति क्षीण हो रही थी। अब भगवान ने क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने की पूर्ण तैयारी कर ली। क्षायिक सम्यक्त्वी होने से मोहनीय की अनंतानुबंधी चतुष्क तथा दर्शन-मोहत्रिक इन सात प्रकृतियों का क्षय हो चुका था। उन्होंने सातिशय अप्रमत्त गुण

मोह से महायुद्ध

अब वे मोह शत्रु का पूर्णतया संहार करने का प्रयत्न कर रहे हैं। वे प्रभु पहले भी मोहनीय कर्म से युद्ध कर चुके है। इस भव से दो भव पहले वे वज्रनाभि चक्रवर्ती थे। उस समय उन्होंने अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर के पादमूल मे निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर षोड़श कारण भावनाओ का चितवन किया था। महापुराण में कहा है :—

ततोऽसौ भावयामास भावितात्मा सुधीरधीः।
स्वगुरोनिकटे तीर्थंकृत्वस्यागानि षोडशः ॥११—६८॥

आत्मा का चितवन करने वाले धीरवीर वज्रनाभि मुनिराज ने अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर के निकट तीर्थकरत्व में कारण सोलह कारण भावनाओ का चितवन किया था।

विशुद्धभावनः सम्यग् विशुध्यन् स्वविशुद्धिभिः।
तदोपशमकश्रेणी-मारुरोह मुनीश्वरः ॥८६॥

विशुद्ध भावना वाले उन मुनीश्वर ने आत्म विशुद्धि को भली प्रकार बढाते हुए उपशम श्रेणी पर आरोहण किया। अतर्मुहूर्त पर्यन्त उन्होने उपशांत मोह अवस्था का अनुभव किया। पश्चात् वहाँ से च्युत होकर वे स्वस्थान अप्रमत्त गुणस्थान में आ गए। ग्यारहवे गुणस्थान मे उन्होंने आरोहण किया था, क्योकि उन्होंने मोहनीय कर्म का उपशमन किया था, क्षय नही किया था। इसके बाद दूसरी बार भी वे ग्यारहवें गुणस्थान को पहुँचे थे। वहाँ पहुँचने के पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई थी। इससे उनका सर्वार्थसिद्धि मे जन्म हुआ था। आचार्य जिनसेन का कथन है —

द्वितीयवार मारुह्य श्रेणी-मुपशमादिकाम्।
पृथक्त्वध्यानमापूर्ण-समाधि परमं श्रितः ॥११०॥
उपशान्तगुणस्थाने कृतप्राणविसर्जनः।
सर्वार्थसिद्धिमासाद्य सप्रापत् सोऽहमिन्द्रताम् ॥११–१११॥

वे पृथक्त्ववितर्क ध्यान को पूर्णकर द्वितीय बार उपशम श्रेणी पर आरोहण कर उत्कृष्ट समाधि को प्राप्त हुए। उपशांतकषाय

नाम के ग्यारहवें गुणस्थान में उन्होंने प्राण विसर्जन कर सर्वार्थसिद्धि में जाकर अहमिन्द्रता प्राप्त की थी।

इस प्रकार शुक्लध्यानी, शुद्धोपयोगी उन प्रभु का दो बार मोहनीय कर्म से युद्ध हो चुका था। मोहनीय का पूर्ण क्षय न करने के कारण ये सर्वार्थसिद्धि में तेंतीस सागर पर्यन्त अहमिन्द्र रहे। गोम्मटसार कर्मकांड की गाथा ५५९ की संस्कृत टीका में लिखा है :—

उपशांतगुणश्रेण्यां येषां मृत्युः प्रजायते।
अहमिन्द्रा भवन्त्येते सर्वार्थसिद्धिसद्मनि ।। पृष्ठ ७६२।।

उपशांत-कषाय गुणस्थान में जिनकी मृत्यु होती है, वे सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र होते हैं।

मोह के मूलोच्छेद का उद्योग

अब मोहनीय कर्म को जड़-मूल से नष्ट करने के लिए भगवान ने विशेष प्रकार की सामग्री एकत्रित की थी। एक कुशल शासक के रूप में उन्होंने विशेष प्रकार के योद्धा का रूप धारण किया था :—

शिरस्त्राणं तनुत्रं च तस्यासीत् संयमद्वयम्।
जैत्रमस्त्रंच सद्ध्यानं मोहारातिं विभित्सतः ।।२०—२३५।।

भगवान ने मोहशत्रु के क्षय करने के लिए इंद्रिय संयम को शिर की रक्षा करने वाला टोप और प्राणिसंयम को शरीर रक्षक कवच बनाया था। उत्तम ध्यान को जयशील अस्त्र बनाया था।

अंतर्युद्ध का चित्रण

ध्यान के द्वारा कर्म शत्रुओं का पर-प्रकृतिरूप संक्रमण हो रहा था। कर्मों की शक्ति क्षीण हो रही थी। अब भगवान ने क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने की पूर्ण तैयारी कर ली। क्षायिक सम्यक्त्वी होने से मोहनीय की अनंतानुबंधी चतुष्क तथा दर्शन-मोहत्रिक इन सात प्रकृतियों का क्षय हो चुका था। उन्होंने सातिशय अप्रमत्त गुण

स्थान को प्राप्त किया। अधः प्रवृत्तकरण के अंतर्मुहूर्त पश्चात् अपूर्व करण नाम के आठवें गुणस्थान को प्राप्त किया। यहाँ एक भी कर्म का क्षय नहीं होता है, किन्तु प्रत्येक समय में असख्यात गुणित रूप से कर्म प्रदेशो की निर्जरा होती है।

धवला टीका मे लिखा है, "तदो अधापवत्तकरणं कमेण काऊणतोमुहुत्तेण अपुव्वकरणो होदि। सोण एक्क पि कम्मं खवेदि, किंतु समय पडि असखेज्ज-गुणसरुवेण पदेस-णिज्जरं करेदि" (भाग १, पृ० २१६)।

*सर्वार्थसिद्धि मे पूज्यपाद स्वामी कहते है कि अपूर्वकरण क्षपक गुणस्थान वाला पाप प्रकृतियो की स्थिति तथा अनुभाग को न्यून करता है तथा शुभ प्रकृतियो के अनुभाग को वृद्धिगत करता है। "अपूर्वकरण-प्रयोगेणापूर्वकरण-क्षपकगुणस्थान-व्यपदेशमनुभूय तत्राभिनव-शुभाभिसधि-तनूकृत-पापप्रकृति-स्थित्यनुभागो विवर्धित-शुभकर्मानुभवो" (अ० १०, सू० १, पृ० २३६)। इसके अनंतर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान को प्राप्त करके सत्कर्म-प्राभृत के उपदेशानुसार स्त्यानगृद्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रिय जाति, नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यंगति प्रायोग्यानुपूर्वी, आताप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियो का क्षय करते है। अतर्मुहूर्त के पश्चात् वे प्रत्याख्यानावरण तथा अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप कषायाष्टक का नाश करते है। (धवला टीका भा० १, पु० १ पृ० २१७)।

---

*शुक्लध्यान तथा शुद्धोपयोग के सद्भाव में भी अपूर्वकरण गुणस्थान में पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग की वृद्धि होती है तथा पाप का क्षपण होता है; अत पाप और पुण्य को समान मानने की एकान्तदृष्टि अयोग्य है।

कषायप्राभृत की देशना

इस विषय में कषायप्राभृत शास्त्र की भिन्न प्रतिपादना है। उसके उपदेशानुसार पहले कषायाष्टक का क्षय होता है; पश्चात् उक्त सोलह प्रकृतियाँ नष्ट होती हैं। इसके अनन्तर नपुंसक वेद का क्षय करके अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त स्त्रीवेद का क्षय होता है। पश्चात् नोकषाय षट्क का पुरुषवेद रुप में, पुरुषवेद का क्रोध संज्वलन में, क्रोध संज्वलन का मान संज्वलन में, मान संज्वलन का माया संज्वलन में माया संज्वलन का लोभ संज्वलन में क्रमशः बादर कृष्टि विभाग से क्षय करके बादर लोभ संज्वलन को कृष करके सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान को प्राप्त करते हैं।

क्षीणमोह गुणस्थान की प्राप्ति

लोभ संज्वलन का क्षय कर क्षीण मोह नाम के बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। वहाँ उपान्त्य अर्थात् द्विचरिम समय में निद्रा तथा प्रचला प्रकृति का क्षय करके अन्तिम समय में पंच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पंच अन्तराय इन सोलह प्रकृतियों का क्षय करके सयोगकेवली जिन होते हैं। धवला टीका में लिखा है; "एदेसु सट्ठिकम्मेसु खीणेसु सओगिजिणो होदि। सजोगिजिणो ण किंचि कम्मं खवेदि" (भाग १, पृ० २२३)—इस प्रकार साठ प्रकृतियों का क्षय करके सयोगी जिन होते हैं। सयोगी जिन कोई भी कर्म का क्षय नहीं करते हैं। सयोगी जिन भगवान के ८५ प्रकृतियों का सद्भाव कहा गया है; अतः १४८ में से ६३ प्रकृतियों का क्षय होने पर शेष ८५ प्रकृतियाँ रहती हैं। पूर्वोक्त कर्म प्रकृतियों के क्षपण-क्रम के अनुसार साठ प्रकृतियों का क्षय बताया है।

विचारणीय विषय

इस कारण यह बात विचारणीय है कि तीन प्रकृतियों के क्षय का क्यों नहीं उल्लेख किया गया ?

आगम मे कहा है, "कर्माभावो द्विविध'—यत्नसाध्योऽ यत्नसाध्यश्चेति। तत्र चरमदेहस्य नारकतिर्यग्देवायुगामभावो न यत्नसाध्यः असत्वात्" (सर्वार्थसिद्धि अध्याय १०, सत्र २) कर्मों का अभाव यत्नसाध्य तथा अयत्नसाध्य रूप से दो प्रकार कहा गया है। चरमदेह वाले जीव के नरक, तिर्यच तथा देवायु का अभाव अयत्नसाध्य है, क्योकि वे तीन आयु की सत्ता रहित है। शेष साठ प्रकृतियो का क्षय यत्नसाध्य कहा गया है।

सामान्य दृष्टि से कहा जाता है कि त्रेसठ प्रकृतियो का क्षय करके केवली भगवान होते है। इनमें घातिया कर्म सम्बन्धी सेतालिस प्रकृतियाँ रहती है। अघातिया की सोलह प्रकृति रहती है।[1]

भगवान ने मोह का क्षय करने के उपरान्त जब बारहवें क्षीण मोह गुणस्थान पर आरोहण किया था, उस समय वे परमार्थ रूप मे निर्ग्रन्थ-पदवी के स्वामी बने थे। इसके पूर्व उसको निर्ग्रन्थ शब्द से कहते थे। उसमे नैगम नय की दृष्टि प्रधान थी। सर्वार्थसिद्धि मे लिखा है, "चारित्रपरिणामस्य प्रकर्षाप्रकर्षभेदे सत्यपि नैगमसग्रहादिनयापेक्षया सर्वेपि ते निर्ग्रन्था इत्युच्यन्ते" (अ० ९ सूत्र ४७)—चारित्र के परिणमन की अधिकता, न्यूनता कृत भेद होते हुए भी नैगम, सग्रह आदि नयो की अपेक्षा पुलाकादि सभी मुनियो को निर्ग्रन्थ कहते है। 'निर्ग्रन्थ' शब्द का वाच्यार्थ है 'ग्रन्थ' रहित। 'ग्रन्थ' का अर्थ है मूर्च्छा अथवा ममत्व परिणाम। ये परिणाम मोहनीय कर्मजन्य है, अतएव मोह का अत्यन्त क्षय होने पर अन्वर्थ रूप मे निर्ग्रन्थ अवस्था प्राप्त होती है।

---

१ देव-शास्त्र-गुरु की पूजा मे लोग पढते है "चउ करम की त्रेसठ प्रकृति नास," यह ठीक नही है। चार घातिया कर्मों की सैतालीस प्रकृतियाँ होती है। ज्ञानावरण की पाच, दर्शनावरण की नौ, अतराय की पाच तथा मोहनीय की अट्ठाईस मिलकर ४७ होती है। इससे पूजा में यह पढना चाहिए "करमन की त्रेसठ प्रकृति नास" वा 'चउकरम, तिरेसठ प्रकृति नास', क्योंकि चार कर्म मुख्य है।

मोह क्षय के पश्चात् घातियात्रय का क्षय

मोहनीय कर्म के क्षय होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय ये तीन घातिया कर्म अन्तर्मुहूर्त में नाश को प्राप्त होते हैं। यही बात पूज्यपाद स्वामी ने इस प्रकार स्पष्ट की है, "प्रागेव मोहं क्षयमुपनीयान्तर्मुहूर्तं क्षीणकषायव्यपदेशमवाप्य ततो युगपज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायाणां क्षयं कृत्वा केवलमवाप्नोति" (सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १०, सूत्र १)—पहले मोहनीय कर्म को क्षय करके अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त क्षीणकषाय नाम को प्राप्त करके युगपत ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म का विनाश करके केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं। सर्वज्ञता की उपलब्धि में ज्ञानावरण का क्षय साक्षात् कारण है, किन्तु किन्तु इसके पूर्व मोहनीय कर्म का विनाश अनिवार्य है।

वीतराग विज्ञानता

मोह क्षय के उपरान्त वीतराग विज्ञानता की प्राप्ति होती है। गृहस्थों को कभी कभी वीतराग बनने को कहा जाता है। गृहस्थावस्था में मोह क्षय असंभव है। मुनि पदवी को प्राप्त करके ही वीतराग विज्ञानता की प्राप्ति होती है। राग चारित्र मोह का भेद है। चारित्र धारण करने पर ही राग का अभाव होगा। अतः गृहस्थ के वीतरागता नहीं होगी। मोह का क्षय होने पर मुनिराज वीतराग विज्ञानतायुक्त होते हैं। गृहस्थ अपना लक्ष्य जैसे परमात्म पदवी को बनाता है, उसी प्रकार वह ध्येय रूप में वीतराग विज्ञानता को बना सकता है।

आज के इस दुषमा काल में उत्पन्न हुआ गृहस्थ हो, या मुनि हो, उनको वीतराग विज्ञानता की प्राप्ति तो दूर, उस वीतराग विज्ञानज्योति युक्त आत्मा का दर्शन भी शक्य नहीं है। यदि कोई विदेह जाने योग्य तपस्या द्वारा चारण ऋद्धि प्राप्त कर ले, तो अवश्य वीतराग विज्ञानता से समलंकृत साधुराज के दर्शन कर सकता है।

वर्तमान युग मे प्रवर्धमान मोह का साम्राज्य देख उक्त कथन कल्पना मात्र है।

वीतरागता की दुर्लभता

कोई-कोई गृहस्थ ऐसी बातें करते हैं, मानो वे वीतराग बन गए हो। यह मिथ्या है। वीतरागावस्था बालविनोद की बात नही है। कुछ भी पुरुषार्थ न करना, धर्म तथा सदाचरण से दूर भागना, सदाचार वालो की निंदा करना ही अपना ध्येय बनाने वाले वीतराग विज्ञानी बनने का स्वप्न भी देखने मे असमर्थ है। स्व० आचार्य वीरसागर महाराज ने कहा था, 'मनी बसे स्वप्नी दिसे'—जो बात मन में निवास करती है, वह स्वप्न में दृष्टिगोचर होती है। जिनके हृदय मे वीतरागता की भावना हो, उनका चरित्र बकराज की भांति न होकर राजहंस सदृश होता है।

मार्मिक समीक्षा

इस प्रसग म आचार्य समतभद्र की एक मार्मिक चर्चा ध्यान देने योग्य है। साख्य दर्शन कहता है, "ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बध" ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है, अज्ञान के द्वारा बध होता है। इस सिद्धान्त का समर्थन अन्य भारतीय दर्शन भी करते है। इस विचार की समीक्षा करते हुए समंतभद्र स्वामी देवागम स्तोत्र मे कहते हैं :—

अज्ञानाच्चेद् ध्रुवो बंधो ज्ञेयानंत्यान्न केवली।
ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा ॥९६॥

अज्ञान के द्वारा नियम से बंध होता है, तो कोई भी केवलज्ञानी नही बनेगा, कारण ज्ञेय पदार्थं अनंत है। इसमे बहुभाग रूप ज्ञेय पदार्थों का अज्ञान रहने से बंध होगा। कदाचित् यह कहा जाय, कि अल्प भी ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, तो विद्यमान महान अज्ञान के कारण बध भी होगा, अतएव उक्त एकान्त मान्यता स्पष्टतया सदोष है।

जैन विचार

आचार्य जैन दृष्टि को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

अज्ञानान्मोहतो बन्धो नाज्ञानाद्वीतमोहतः।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहतोऽन्यथा ॥६८॥

मोहयुक्त अज्ञान से बंध होता है, मोहरहित अज्ञान से बंध नहीं होता। मोह रहित अल्पज्ञान के द्वारा मोक्ष होता है। मोहयुक्त अल्पज्ञान के द्वारा बंध होता है।

इस कथन के द्वारा यह बात स्पष्ट की गई है, कि बन्ध का अन्वय-व्यतिरेक मोह के सद्भाव-असद्भाव के साथ है। अल्पज्ञान की विद्यमानता, अविद्यमानता पर वह आश्रित नहीं है। इससे मोह कर्म की प्रबलता ज्ञात होती है। आत्मा में कर्म के बन्ध करने वाले मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग हैं। इनमें योग को छोड़कर शेष सभी कारण मोहनीय कर्म के रूप हैं। इसके कारण स्थितिबन्ध तथा अनुभाग बन्ध होता है। इसके अभाव में क्षीणमोह तथा सयोगी-जिन गुणस्थानों में योग के कारण ईर्यापथ आस्रव होकर केवल प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं। स्थिति तथा अनुभाग बन्ध के अभाव में वे दोनों बन्ध प्रायः अकार्यकारी हैं; शून्य सदृश हैं।

मोह विजय की मुख्यता

जैन धर्म में मोह विजय को पूज्यता का कारण माना है। अल्पज्ञानी पुरुष भी मोह को जीतने के कारण पूज्यता को प्राप्त करता है। शिवभूति मुनि अज्ञान की पराकाष्ठा को प्राप्त होते हुए भी मोह विजय के कारण केवली बन गए थे। जो शास्त्रज्ञान के अहँकार में लिप्त होने से यह सोचते हैं कि अल्पज्ञानी तपस्वी साधु हमारे समक्ष कुछ नहीं हैं, वे विकृति पूर्ण परिणाम वाले हैं। मोह विजय का कार्य अत्यन्त कठिन है। उसे कोई भी वीर संपादित नहीं कर सकता। उस मोहको जीतने वाला महावीर ही होता है।

केवलज्ञान का समय

हरिवंशपुराण में लिखा है :—

> वृषभस्य श्रेयसो मल्लेः पूर्वाह्णे नेमिपार्श्वयोः ।
> केवलोत्पत्तिरन्येषामपराह्णे जिनेशिनां ।।६०—२५६।।

वृषभनाथ, श्रेयासनाथ, मल्लिनाथ, नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ इन पांच तीर्थकरो ने पूर्वाण्ह मे केवलज्ञान प्राप्त किया था। शेष जिनेन्द्रो ने अपराण्हकाल मे केवलज्ञान प्राप्त किया था।

महापुराण मे लिखा है :—

> फाल्गुने मासि तामिस्त्रपक्षस्यैकादशी तिथौ।
> उत्तराषाढनक्षत्रे कैवल्यमुद्भूद्विभोः ।।२०—२६८।।

फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन उत्तराषाढ नक्षत्रमे भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था। केवलज्ञान ज्योति के कारण वे भगवान यथार्थ मे महान देव, महादेव या देवाधिदेव बन गए।

अकलक स्वामी की यह वाणी अर्थपूर्ण है :—

> त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकितम्।
> साक्षाद्येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं सांगुलि।।
> राग-द्वेष-भयामयान्तक-जरा-लोलत्व-लोभादयो।
> नालं यत्पदलंघनाय स महादेवो मया वंद्यते।।

जिन्होने करतल की अगुलियो सहित तीन रेखाओं के समान त्रिकालवर्ती लोक तथा अलोक का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया है, जिनके पद का उल्लघन करने मे राग, द्वेष, भय, रोग, मृत्यु, बुढापा, चंचलता, लोभादिक समर्थ नही है, मै उन महादेव को प्रणाम करता हू।

पहिले सयम ने केवलज्ञान की प्राप्ति का सच्चा वचन देकर भगवान को मन. पर्ययज्ञान रूप ब्याना दिया था। अब केवलज्ञान की उपलब्धि द्वारा सयम की वह प्रतिज्ञा भी पूर्ण हो गई।

अर्हन्त पद

भगवान घातिया चतुष्टय का क्षय करने से अरिहंत हो गए। उनमें 'अरिहननादरिहन्ता'-कर्मारि के नाश करने से अरिहंत होते हैं, यह लक्षण पाया जाता है। 'अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्त':-अतिशय पूर्ण पूजा को प्राप्त होने से 'अर्हन्त' हैं। यह पद प्रभु में पूर्णतया तब चरितार्थ होगा, जब वे समवशरण में शत-इन्द्रों के द्वारा अलौकिक पूजा को प्राप्त करेंगे। इस दृष्टि से सूक्ष्म विचार करने पर यह कथन अनुचित नहीं है, कि भगवान पहले अरिहंत होते हैं, पश्चात अरहंत या अर्हन्त होते हैं।

णमो अरिहंताणं

ज्ञान-कल्याणक

समवशरण शोभित जिनराजा।
भवदधि, तारन-तरन जिहाजा ।।

समन्तभद्र ने पार्श्वप्रभु के स्तवन में लिखा है :—

स्वयोग-निस्त्रिंशनिशातधारया।
निशात्य यो दुर्जय-मोह-विद्विषम्।
अवापदार्हन्त्यमचिंत्यमद्भुतम्।
त्रिलोक-पूजातिशयास्पदं पदम् ।।१३३।।स्वयंभूस्तोत्र।

शुक्लध्यान रूपी तलवार की तीक्ष्ण धारा के द्वारा जिन्होंने बड़े कष्ट से जीतने योग्य मोह रूपी शत्रु को मारकर अचिंत्य अर्थात् जो चिंतन के परे है, जो अद्भुत है तथा त्रिलोक के जीवों द्वारा पूजा के अतिशय का स्थान है ऐसी अर्हन्त पदवी प्राप्त की, (मया सदा पार्श्व-जिन प्रणम्यते) उन पार्श्वनाथ भगवान को मैं सर्वदा प्रणाम करता हूँ।

आदिनाथ भगवान की अभिवंदना करते हुए आचार्य समंतभद्र स्वयंभू स्तोत्र में कहते हैं :—

स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दय-भस्मसात्क्रियाम्
जगाद तत्त्व जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ।।४।।

भगवान ने आत्म-ध्यान के तेज द्वारा अपनी आत्मा के दोषों को जड़ मूल से निर्दयता पूर्वक नष्ट कर दिया तथा उपदेशामृत के आकांक्षी जगत् को वास्तविक तत्व का उपदेश दिया और वे ब्रह्मपद अर्थात् शुद्धात्म रूप अमृत पदवी के स्वामी हुए।

इन पद्यों में सर्वज्ञावस्था प्राप्त तीर्थंकर के जीवन की एक झलक प्राप्त होती है। भगवान ने अर्हन्त पदवी प्राप्त की। वह अचिंत्य है, अद्भुत है तथा विश्व की अभिवंदना का स्थल है।

विशेष बातें

उस समय कौन सी अपूर्व बातें होती हैं, इसका उल्लेख करते हुए महापुराणकार कहते हैं।

> अथ घातिजये जिष्णोरनुष्णीकृत-विष्टपे।
> त्रिलोक्यामभवत् क्षोभः कैवल्योत्पत्तिवात्यया ॥२२-१॥

जब जिनेन्द्र भगवान ने घातिया कर्मों पर विजय प्राप्त की, उस समय संसार भर का संताप दूर हो गया। केवलज्ञान की उत्पत्ति रूपी महान् वायु के द्वारा तीनों लोकों में हलचल मच गई।

उस समय कल्पवासी देवों के यहाँ घण्टानाद, ज्योतिषी देवों के यहां सिंहनाद, व्यंतरों के यहां मेघ गर्जना सदृश नगाड़ों की ध्वनि तथा भवनवासी देवों के यहाँ शंखध्वनि हो रही थी। "विष्टराण्यमरेशानां अशनैः प्रचकंपिरे" समस्त इंद्रों के आसन बड़े जोर से कंपित हुए।

वातावरण

> पुष्पांजलि-मिवातेनुः समन्तात् सुरभूरुहाः।
> चलच्छाखाकरैर्-दीर्घ-विगलत्कुसुमोत्करैः ॥२२--८॥

अपने दीर्घ शाखा रूपी हाथों से चारों ओर पुष्पवृष्टि करते हुए कल्पवृक्ष ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानो भगवान को पुष्पांजलि ही अर्पण कर रहे हों।

> दिशः प्रसत्ति-मासेदुः बभ्राजे व्यभ्रमम्बरम्।
> विरजीकृत-भूलोकः शिशिरो मरुदाववौ ॥६॥

समस्त दिशाएँ निर्मल हो गई थीं, नभोमंडल मेघ रहित शोभायमान होता था, पृथ्वी मण्डल धूलिरहित हो गया था तथा शीतल पवन बह रही थी।

> इति प्रमोद-मातन्वन् अकस्मात् भुवनोदरे।
> केवलज्ञान-पूर्णेन्दुः जगदब्धिम् अवीवृधत् ॥१०॥

इस प्रकार समस्त संसार के भीतर अकस्मात् आनन्द को

बढ़ाता हुआ केवल ज्ञान रूपी पूर्ण चन्द्रमा ससार रूपी समुद्र को बढ़ा रहा था अर्थात् आनंदित कर रहा था।

पूजार्थ प्रस्थान

पूर्वोक्त चिन्हों से इद्र ने भगवान के केवलज्ञानोत्पत्ति का वृत्तात अवगत कर परम हर्ष को प्राप्त किया। इद्र अनेक देवों के साथ भगवान के केवलज्ञान की पूजा के लिए निकला। सौधर्मेन्द्र ने अपनी इन्द्राणी तथा ईशान इन्द्र के साथ-साथ, विक्रिया ऋद्धि के कारण नागदत्त आभियोग्य देव द्वारा निर्मित, ऐरावत हाथी पर आरूढ हो सर्वज्ञ ऋषभनाथ तीर्थंकरके दर्शनार्थ प्रस्थान किया। सबके आगे किल्विषिक देव जोर-जोर से नगाड़ों के शब्द करते जाते थे। उनके पीछे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक तथा प्रकीर्णक जाति के देवगण अपने अपने वाहनो पर आरूढ़ हो प्रभु के पास जा रहे थे।

समवशरण रचना

कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से भगवान की धर्मसभा अर्थात् समवशरण की अद्भुत रचना की थी। उस कार्य में देवताओं की अपूर्व कुशलता के साथ तीर्थंकर प्रकृति का निमित्त कारण भी सहायक था। वह सौन्दर्य, वैभव तथा श्रेष्ठकला का अद्भुत केन्द्र था। इन्द्र ने इन्द्र-नीलमणियों से निर्मित गोल आकार वाले मनोज्ञ समवशरण को देखा।

मंगलमय दर्पण

आचार्य कहते हैं :—

सुरेन्द्रनीलनिर्माणं समवृत्तं तदा बभौ।
त्रिजगच्छ्री-मुखालोक-मंगलादर्श-विभ्रमम् ॥२२—७८॥

इन्द्र-नीलमणि निर्मित तथा चारों ओर से गोलाकार वह समवशरण ऐसा लगता था मानो त्रिलोक की लक्ष्मी के मुख दर्शन

का मंगलमय दर्पण ही हो।

आस्थान-मंडलस्यास्य विन्यासं कोऽनुवर्णयेत्।
सुत्रामा सूत्रधारोऽभून्निर्माणे यस्य कर्मठः ॥७६॥

भला, उस समवशरण की रचना का कौन वर्णन कर सकता है, जिसके निर्माण कार्य में कर्मशील इन्द्र महाराज स्वयं सूत्रधार थे।

समवशरण वर्णन

समवशरण के बाहर रत्नों की धूलि से निर्मित परकोटा था, जिसे धूलीसाल कहते हैं। इस धूलीसाल के बाहर चारों दिशाओं में सुवर्णमय खम्भों के अग्रभाग पर अवलम्बित चार द्वार शोभायमान हो रहे थे। धूलीसाल के भीतर जाने पर कुछ दूरी पर चारों दिशाओं में एक-एक मानस्तंभ था। वे मानस्तंभ महा प्रमाण के धारक थे। घंटाओं से घिरे हुए थे; चामर तथा ध्वजाओं से शोभायमान थे।

मानस्तम्भ

उन स्वर्णमय मानस्तंभों के मूलभाग में जिनेन्द्र भगवान की सुवर्णमय प्रतिमाएं विराजमान थीं, जिनकी इन्द्र आदि क्षीर सागर के जल से अभिषेक करते हुए पूजा करते थे।[1] उन मानस्तम्भों के मस्तक पर तीन छत्र फिर रहे थे। इन्द्र के द्वारा बनाए जाने के कारण उनका दूसरा नाम इन्द्रध्वज भी रूढ़ हो गया था।

मानस्तंभात् महामानयोगात् त्रैलोक्यमाननात्।
अन्वर्थसंज्ञया तज्ज्ञैः मानस्तम्भाः प्रकीर्तिताः ॥२२--१०२॥

उनका प्रमाण बहुत ऊँचा था, त्रैलोक्य के जीवों द्वारा मान्य होने से विद्वान् लोग उन मानस्तम्भों को सार्थक रूप से मानस्तम्भ कहते थे।

---

१ हिरण्मयीः जिनेन्द्रार्च्याः तेषां बुध्न-प्रतिष्ठिताः।
देवेन्द्राः पूजयंतिस्म क्षीरोदांभोभिषेचनैः ॥२२--६८॥ म० पु०

विजय स्तम्भ

मुनिसुव्रतकाव्य मे कहा है कि घातिया कर्मो का क्षयकरके जिनेन्द्र ने मानस्तम्भ के रूप मे प्रत्येक दिशा मे विजयस्तम्भ स्थापित किए थे ।

> दुःखौघ-सर्जनपटू स्त्रिजगत्यजेयान् ।
> साक्षान्निहत्य चतुरोपि च घातिशत्रून् ।
> स्तम्भा जयादय इव प्रभुणा निखाताः ।
> स्तम्भाः बभुः प्रतिदिश किल मानपूर्वाः ॥१०—३१॥

त्रिभुवन मे दुःखो के निर्माण करने मे प्रवीण तथा अजेय जो घातिया कर्म रूप चार शत्रु हैं, उन्हे साक्षात् नष्ट करके ही मानो जिनेन्द्रदेव से आरोपित किए गए विजयस्तम्भ सदृश मानस्तम्भ प्रत्येक दिशा मे शोभायमान होते थे ।

संक्षिप्त परिचय

महापुराण मे समवशरण की रचना का सक्षेप में इस प्रकार परिचय दिया है :—

> मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमलजल-सत्खातिका-पुष्पवाटी ।
> प्रकारो नाट्यशाला-द्वितयमुपवनं वेदिकान्तर्ध्वजाध्वा ।
> सालः कल्पद्रुमाणा परिवृतवनं स्तूप-हर्म्यावली च ।
> प्राकारः स्फाटिकोन्तर्नृ-सुर-मुनिसभापीठिकाग्रे स्वयंभूः ॥१३१६२॥

सर्व प्रथम धूलीसाल के बाद चारों दिशाओं मे चार मानस्तंभ है, मानस्तभों के चारों ओर सरोवर है, फिर निर्मल जलसे भरी हुई परिखा (खाई) है, फिर पुष्पवाटिका है, उसके आगे पहिला कोट है, उसके आगे दोनो ओर दो-दो नाट्यशालाएँ हैं । उसके आगे दूसरा अशोक आदि का वन है । उसके आगे वेदिका है । तदनन्तर ध्वजाओ की पक्तियाँ है । फिर दूसरा कोट है । उसके आगे वेदिका सहित कल्पवृक्षो का वन है । उसके बाद स्तूप और स्तूपो के बाद मकानों की पक्तिया है । फिर स्फटिकमणिमय तीसरा कोट है ।

उसके भीतर मनुष्य, देव और मुनियों की बारह सभाएँ हैं। तदनन्तर पीठिका है और उसके अग्रभाग पर स्वयंभू अरहंत देव विराजमान हैं।

भगवान के मुख की दिशा

अरहंत देव स्वभाव से ही पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मुख कर विराजमान होते हैं। कहा भी है :—

"देवोऽर्हन्प्राङ्मुखो वा नियतिमनुसरन् उत्तराशामुखो वा" ॥२३—१९३॥

द्वादश सभा

भगवान के चारों ओर प्रदक्षिणा रूप से द्वादशसभाओं में इस क्रम से भव्यजीव बैठते हैं। प्रथम कोठे में गणधर देवादि मुनीन्द्र विराजमान होते हैं, दूसरे में कल्पवासिनी देवियां, तीसरे में आर्यिकाएँ तथा मनुष्यों की स्त्रियां, चौथे में ज्योतिषी देवियां, पांचवे में व्यंतरनी देवियां, छटवे में भवनवासिनी देवियां, सातवें में भवन-वासी देव, आठवें में व्यन्तरदेव, नवमें में ज्योतिषी देव, दसवें में कल्पवासी देव, ग्यारहवें में पुरुषवर्ग तथा बारहवें में पशुगण बैठते हैं। मुनियों के कोठे में श्रावकादि मनुष्य नहीं बैठते हैं।

श्रीमंडप

भगवान रत्नमय स्तम्भों पर अवस्थित श्रीमंडप में विराज-मान रहते हैं। वह उज्ज्वल स्फटिकमणि का बना हुआ श्रीमंडप अनुपम शोभायुक्त था। आचार्य कहते हैं :—

सत्यं श्रीमंडपः सोऽयं यत्रासौ परमेश्वरः।
नृसुरासुरसान्निध्ये स्वीचक्रे त्रिजगच्छ्रियम् ॥२२—२८१॥

वह श्रीमंडप यथार्थ में श्री अर्थात् लक्ष्मी का मंडप ही था, कारण वहां परमेश्वर ऋषभनाथ भगवान ने मनुष्य, देव तथा असुरों के समीप तीनों लोकों की श्री को स्वीकार किया था। इस श्रीमंडप के ऊपर यक्षों द्वारा वर्षाई गई पुष्प राशि बड़ी सुन्दर लगती थी।

योजनप्रमिते यस्मिन् सम्ममुर्नृसुरासुराः।
स्थिताः सुखमसंबाध महो माहात्म्य-मीशितुः ॥२२—२८६॥

ग्रहो ! जिन-भगवान का यह कैसा माहात्म्य था, कि केवल एक योजन लम्बे-चौडे श्रीमडप मे मनुष्य, देव और असुर एक दूसरे को बाधा न देते हुए सुख से बैठ सकते थे ।

पीठिका

उस श्रीमंडप की भूमि के मध्य मे वैडूर्यमणि की प्रथम पीठिका थी। उस पीठिका पर स्थित अष्ट मंगल द्रव्य रूपी सम्पदाएँ और यक्षों के उन्नत मस्तकों पर स्थित धर्म-चक्र ऐसे लगते थे, मानो पीठिका रूपी उदयाचल से उदय होते हुए सूर्य बिंब ही हों। धर्मचक्रो में हजार-हजार आराओ का समुदाय था। उस प्रथम पीठिका पर सुवर्ण निर्मित प्रकाशमान दूसरा पीठ था।

उसके ऊपर चक्र, गज, वृषभ, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड और माला के चिन्ह युक्त निर्मल ध्वजाएँ शोभायमान होती थी। दूसरे पीठ पर तीसरा पीठ विविध रत्नों से निर्मित था। वह तीन कटनियो से युक्त था और ऐसा सुन्दर दिखता था मानो पीठ का रूप धारण कर सुमेरु पर्वत ही प्रभु की उपासना के लिए आया हो। उस पीठ के ऊपर जिनेन्द्र भगवान विराजमान थे। आचार्य जिनसेन लिखते हैं :—

ईदृक् त्रिमेखलं पीठ अस्योपरि जिनाधिपः।
त्रिलोकशिखरे सिद्धपरमेष्ठीव निर्बभौ ॥२२—३०४॥

इस प्रकार तीन कटनीदार पीठ पर जिनेन्द्र भगवान ऐसे शोभायमान होते थे, जैसे त्रिलोक के शिखर पर सिद्ध परमेष्ठी सुशोभित होते है।

गंधकुटी

तीसरे पीठ के अग्रभाग पर गंधकुटी थी। तीन कटनियों से चिन्हित पीठ पर वह गंधकुटी ऐसी सुशोभित होती थी मानो नन्दन-

वन, सौमनसवन और पांडुकवन के ऊपर सुमेरु की चूलिका ही सुशोभित हो रही हो। चारों ओर लटकते हुए स्थूल मोतियों की झालर से वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों समुद्रों ने उसे मुक्ताओं का उपहार ही अर्पण किया हो। वह गंधकुटी सुवर्ण निर्मित मोटी और लम्बी जाली से अलंकृत थी। रत्नमय मालाओं से वह गंधकुटी शोभायमान थी। सब दिशाओं में फैलती हुई सुगंध से वह गंधकुटी ऐसी मालूम होती थी मानों सुगंध के द्वारा उसका निर्माण हुआ हो। सब दिशाओं में फैलती हुई धूप से वह ऐसी प्रतिभासित होती थी मानों धूप से बनी हो। वह सब दिशाओं में फैले हुए फूलों से ऐसी मालूम होती थी मानों वह पुष्प निर्मित ही हो। यही बात महापुराणकार ने इन शब्दों में प्रगट की है :—

> गन्धैर्गन्धमयी वासीत् सृष्टिः पुष्पमयीव च।
> पुष्पैर्धूपमयी वाभात् धूपैर्या दिग्विसर्पिभिः ॥२३—२०॥

सिंहासन

गन्धकुटी के मध्य में एक रत्नजटित सुवर्णमय सिंहासन था। उस सिंहासन पर प्रभु विराजमान थे :—

> विष्टरं तदलंचक्रे भगवानादितीर्थकृत्।
> चतुर्भिरंगुलैः स्वेन महिम्नाऽ स्पृष्टतत्तलः ॥२३—२६॥

भगवान वृषभदेव उस सिंहासन को अलंकृत कर रहे थे। उन्होंने अपनी महिमा से उस सिंहासन के तल को स्पर्श नहीं किया था। वे उससे चार अंगुल ऊंचे विराजमान थे।

सौधर्मेन्द्र का आनन्द

सौधर्मेन्द्र आदि ने समवशरण में प्रवेश किया। उनके आनन्द का पारावार नहीं था। सौधर्मेन्द्र के अपूर्व आनन्द का एक रहस्य था। वह स्वयं को कृतार्थ समझता था। जब भगवान गृहस्थावस्था में थे और जगत् का मोह उन्हें घेरा हुआ था, उस समय चतुर

इन्द्र ने अल्पायुवाली नीलाजना अप्सरा के नृत्य द्वारा भगवान के मन को भोगो से विरक्त करने का उद्योग रचा था ताकि भगवान दीक्षा ले और शीघ्र ही मोहारि-विजेता बन कर समस्त संसार-सिंधु में डूबते हुए जीवो को निकालकर कल्याणपथ मे लगावे । आज समवशरण मे विराजमान भगवान का दर्शन कर उस सुरराज को बड़ा हर्ष हुआ । वह कृतकृत्य हो गया । हृदय मे भक्ति प्रवाहित हो रही थी ।

मंडल रचना

उस समय इन्द्राणी ने रत्नो के चूर्ण से प्रभु के समक्ष मनोहर मण्डल बनाया ।

ततो नीरधारां शुचि स्वानुकारां ।
लसद्रत्न-भृंगारनाल-स्रुताम् ताम् ।
निजां स्वान्तवृत्ति-प्रसन्नामिवाच्छां ।
जिनोपाङ्घ्रि संपातयामास भक्त्या ॥२३--१०६॥

तदनन्तर इन्द्राणी ने भक्तिपूर्वक भगवान के चरणों के समीप देदीप्यमान रत्नों के भृङ्गार की नाल से निकलती हुई पवित्र जलधारा छोड़ी, जो शची के समान ही पवित्र थी और उसकी अंत:करणवृत्ति के समान स्वच्छ तथा निर्मल थी ।

इंद्रों द्वारा पूजा

अथोत्थाय तुष्ट्या सुरेन्द्राः स्वहस्तैः ।
जिनस्यां-ध्रिपूजा प्रचक्रुः प्रतीताः ॥
सगंधैः समाल्यैः सुधूपैः सदीपैः ।
सदिव्याक्षतैः प्राज्यपीयूषपिण्डैः ॥२३--१०६॥

इन्द्रों ने खड़े होकर बड़े सन्तोष के साथ अपने हाथो से गंध, पुष्पमाला, धूप, दीप, दिव्य अक्षत तथा उत्कृष्ट अमृत पिंडो से जिनेन्द्र भगवान के चरणो की पूजा की ।

सामग्री

पूजा की उज्ज्वल तथा अपूर्व सामग्री ऐसी प्रतीत होती थी, मानों संसार की द्रव्यरूपी सम्पत्ति भगवान के चरणों की पूजा के हेतु वहाँ आई हो। महापुराणकार कहते हैं कि इन्द्राणी ने विविध सामग्री से पूजा करते हुए दीपकों द्वारा पूजा की। इस विषय में आचार्य का कथन बड़ा सुन्दर है :—

ततो रत्नदीपैं जिनांगद्युतीनां।
प्रसर्पेण मन्दीकृतात्मप्रकाशैः ॥
जिनार्कं शची प्रांविचत् भक्तिनिघ्ना।
न भक्ता हि युक्तं विदंत्यप्ययुक्तम् ॥११२॥

भक्ति के वशीभूत शची ने जिनेन्द्रदेव के शरीर की काँति द्वारा जिनका प्रकाश मन्द पड़ गया है, ऐसे रत्नदीपकों के द्वारा जिनसूर्य की पूजा की। भक्तप्राणी युक्त तथा अयुक्तपने का विचार नहीं रखते।

देव-देवेन्द्रों ने सर्वज्ञ भगवान की पूजा की। महापुराणकार कहते हैं :—

इतीत्थं स्वभक्त्या सुरैरचितेऽर्हन्।
किमेभिस्तु कृत्यं कृतार्थस्य भर्तुः ॥
विरागो न तुष्यत्यपि द्वेष्टि वासौ।
फलैश्च स्वभक्तानहो योयुजीति ॥२३-११५॥

इस प्रकार भक्तिपूर्वक देवों ने अर्हन्त भगवान की पूजा की। भगवान तो कृतकृत्य थे। इस पूजाभक्ति से उनका क्या प्रयोजन है? मोह का क्षय करने से वे वीतराग हो चुके थे, अतः किसी से न संतुष्ट होते थे और न अप्रसन्न होते थे, तथापि अपने भक्तों को इष्ट फलों से युक्त कर देते थे, यह आश्चर्य की बात है।

स्तवन

इन्द्रों ने बड़ी भावपूर्ण पदावली द्वारा साक्षात् तीर्थंकर केवली की स्तुति की। इन्द्र कहते हैं :—

त्वमसि विश्वदृग् ईश्वरः विश्वसृट् त्वमसि विश्वगुणाम्बुधिरक्षयः ।
त्वमसि देव जगद्धितशासनः स्तुतिमतोऽनुगृहाण जिनेश नः ॥२३-१२२॥

हे ईश्वर ! आप केवलज्ञान नेत्र द्वारा समस्त विश्व को जानते है, कर्मभूमि रूपी जगत के निर्माता होने से विश्वसृट् हैं । विश्व अर्थात् समस्त गुणों के समुद्र है, क्षय रहित है, आपका शासन जगत का कल्याण करने वाला है, इसलिए हे जिनेश ! हमारी स्तुति को स्वीकार कीजिए :—

मनसिजशत्रुमजय्यमलक्ष्यम् विरतिमयी शितहेति-ततिस्ते ।।
समरभरे विनिपातयतिस्म त्वमसि ततो भुवनैकगरिष्ठः ।।२३—१२७।।

हे भगवान ! आपने दूसरो के द्वारा अजेय तथा अदृश्यरूप युक्त कामशत्रु को चरित्ररूपी तीक्ष्ण शस्त्रो द्वारा युद्ध मे नष्ट कर दिया है, अतएव आप त्रिभुवन मे अद्वितीय तथा श्रेष्ठ गुरु हैं ।

जितमदनस्य तवैव महत्व वपुरिदमेव हि शास्ति मनोज्ञं ;
न विकृतिभाग्न कटाक्षनिरीक्षा परम-विकारमनाभरणोद्घम् ।।२३—१२८।।

हे ईश ! जो कभी भी विकार को नही प्राप्त होता है, न कटाक्ष से देखता है, जो विकार रहित है और आभूषणों के बिना सुशोभित होता है ऐसा यह आपका प्रत्यक्ष नयनगोचर सुन्दर शरीर ही कामदेव को जीतने वाले आपके महत्व को प्रगट करता है ।

त्वं मित्रं त्वमसि गुरुस्त्वमेव भर्ता ।
त्वं स्रष्टा भुवनपिता-महस्त्वमेव ।
त्वा ध्यायन् अमृतिसुखं प्रयाति जन्तुः ।
त्रायस्व त्रिजगदिदं त्वमद्य पातात् ।।२३—१४३।।

हे प्रभो ! इस जगत् में आपही प्राणिमात्र के मित्र है । आप ही गुरु हैं । आप ही स्वामी है । आपही विधाता है । आप जगत् के पितामह हैं । आपका ध्यान करनेवाला जीव अमृत्यु के आनन्द को प्राप्त करता है । इसलिए हे देवाधिदेव भगवन् ! आज आप तीन लोकों के जीवो की ससार-सिंधु मे पतन से रक्षा कीजिए ।

यह स्तुति मुख्य मुख्य इन्द्रों ने (भवनवासी १०, व्यंतर ८, ज्योतिषी २ और कल्पवासी १२) सुर, असुर, मनुष्य, नागेन्द्र, यक्ष, सिद्ध, गन्धर्व तथा चारणों के समूह के साथ की थी। इसके अनन्तर सब यथायोग्य स्थानों में बैठ गए।

अद्भुत प्रभाव

भगवान की धर्मसभा में उनके अद्भुत प्रभाव के कारण सभी जीवों को अवकाश मिलता था। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है :—

कोट्ठाणं खेत्तादो जीवक्खेत्तं फलं असंखगुणं।
होदूण अपुट्ठत्ति हु जिणमाहप्पेण ते सव्वे ॥४—९३०॥

समवशरण में स्थित जीवों का क्षेत्रफल कोठों (सभाओं) के क्षेत्रफल से यद्यपि असंख्यात गुणा है, तो भी सब जीव जिन भगवान के माहात्म्यवश परस्पर में अस्पृष्ट अर्थात् पृथक्-पृथक् रूप से बैठे हुए रहते हैं।

संखेज्जजोयणाणि बालप्पहुदी पवेस-णिग्गमणे।
अंतोमुहुत्तकाले जिणमाहप्पेण गच्छंति ॥४—९३१॥

जिनेन्द्र भगवान के प्रभाववश बालक आदि जीव प्रवेश करने तथा निकलने में अंतर्मूहूर्तकाल के भीतर संख्यात योजन चले जाते हैं।

मिच्छाइट्ठि-अभव्वा तेसुमसण्णी न होंति कइआइं।
तह्य अणज्झवसाया संदिद्धा विविह-विवरीदा ।; ९३२॥

इन कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य, असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते। अनध्यवसाय युक्त, संदेह युक्त तथा विविध विपरीतताओं सहित जीव भी नहीं रहते हैं।

आतंक-रोग-मरणुप्पत्तीओ बेरकामबाधाओ।
तण्हा-छुह-पीडाओ जिणमाहप्पेण ण हवंति ॥९३९॥

जिनभगवान की महिमा के कारण वहां जीवों को आतंक,

रोग, मरण, उत्पत्ति, वैर, कामबाधा, पिपासा तथा क्षुधा की पीडा नही होती है। मुनिसुव्रतकाव्य मे लिखा है —

> मिथ्यादृशः सदसि तत्र न संति मिश्राः।
> सासादनाः पुनरसंतिवदप्यभव्याः ॥
> भव्याः परं विरचितांजलयः सुचित्ताः।
> तिष्ठंति देववदनाभिमुखं गणोर्व्याम् ॥१०--४६॥

जिन भगवान के उस समवशरण मे अभव्य जीव, मिथ्यादृष्टि, सासादन गुणस्थानवाले तथा मिश्र गुणस्थानवाले जीव नही रहते है। द्वादश सभा मे निर्मल चित्तवाले भव्य जीव ही बद्धांजलि होकर जिनेन्द्र के समक्ष रहते है।

वापिकाओं का चमत्कार

समवशरण मे नंदा, भद्रा, जया तथा पूर्णा ये चार वापिकाएँ होती है। जिनेन्द्र भगवान का अद्भुत प्रभाव उन वापिकाओं मे दिखता है। हरिवंशपुराण मे कहा है,—

> ताः पवित्रजलापूर्ण-सर्वपाप-रुजाहराः।
> परापरभवाः सप्त दृश्यते यासु पश्यताम् ॥५७--७४॥

वे वापिकाएँ पवित्र जल से परिपूर्ण है तथा समस्त पाप और रोग को हरण करती है। उनमे देखनेवालो को अपने भूत तथा आगामी सप्तभव दिखाई पडते है।

स्तूप समूह

भगवान के समवशरण में स्तूपो का समुदाय बड़ा मनोरम होता है। तिलोयपण्णत्ति मे लिखा है; भवनभूमि के पार्श्वभागों मे प्रत्येक वीथी के मध्य मे जिन तथा सिद्धो की प्रतिमाओं से व्याप्त नौ-नौ स्तूप होते हैं। (४--८४४) ये स्तूप छत्र के ऊपर छत्र से संयुक्त, फहराती हुई ध्वजाओं के समूह से चचल अष्ट मङ्गल द्रव्यों से सहित और दिव्य रत्नो से निर्मित होते हैं। एक-एक स्तूप के बीच

में मकर के आकार के सौ तोरण होते हैं। भव्य जीव इन स्तूपों का अभिषेक, पूजन तथा प्रदक्षिणा करते हैं (८४५—८८७)

भव्य-कूट का चमत्कार

हरिवंशपुराण से ज्ञात होता है कि भव्यकूट नामके स्तूपों का दर्शन भव्यजीव ही कर सकते हैं। उस भव्यकूट के द्वारा भव्य अभव्य का भेद स्पष्ट हो जाता है। यह तीर्थंकर भगवान का दिव्य प्रभाव है, जो ऐसी कल्पनातीत बातें वहाँ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती हैं।

भव्यकूटाख्या स्तूपा भास्वत्कूटास्ततोऽपरे।
यानभव्या न पश्यंति प्रभावांधीकृतेक्षणाः ॥५७--१०४॥

भव्यकूट तथा भास्वत्कूट नाम के स्तूप होते हैं। भव्यकूट के तेज के कारण अभव्यों की दृष्टिचन्द हो जाती है, इससे वे उनका दर्शन नहीं कर पाते हैं। इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि स्तूप-पर्यन्त अभव्य जीव भी समवशरण में पहुँच सकते हैं। वे भगवान के समीप पहुँचकर कोठों में नहीं बैठते हैं। जीव के भावों की विचित्रता के कारण इस प्रकार का आश्चर्यप्रद परिणाम होता है। वस्तु का स्वभाव अपूर्व होता है। वह तर्क के अगोचर कहा गया है।

प्रश्न

समवशरण के महान प्रभाव को ध्यान में रखकर कभी-कभी यह शंका उत्पन्न होती है कि महावीर भगवान के समकालीन गौतम बुद्ध पर भगवान के समवशरण का दिव्य प्रभाव क्यों नहीं पड़ा? दोनों राजगिरि में रहे हैं।

समाधान

इस प्रश्न का उत्तर सरल है। भगवान का समवशरण पृथ्वीतल पर स्थित सभा-भवन के समान होता, तो बुद्ध का वहाँ पहुंचना संभव था, किन्तु आगम से ज्ञात होता है कि समवशरण भूतल से

पाच हजार धनुष अर्थात् बीस हजार हाथ प्रमाण ऊंचाई पर रहता है। यह पाच मील, पाच फर्लांग, सौ गज प्रमाण है। तिलोयपण्णत्ति में कहा भी है —

जादे केवलणाणे परमोरालं जिणाण सव्वाणं।
गच्छदि उवरिं चावा पंचसहस्साणि वसुहाओ ॥४—७०५॥

केवलज्ञान उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण जिनेन्द्रो का परमौदारिक शरीर पृथ्वी से पाच हजार धनुष प्रमाण ऊपर चला जाता है। दिव्य प्रभाववश अत्यत शीघ्र भव्य जीव बीस हजार प्रमाण सीढियो पर चढकर समवशरण मे सर्वज्ञ देव के दर्शनार्थ जाते हैं, किन्तु जिनका ससार परिभ्रमण शेष है तथा मिथ्यात्व का जिनके तीव्र उदय है ऐसे जीव समवशरण की ओर जाने की कामना ही नही करते हैं। अनेक जीव तो समवशरण को इन्द्रजाल कहते हुए सरल जीवों को बहकाते फिरते हैं। इस प्रकार विचार करने पर बुद्धादि का विशेष कर्मोदय के कारण समवशरण में न जाना पूर्ण स्वाभाविक दिखता है। स्वय एक मत-सचालक के मन मे अपने पक्षका विशेष मोह बस जाने से प्रतिपक्षी के वैभव देखने का मन नही होता। कुछ ऐसी ही मनोदशा बुद्ध को समवशरण मे जाने से रोकती होगी। प्रतिद्वद्वी की चित्त-वृत्ति सतुलित नही रहती। वहाँ हृदय कषाय से अनुरजित रहता है। कषाय की सामर्थ्य अद्भुत होती है। यही कारण है कि बुद्ध की दृष्टि एकान्त पक्ष से बच न सकी।

सीढ़ियां

सुर-णर-तिरियारोहण-सोवाण चउदिसासु पत्तेक्कं।
वीस-सहस्सा गयणे कणयमया उड्ढउड्ढम्मि ॥४—७२०॥

सुर, नर तथा तिर्यंचो के चढने के लिये चारो दिशाओ में से प्रत्येक दिशा में ऊपर-ऊपर सुवर्णमय बीस हजार सीढियाँ होती हैं। वे सीढियाँ एक हाथ ऊँची और एक हाथ विस्तार वाली थी।

आगमन का आधार

शंकाशील व्यक्ति सोचता है, समवशरण में जहाँ देखो वहाँ रत्नों मणियों, सुवर्णादि बहुमूल्य वस्तुओं का उपयोग हुआ है, यह कैसे संभव हो सकता है? जिस समय तीर्थंकर भगवान साक्षात् विराजमान रहते हैं, उस समय तो 'हाथ कंकण को आरसी क्या' के नियमानुसार प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा शंका का निवारण हो जाता है। आज जब यहाँ तीर्थंकर का अभाव है, तब उन लोकोत्तर बातों की प्रामाणिकता का मुख्य आधार है आगम की वाणी।

आगम बताता है कि तेरहवें गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति का उदय होता है। समस्त पण्य प्रकृतियों में तीर्थंकर प्रकृति का सर्वोपरि स्थान है। वह प्रकृति बड़ी विलक्षण है। उसके प्रभाव से सभी बातें तीर्थंकर में चमत्कार पूर्ण प्रतीत होती हैं। वास्तव में यह दयामयी जीवन वृत्ति का चमत्कार है। अहिंसा की सामर्थ्य तथा महिमा का यह ज्ञापक है।

जिन सिद्धान्तों में शुकवत् दया का पाठ किया जाता है, किन्तु जीव वध का त्याग नहीं किया जाता, वे दया रूपी कल्पतरू के अलौकिक फलों की क्या कल्पना कर सकते हैं? युक्ति और सद्विचार द्वारा भी तीर्थंकरत्व का परिपाक उसकी बीज रूप भावनाओं को ध्यान में रखने पर स्वाभाविक लगता है। योग तथा तपस्या का अवलंबन लेकर आत्मा तीन लोक में अपूर्व कार्य करने में समर्थ होती है। रागी द्वेषी, मोही तथा पाप पंक में निमग्न प्राणी के द्वारा पुद्गल का कुत्सित खेल देखने में आता है, वही पुद्गल वीतराग का निमित्त पाकर अत्यन्त मधुर, प्रिय तथा अभिवंदनीय वैभव और विभूति का दृश्य दिखाता है।

पवित्रता का प्रभाव

अंतःकरण में पवित्रता की प्रतिष्ठा होने पर वाह्य प्रकृति दासी के समान पुण्यवान की सेवा करती है। भगवान के गर्भ में आने

के छह माह पूर्व से इन्द्र सदृश प्रतापी समर्थ, वैभव के अधीश्वर भी प्रभु की सेवार्थ आते हैं। असंख्य देवी देवता सेवा करते हैं, भक्ति करते हैं, इसका कारण तीव्रतम पुण्योदय है। जैसे चुंबक के द्वारा लोहा आकर्षित होता है, इसी प्रकार इस तीर्थंकर प्रकृति के उदय युक्त आत्मा की आकर्षण शक्ति के कारण श्रेष्ठ निधियाँ तथा विभूतियाँ स्वयं समीप आती हैं और अपना मधुरतम मोहन प्रदर्शन करती हैं। अतः तत्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु की लोकोत्तरता के विषय में प्रगाढ श्रद्धा द्वारा अपने सम्यक्त्व को उज्ज्वल रखता है।

अतिशय

तीर्थंकर भक्ति में भगवान के चौतीस अतिशय कहे गए हैं। उनके लिए 'चउतीस-अतिसय-विसेस-सजुत्ताण' पद का प्रयोग आया है। अतएव उनके विषय में विचार करना उचित है। चौतीस अतिशयों में जन्म संबंधी दस अतिशयों का वर्णन किया जा चुका है। फिर भी उनका नामोल्लेख उचित है।

जन्म के अतिशय[1]

अतिशय रूप, सुगंधतन, नाहिं पसेव, निहार।
प्रिय हित वचन अतुल्यबल रुधिर श्वेत आकार॥
लक्षण सहसरु आठ तन, समचतुष्क संठान।
वज्रवृषभनाराच जुत ये जन्मत दशजान॥

तीर्थंकरों के केवलज्ञान होने पर घातिया कर्मक्षय करने से

(१) भगवान के दस जन्मातिशयों का पूज्यपाद स्वामी ने नंदीश्वर भक्ति में इस प्रकार वर्णन किया है —

नित्य नि स्वेदत्व, निर्मलता क्षीरगौररुधिरत्व च।
स्वाद्याकृतिसंहनने सौरूप्य सौरभ च सौलक्ष्यम्॥१॥
अप्रमितवीर्यता च प्रिय-हित-वादित्व मन्यदमितगुणस्य।
प्रथिता दश स्याता स्वतिशयधर्मा स्वयंभुवो देहस्य॥२॥

ये दश अतिशय उत्पन्न होते हैं :—

> गव्यूतिशतचतुष्टय-सुभिक्षता-गगनगमन-मप्राणिवधः ।
> भुक्त्युपसर्गाभाव-श्चतुरास्यत्वं च सर्वविद्येश्वरता ॥३॥
> अच्छायत्व-मपक्ष्मस्पंदश्च समप्रसिद्ध-नखकेशत्वं ।
> स्वतिशयगुणा भगवतो घातिक्षयजा भवंति तेपि दशैव ॥४॥
>
> नन्दीश्वर भक्ति

(१) चार सौ कोश भूमि में सुभिक्षता । श्लोक में आगत गव्यूति का अर्थ आचार्य प्रभाचन्द्र ने एक 'कोस गव्यूतिः क्रोशमेकं' किया है । तीर्थंकर देव के दयामय प्रभाव से सभी संतुष्ट, सुखी तथा स्वस्थता संपन्न होते हैं । इन जिनेन्द्र देव के आत्म-प्रभाव से वनस्पति आदि को स्वयमेव परिपूर्णता प्राप्त होने से पृथ्वी धन-धान्य से परिपूर्ण हो जाती है । श्रेष्ठ अहिंसामयी एक आत्मा का यह अपूर्व प्रभाव है । इससे यह अनुमान स्वयं निकाला जा सकता है कि पापी तथा जीव वध में तत्पर रहने वालों के चारों ओर दुर्भिक्षता आदि का प्रदर्शन रोती हुई दुःखी पृथ्वी के प्रतीक रूप है ।

(२) आकाश में गमन होना । योग के कारण भगवान के शरीर में विशेष लघुता (हल्कापन) आ जाती है, इससे उनको शरीर की गुरुता के कारण भूतल पर अवस्थित नहीं होना पड़ता है । पक्षियों में भी गगन गमनता पाई जाती है, किन्तु इसके लिए पक्षियों को अपने पक्षों का (पंखों का) संचालन करना पड़ता है ।

केवली भगवान का शरीर स्वयमेव पृथ्वी का स्पर्श नहीं करके आकाश में रहता है । उनका गगन-गमन देखकर यह स्पष्ट हो जाता है, कि इतर संसारी जीवों के समान अब ये योगीन्द्र-चूड़ामणि भूतल के भार स्वरूप नहीं हैं ।

दया का प्रभाव

(३) अप्राणिवध अर्थात् अर्हन्त के प्रभाव से उनके चरणों के समीप आने वाले जीवों को अभयत्व अर्थात् जीवन प्राप्त होता है ।

तीर्थंकर भगवान अहिंसा के देवता है। उनके समीप में हिंसा के परिणाम भाग जाते है और कूर प्राणी भी करुणामूर्ति बनता है। क्रूरता का उदाहरण रौद्रमूर्ति सिह सिहासन के बहाने से इन दया के देवता को अपने ऊपर धारण करता हुआ प्रतीत होता है जिससे वह दोषमुक्त हो जावे।

भव्य कल्पना

इस सम्बन्ध म उत्तरपुराण की यह उत्प्रेक्षा बड़ी भव्य तथा मार्मिक प्रतीत होती है। चद्रप्रभ भगवान के सिंहासन को दृष्टि मे रख आचार्य कहते है —

> शौर्यवृर्येण शौर्येण यदंह संचित परम्।
> सिंहैं हेतुं स्वजाते वा व्यूढं तस्यासनं व्यधात् ॥५४—५५॥

उन चद्रप्रभ जिनेन्द्र का सिंहासन ऐसा शोभायमान होता था, मानो क्रूरताप्रधान पराक्रम के द्वारा सचित पापो के क्षय के हेतु वे सिंह उनके आसन मे लग गए हो।

इसलिए श्रेष्ठ अहिंसा के शिखर पर स्थित इन तीर्थंकर प्रभु के प्रसाद से प्राणियो को अपूर्व परित्राण प्राप्त होता है।

(४) केवली भगवान के कवलाहार का अभाव पाया जाता है। उनकी आत्मा का इतना विकास हो चुका है, कि स्थूल भोजन द्वारा उनके दृश्यमान देह का सरक्षण अनावश्यक हो गया है। अब शरीर रक्षण के निमित्त बलप्रदान करने वाले सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओ का आगमन बिना प्रयत्न के हुआ करता है।

(५) भगवान के घातिया कर्म का क्षय होने से उपसर्ग का बीज बनने वाला असाता वेदनीयकर्म शक्ति शून्य बन जाता है, इसलिए केवलज्ञान की अवस्था में भगवान पर किसी प्रकार का उपसर्ग नहीं होता।

महत्व की बात

यह ध्यान देने योग्य बात है कि जब प्रभु के शरण में आने वाला जीव यम के प्रचंड प्रहार से बच जाता है, तब उन सर्वज्ञ जिनेन्द्र पर दुष्टव्यंतर, क्रूर मनुष्य अथवा हिंसक पशुओं द्वारा संकट का पहाड़ पटका जाना नितांत असंभाव्य है। जो लोग भगवान पर उपसर्ग होना मानते हैं, वे वस्तुतः उनके अनंतसुखी तथा केवलज्ञानी होने की अलौकिकता को बिलकुल भुला देते हैं।

चतुराननपने का रहस्य

(६) समवशरण में भगवान का मुख पूर्व या उत्तर दिशा की ओर रहता है, किन्तु उनके चारों ओर बैठने वाले बारह सभा के जीवों को ऐसा दिखता है कि भगवान का मुख चारों दिशा में ही है। अन्य संप्रदाय में जो ब्रह्मदेव को चतुरानन कहने की पौराणिक मान्यता है, उसका वास्तव में मूल बीज परम-ब्रह्म रूप सर्वज्ञ जिनेन्द्र के आत्म तेज द्वारा समवशरण में चारों दिशाओं में पृथक् पृथक् रूप से उन प्रभु के मुख का दर्शन होना है।

(७) भगवान सर्व विद्या के ईश्वर कहे जाते हैं, क्योंकि वे सर्व पदार्थों को ग्रहण करने वाली कैवल्य ज्योति से समलंकृत हैं। आचार्य प्रभाचंद ने द्वादशांग रूप विद्या को सर्वविद्या शब्द के द्वारा ग्रहण किया है। उस विद्या के मूलजनक ये जिनराज प्रसिद्ध हैं। टीकाकार के शब्द ध्यान देने योग्य हैं :—

"सर्व-विद्येश्वरता—सर्वविद्या द्वादशांग-चतुर्दशपूर्वाणि तासां स्वामित्वं। यदि वा सर्वविद्या केवलज्ञानं तस्या ईश्वरता स्वामिता" (क्रियाकलाप पृ० २४०)

(८) श्रेष्ठ तपश्चर्या रूप अग्नि में भगवान का शरीर तप्त हो चुका है। केवली बनने पर उनका शरीर निगोदिया जीवों से रहित हो गया है। [1]वह स्फटिक सदृश बन गया है, मानो शरीर भी

१—पुढवीआदि चउण्हं केवलिआहारदेवणिरयंगा।
अपदिट्ठिदा—णिगोदेहिं पदिट्ठिदंगा हवे सेसा॥

—गोम्मटसारजीवकाण्ड २००

(१०) सम-प्रसिद्ध-नखकेशत्व—भगवान् के नख और केश वृद्धि तथा ह्रास शून्य होकर समान रूप में ही रहते हैं। प्रभाचन्द्र आचार्य ने टीका में लिखा है—"समत्वेन वृद्धि-ह्रासहीनतया प्रसिद्धा नखाश्च केशाश्च यस्य देहस्य तस्य भावस्तत्त्वं" (पृ० २४७) भगवान का शरीर जन्म से ही असाधारणता का पुंज रहा है। आहार करते हुए भी उनके नीहार का अभाव था। केवली होने पर कवलाहार रूप स्थूल भोजन ग्रहण करना बन्द हो गया। अब उनके परम पुण्यमय देह में ऐसे परमाणु नहीं पाए जाते जो नख और केश रूप अवस्था को प्राप्त करें। शरीर में मल रूपता धारण करने वाले परमाणुओं का अब आगमन ही नहीं होता। इस कारण नख और केश न बढ़ते हैं और न घटते ही हैं।

देवकृत अतिशय

जिनेन्द्र भगवान के देवकृत चतुर्दश अतिशय उत्पन्न होते हैं।[1] (१) दशों दिशायें निर्मल हो गई थीं। (२) आकाश मेघ-पटल रहित हो गया था। (३) पृथ्वी धान्यादि से सुशोभित हो गई थी। इस विषय में महापुराणकार कहते हैं।

> परिनिष्पन्नशाल्यादि-सस्यसंपन्मही तदा।
> उद्भूतहर्ष-रोमांचा स्वामिलाभादिवाभवत्॥२५—२६६।

---

१ देवकृत चौदह अतिशय इस प्रकार हैं :—

> देवरचित हैं चारदश, अर्धमागधी भाष।
> आपसमाहीं मित्रता, निर्मल दिश आकाश॥
> होत फूल फल ऋतु सबै, पृथिवी काच समान।
> चरण कमल तल कमल हैं, नभतैं जय जय बान॥
> मन्द सुगंध बयारि पुनि, गंधोदक की वृष्टि।
> भूमि विषैं कण्टक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि॥
> धर्मचक्र आगे रहै, पुनि वसु मंगलसार।
> अतिशय श्रीअरहंतके, ये चौतीस प्रकार॥

आत्मा की निर्मलता का अनुकरण कर रहा है। इससे भगवान के शरीर की छाया नहीं पडती है। राजवार्तिक में प्रकाश को आवरण करने वाली छाया है 'छाया प्रकाशावरणनिमित्ता' (पृ० २३३) यह लिखा है। भगवान का शरीर प्रकाश का आवरण न कर स्वयं प्रकाश प्रदान करता है। उनका शरीर सामान्य मानव का शरीर नहीं है।

जिस शरीर के भीतर सर्वज्ञ सूर्य विद्यमान है, वह तो प्राची दिशा के समान प्रभात म स्वय प्रकाश परिपूर्ण दिखेगा। इस कारण भगवान के शरीर की छाया न पडना कर्मों की छाया से विमुक्त तथा निर्मल आत्मा के पूर्णतया अनुकूल प्रतीत होती है।

(६) अपक्ष्मस्पंदता अर्थात् नेत्रों के पलकों का बंद न होना। शरीर मे शक्तिहीनता के कारण नेत्र पदार्थों को देखते हुए क्षण भर विश्रामार्थ पलक बन्द कर लिया करते हैं। अब वीर्यान्तराय कर्म का पूर्ण क्षय हो जाने से ये जिनेन्द्र अनत वीर्य के स्वामी बन गए हैं। इस कारण इनके पलको में निर्बलता के कारण होने वाला बन्द होना, खोलना रूप कार्य नहीं पाया जाता है। दर्शनावरण कर्म का क्षय हो जाने से निद्रादि विकारो का अभाव हो गया है, अत. सरागी देवो के समान इन जिनदेव को निद्रा लेने के लिए नेत्रो के पलक बन्द करने की आवश्यकता नही पडती है।

स्वामी समन्तभद्र ने कहा है[1] कि जगत् के जीव अपनी जीविका, काम सुख तथा तृष्णा के वशीभूत हो दिन भर परिश्रम से थक कर रात्रि को नींद लेते हैं, किन्तु जिनेन्द्र भगवान् सदा प्रमाद रहित होकर विशुद्ध आत्मा के क्षेत्र में जागृत रहते हैं। इस कथन के प्रकाश में भगवान के नेत्रो के पलकों का न लगना उनकी श्रेष्ठ स्थिति के प्रतिकूल नहीं है।

(१) स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजा.।
स्वमार्य नक्तं दिवमप्रमत्तवानजागरेवात्म-विशुद्धवर्त्मनि ॥२८॥

—स्वयम्भूस्तोत्र

(१०) सम-प्रसिद्ध-नखकेशत्व—भगवान् के नख और केश वृद्धि तथा ह्रास शून्य होकर समान रूप में ही रहते हैं। प्रभाचन्द्र आचार्य ने टीका में लिखा है—"समत्वेन वृद्धि-ह्रासहीनतया प्रसिद्धा नखाश्च केशाश्च यस्य देहस्य तस्य भावस्तत्त्वं" (पृ० २४७) भगवान का शरीर जन्म से ही असाधारणता का पुंज रहा है। आहार करते हुए भी उनके नीहार का अभाव था। केवली होने पर कवलाहार रूप स्थूल भोजन ग्रहण करना बन्द हो गया। अब उनके परम पुण्यमय देह में ऐसे परमाणु नहीं पाए जाते जो नख और केश रूप अवस्था को प्राप्त करें। शरीर में मल रूपता धारण करने वाले परमाणुओं का अब आगमन ही नहीं होता। इस कारण नख और केश न बढ़ते हैं और न घटते ही हैं।

देवकृत अतिशय

जिनेन्द्र भगवान के देवकृत चतुर्दश अतिशय उत्पन्न होते हैं।[1] (१) दशों दिशायें निर्मल हो गई थीं। (२) आकाश मेघ-पटल रहित हो गया था। (३) पृथ्वी धान्यादि से सुशोभित हो गई थी। इस विषय में महापुराणकार कहते हैं।

> परिनिष्पन्नशाल्यादि-सस्यसंपन्मही तदा।
> उद्भूतहर्ष-रोमांचा स्वामिलाभादिवाभवत् ॥२५—२६६।

---

[1] देवकृत चौदह अतिशय इस प्रकार हैं :—

> देवरचित हैं चारदश, अर्धमागधी भाष।
> आपसमाहीं मित्रता, निर्मल दिश आकाश ॥
> होत फूल फल ऋतु सबै, पृथिवी काच समान।
> चरण कमल तल कमल है, नभतैं जय जय बान ॥
> मन्द सुगंध बयारि पुनि, गंधोदक की वृष्टि।
> भूमि विषैं कण्टक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि ॥
> धर्मचक्र आगे रहै, पुनि वसु मंगलसार।
> अतिशय श्रीअरहंतके, ये चौतीस प्रकार ॥

भगवान के विहार के समय पके हुए शालि आदि धान्यों से सुशोभित पृथ्वी ऐसी जान पड़ती थी, मानो स्वामी का लाभ होने से उसे हर्ष के रोमाच ही उठ आए हों। (४) सुगधित वायु बह रही थी (५) मेघकुमार जाति के देवों के द्वारा गधयुक्त जल की वृष्टि होती थी (६) पृथ्वी भी एक योजन पर्यन्त दर्पण के समान उज्ज्वल हो गई थी।

कमल रचना

(७) भगवान के विहार करते समय सुगधित तथा प्रफुल्लित २२५ कमलों की रचना देवगण करते थे। उनके चरणों के नीचे एक, उनके आगे सात, पीछे सात इस प्रकार पन्द्रह सुवर्णमय कमल थे। आकाशादि स्थानों में निर्मित सुवर्ण कमलों की सख्या २२५ कही गई है। आचार्य प्रभाचद ने लिखा है "अष्टसु दिक्षु तदन्तरेषु चाष्टसु सप्त-सप्तपद्मानि इति द्वादशोत्तरमेक शत। तथा तदतरेषु षोडशसु सप्तसप्तेति अपर द्वादशोत्तरशत, पादन्यासे पद्म चेति पच-विंशत्यधिक शतद्वयम्।" (क्रियाकलापटीका पृ० २४६ श्लोक ६ नदीश्वरभक्ति की सस्कृत टीका) आठ दिशाओं मे (चार दिशाओं तथा चार विदिशाओं मे) तथा उनके अष्ट अतरालो मे सप्त सप्त कमलो की रचना होने से एक सौ बारह कमल हुए। उन सोलह स्थानो के भी सोलह अतरालो मे पूर्ववत् सात-सात कमल थे। इस प्रकार एक सौ बारह कमल और हुए। कुल मिलकर २२४ हुए। "पादन्यासे च एक"—चरण को रखने के स्थान के नीचे एक कमल था। इस प्रकार २२५ कमलो की रचना होती है।

विहार की मुद्रा

इस कथन पर विचार करने से यह विदित होता है कि भगवान का विहार पद्मासन मुद्रा से नहीं होता है। पैर के न्यास अर्थात् रखने के स्थान पर एक कमल होता है, यहा 'न्यास'

महत्वपूर्ण है। यदि पद्मासन मुद्रा से गमन होता तो एक चरण के नीचे एक कमल की रचना का उल्लेख नहीं होता।

पद्मासन नाम की विशेष मुद्रा से प्रभु का विहार नहीं होता है, किन्तु यह सत्य है कि प्रभु के चरण पद्मों को आसन बनाते हुए विहार करते हैं। 'पद्मासन से' वे विहार नहीं करते, किन्तु 'पद्मासन पर' अर्थात् पद्मरूपी आसन पर वे विहार करते हैं, यह कथन पूर्णतया सुसङ्गत है।

परम स्थान के प्रतीक

सप्त सप्त पद्मों की रचना सम्भवतः सप्त परमस्थानों की प्रतीक लगती है। धर्म का आश्रय ग्रहण करने वाला सप्त परम स्थानों का स्वामित्व प्राप्त करता है। महापुराण में सप्त परम स्थानों के नाम इस प्रकार कहे गए हैं :—

सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परं निर्वाणमित्यपि ॥३८—६७॥

भगवान विहार करते समय चरणों को मनुष्य के समान उठाते थे, इसका निश्चय महापुराण के इन वाक्यों से भी होता है, यथा :—

भगवच्चरण-न्यास-प्रदेशेऽधिनभः स्थलम्।
मृदुःस्पर्शमुदारश्रि पंकजं हैममुद्बभौ ॥२५—२७३॥

भगवान के चरणन्यास अर्थात चरण रखने के प्रदेश में, आकाशतल में कोमल स्पर्श वाले तथा उत्कृष्ट शोभा समन्वित, सुवर्णमय कमल समूह शोभायमान हो रहा था।

यतो विजह्रे भगवान् हेमाब्ज-न्यस्त-सत्क्रमः।
धर्मामृताम्बु-संवर्षैस्ततो भव्याः धृतिं दधुः ॥२५—२८२॥

सुवर्णमय कमलों पर पवित्र चरण रखने वाले वीतराग प्रभु ने जहाँ-जहाँ से विहार किया, वहाँ वहाँ के भव्यों ने धर्मामृत रूपी जल की वर्षा से परम सन्तोष प्राप्त किया था।

कमल पर उत्प्रेक्षा

भगवान के चरणो के नीचे जो कमलों की रचना होती थी; उसके विषय मे धर्मशर्माभ्युदय में बड़ा सुन्दर तथा मनोरम कथन किया गया है —

> अनपायामिव प्राप्तुं पादच्छायां नभस्तले ।
> उपकण्ठे सुखोटास्य पादयोः कमलोत्करः ॥१६९॥
> यत्तदा विदधे तस्य पादयोः पर्युपासनम् ।
> अद्यापि भाजनं लक्ष्म्या तेनाय कमलाकरः ॥१७०, २१ सर्ग॥

भगवान के चरणयुगल के समीप में आकर कमलों के समुदाय ने नभोमण्डल में प्रभु के चरणों की अविनाशी छाया का लाभ लेने के लिए ही वहाँ निवास किया था।

कमलो ने भगवान की विहार वेला में उनके चरणों की जो समाराधना की थी, प्रतीत होता है इसी कारण वे कमलवृन्द लक्ष्मी के द्वारा निवासभूमि बनाए गए हैं।

(८) आकाश मे 'जय-जय' ऐसी ध्वनि होती थी (९) संपूर्ण जीवो को परम आनद प्राप्त होता था। हरिवंश पुराण में कहा है :—

> विहरत्युपकाराय जिने परमबान्धवे ।
> बभूव परमानंदः सर्वस्य जगतस्तदा ॥३—२१

परम बन्धु जिनेन्द्र देव के जगत् कल्याणार्थ विहार होने पर समस्त जगत् को परम आनद प्राप्त होता था।

(१०) पृथ्वी कटक, पाषाण, कीटादि रहित हो गई थी।

धर्म-चक्र

(११) भगवान के आगे एक सहस्र आरों वाला तथा अपनी दीप्ति द्वारा सूर्य का उपहास करता हुआ धर्मचक्र शोभायमान होता था। हरिवंशपुराण मे कहा है :—

> सहस्रारं हसद्दीप्त्या सहस्रकिरणद्युति ।
> धर्मचक्रं जिनस्याग्रे प्रस्थानास्थानयोरभात् ॥३—२९॥

तिलोयपण्णत्ति में धर्मचक्रों के विषय में इस प्रकार कहा है :—

जक्खिंद-मत्थएसुं किरणुज्जल-दिव्व-धम्मचक्काणि ।
दट्ठूण संठयाइं चत्तारि-जणस्स अच्छरिया ॥४—६१३॥

यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित तथा किरणों से उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्म-चक्रों को देखकर लोगों को आश्चर्य होता है।

(१२) संपूर्ण विरोधी जीवों में भी आपस में मैत्री उत्पन्न हो गई थी। हरिवंश पुराण में लिखा है :—

अन्योन्य-गंधमासोढुमक्षमाणामपि द्विषाम् ।
मैत्री बभूव सर्वत्र, प्राणिनां धरणीतले ॥३—१७॥

जो विरोधी जीव एक दूसरे की गंध भी सहन करने में असमर्थ थे, सर्वत्र पृथ्वी तल पर उन प्राणियों में मैत्री भाव उत्पन्न हो गया था।

जीवों में विरोध दूर होकर परस्पर में प्रीति भाव उत्पन्न कराने में प्रीतिकर देव तत्पर रहते थे।

(१३) ध्वजा सहित अष्ट मंगल-द्रव्य युक्त भगवान का विहार होता था। भृंगार, कलश, दर्पण, व्यजन (पंखा), ध्वजा, चामर, छत्र, तथा सुप्रतिष्ठ (स्वस्तिक) ये आठ मंगल द्रव्य कहे गए हैं। त्रिलोकसार में कहा है :—

भृंगार-कलश-दर्पण-वीजन-ध्वज-चामरातपत्रमथ ।
सुप्रतिष्ठं मंगलानि च अष्टाधिकशतानि प्रत्येकम् ॥९८९॥

ये प्रत्येक १०८ होते हैं।

(१४) सर्वार्धमागधी वाणी द्वारा जीवों को शांति प्राप्त होती थी। हरिवंशपुराण में लिखा है :—

अमृतस्येव धारां तां भाषां सर्वार्धमागधीं ।
पिबन् कर्णपुटैर्जैनो ततर्प त्रिजगज्जनः ॥३—१६॥

जिनेन्द्र भगवान की सर्वार्धमागधी भाषा को अमृत की धारा के समान कर्ण-पुटो से रस पान करते हुए त्रिलोक के जीव संतुष्ट हो रहे थे ।

भगवान की दिव्यध्वनि मागध नाम के व्यंतर देवो के निमित्त से सर्व जीवो को भलीप्रकार सुनाई पडती थी । आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित नंदीश्वर भक्ति मे इस अर्धमागधी भाषा का नाम सार्वार्धमागधी लिखा है—"सार्वार्धमागधीया भाषा ।" टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र ने लिखा है "सर्वेभ्यो हिता सार्वा । सा चासौ अर्धमागधीया च ।" सबके लिए हितकारी को सार्व कहते हैं । वह अर्धमागधी भाषा सर्वहितकारी थी ।

प्रातिहार्य

तीर्थंकर भगवान समवशरण मे अष्ट प्रातिहार्यों से समलङ्कृत हैं । 'अट्ठपाडिहेरसहियाण' पद तीर्थंकर भक्ति में आया है । उन प्रातिहार्यो की अपूर्व छटा का जैन ग्रथो मे मधुर वर्णन पाया जाता है ।

पुष्प-वर्षा

(१) पुष्प वृष्टि पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है । आकाश से सुवास युक्त पुष्पो की वर्षा हो रही थी । इस विषय में धर्मशर्माभ्युदय काव्य का यह कथन बडा मधुर और मार्मिक लगता है ।

वृष्टिः पौष्पी सा कुतोऽभूत्नभस्तः, संभाव्यते नात्र पुष्पाणि यस्मात् ।
यद्वा जातं शासनस्य हस्तादर्हद्भीत्या तत्र बाणानिपेतु. ॥२०—६४॥

आकाश मे यह पुष्प की वर्षा किस प्रकार हुई ? वहाँ आकाश मे पुष्पो के रहने की सभावना नही है, प्रतीत होता है कि अरहत भगवान के भय से शीघ्र ही काम के हाथ से उसके पुष्पमय बाण गिर पडे ।

दुंदुभि नाद

(२) आकाश में देवों द्वारा दुंदुभि का मधुर शब्द चित्त को आनंदित करता था। महाकवि हरिचन्द्र धर्मशर्माभ्युदय में कहते हैं :—

> क्वेयं लक्ष्मीः क्वेदृशं निस्पृहत्वं, क्वेदं ज्ञानं क्वातस्यनोदत्यमीदृक्।
> रे रे ब्रूत प्राक्कुतीर्थ्या इतीव ज्ञाने भर्तुर्दुंदुभिर्व्योम्न्यवादीत् ॥२०—६६॥

अरे! मिथ्यामत-वादियों! यह तो बताओ इस प्रकार की समवशरण की अनुपम लक्ष्मी कहाँ और भगवान की श्रेष्ठ निस्पृहता कहाँ! वे उस लक्ष्मी का स्पर्श भी नहीं करते। कहाँ इनका त्रिकालगोचर ज्ञान और कहाँ उनकी मद रहित वृत्ति? दुंदुभि का शब्द यह कथन करता हुआ प्रतीत होता है।

चमर

(३) भगवान के ऊपर चौंसठ चामर देवों द्वारा ढारे जा रहे थे। वे चामर भगवान को प्रणाम करते हुए तथा उसके फल स्वरूप उन्नति को बताते थे। कल्याण मंदिर स्तोत्र में यही बात इन शब्दों में प्रगट की गई है :—

> स्वामिन्! सुदूरमवनम्य समुत्पतंतो मन्ये वदंति शुचयः सुर-चामरौघाः।
> येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुंगवाय, ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः ॥२२॥

हे स्वामिन्! हमें यह प्रतीत होता है कि दूर से आकर आप पर ढारे गए पवित्र देवों कृत चामरों का समुदाय यह कहता है, कि जो भव्य समवशरण में विराजमान जिनेन्द्र देव को प्रणाम करते हैं, वे जीव पवित्र भाव युक्त होकर इन चामरों के समान ऊर्ध्वगति युक्त होते हैं अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

छत्र

(४) भगवान के छत्रत्रय अत्यंत रमणीय दिखते थे। उनके

हे देव! दैदीप्यमान किरणों के द्वारा अन्धकार पटल का नाश करने वाले, मेघ के समीपवर्ती सूर्य-बिंब के समान अत्यंत तेजयुक्त अशोक वृक्ष का आश्रय ग्रहण करने वाला आपका रूप अत्यंत शोभायमान होता है।

सिंहासन

(७) भक्तामर स्तोत्र में सिंहासन पर शोभायमान जिन-भगवान के विषय में कहा है :—

सिंहासने मणिमयूख-शिखा विचित्रे।
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्बं वियद्-विलसदंशुलता-वितानम्।
तुंगोदयाद्रिशिरसीव सहस्त्ररश्मे ।।२९।।

हे भगवन! मणियों की किरण जाल से शोभायमान सिंहासन पर विराजमान सुवर्ण समान दैदीप्यमान आपका शरीर इस प्रकार सुन्दर प्रतीत होता है, जैसे उन्नत उदयाचल के शिखर पर नभोमंडल में शोभायमान किरणलता के विस्तार युक्त सूर्य का विम्ब शोभायमान होता है।

प्रभामंडल

भगवान के प्रभामण्डल की अपूर्व महिमा कही गई है।

जिनदेह-रुचामृताब्धि-शुचौ।
सुर-दानव मर्त्य-जनः ददृशुः।।
स्व-भवान्तर-सप्तकमात्तमुदो।
जगतो बहुमंगलदर्पण के ।।२३—६७।। महापुराण

अमृत के समुद्र सदृश निर्मल और जगत को अनेक मंगल रूप दर्पण के समान भगवान के देह के प्रभामंडल में सुर, असुर तथा मानव लोग अपने सात सात भव देखते थे। तीन भव भूतकाल के, तीन भव भविष्यत काल के और एक भव वर्तमान का, इस प्रकार सात भवों का दर्शन प्रभु के प्रभामंडल में होता था।)

विषय मे आचार्य मानतुग कहते है —

छत्रत्रयं तव विभाति शशांककान्त।
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्।
मुक्ताफलप्रकरजाल-विवृद्ध शोभम्।
प्रख्यापयत्त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥३१॥ भक्तामरस्तोत्र।

हे भगवन! चन्द्रमा के समान शोभायमान, सूर्य किरणो के सताप को दूर करने वाले आपके मस्तक के ऊपर विराजमान मोतियो के पुज मे जिनकी शोभा वृद्धि को प्राप्त हो रही है, ऐसे छत्रत्रय आपके तीन लोक के परमेश्वरपने को प्रगट करते हुए शोभायमान होते है।

दिव्य ध्वनि

(५) दिव्यध्वनि के विषय मे ये शब्द बडे मार्मिक है .—

स्थान गभीर-हृदयोदधिसभवाया।
पोयूषता तव गिर. समुदीरयति।
पीत्वा यतः परमसमद-संगभाजो।
भव्या' व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम् ॥२१॥ कल्याणमदिर स्तोत्र

हे जिनेन्द्र देव! गभीर हृदय रूप सिधु मे उत्पन्न हुई आपकी दिव्यवाणी को जगत अमृत नाम से पुकारता है। यह कथन पूर्ण योग्य है, क्योकि भव्य जीव आपकी वाणी का कर्णेन्द्रिय के द्वारा रसपान करके अत्यत आनद युक्त होकर अजर-अमर पद को प्राप्त करते है।

अशोक तरु

(६) अशोक वृक्ष के नीचे विराजमान आदिनाथ प्रभु की मनोज्ञ छवि का मानतुगाचार्य इस प्रकार वर्णन करते है :—

उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
माभातिरूपममल भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्त-तमोवितानम्।
बिम्बं रवेरिव पयोधर-पार्श्ववर्ति ॥२८॥

हे देव ! दैदीप्यमान किरणों के द्वारा अन्धकार पटल का नाश करने वाले, मेघ के समीपवर्ती सूर्य-बिंब के समान अत्यंत तेजयुक्त अशोक वृक्ष का आश्रय ग्रहण करने वाला आपका रूप अत्यंत शोभायमान होता है।

सिंहासन

(७) भक्तामर स्तोत्र में सिंहासन पर शोभायमान जिन-भगवान के विषय में कहा है :—

> सिंहासने मणिमयूख-शिखा विचित्रे ।
> विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
> बिम्बं वियद्-विलसदंशुलता-वितानम् ।
> तुंगोदयाद्रिशिरसीव सहस्त्ररश्मे ।।२६।।

हे भगवन ! मणियों की किरण जाल से शोभायमान सिंहासन पर विराजमान सुवर्ण समान दैदीप्यमान आपका शरीर इस प्रकार सुन्दर प्रतीत होता है, जैसे उन्नत उदयाचल के शिखर पर नभोमंडल में शोभायमान किरणलता के विस्तार युक्त सूर्य का बिम्ब शोभायमान होता है।

प्रभामंडल

भगवान के प्रभामण्डल की अपूर्व महिमा कही गई है।

> जिनदेह-रुचामृताब्धि-शुचौ ।
> सुर-दानव मर्त्य-जनः ददृशुः ।।
> स्व-भवान्तर-सप्तकमात्तमुदो ।
> जगतो बहुमंगलदर्पण के ।।२३—६७।। महापुराण

अमृत के समुद्र सदृश निर्मल और जगत को अनेक मंगल रूप दर्पण के समान भगवान के देह के प्रभामंडल में सुर, असुर तथा मानव लोग अपने सात सात भव देखते थे। तीन भव भूतकाल के, तीन भव भविष्यत काल के और एक भव वर्तमान का, इस प्रकार सात भवों का दर्शन प्रभु के प्रभामंडल में होता था।)

(८) भामडल के विषय मे मानतुग आचार्य ने लिखा है :—

शुंभत्प्रभावलय-भूरिविभा विभोस्ते,
लोकत्रये द्युतिमतां द्युतिमाक्षिपंती।
प्रोद्यद्दिवाकर-निरन्तरभूरिसख्या ।
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सौमसौम्या ॥३४॥

हे आदिनाथ भगवान् ! परब्रह्म-स्वरूप आप के शोभायमान प्रभामडल की प्रचुरदीप्ति तीनो जगत् मे प्रकाशमान पदार्थो के तेज को तिरस्कृत करती हुई उदीयमान सूर्यो की एकत्रित विपुल संख्या को तथा चद्रमा के द्वारा सौम्य रात्रि के सौन्दर्य को भी अपनी तेज के द्वारा जीतती है ।

अशोक-तरु

तिलोयपण्णत्ति मे अष्ट महा प्रातिहार्यो का वर्णन करते हुए अशोक वृक्ष के विषय में यह विशेष कथन किया है :—

जेसि तरुणमूले उप्पण्णं जाण केवलं णाण ।
उसहप्पहुदि-जिणाण ते चिय असोयरुक्खत्ति ॥४—६१५॥

ऋषभादि तीर्थकरो को जिन वृक्षो के नीचे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ वे ही उनके अशोक वृक्ष कहे गए है ।

चौबीस तीर्थकरो के भिन्न-भिन्न अशोक वृक्ष है । ऋषभनाथ अजितनाथ आदि जिनेन्द्रो के क्रमश. निम्नलिखित अशोक वृक्ष कहे गए है —

न्यग्रोध (वट) सप्तपर्ण (सप्तच्छद) शाल, सरल, प्रियगु, प्रियगु, शिरीष, नागवृक्ष, अक्ष (बहेडा) धूली (मालिवृक्ष) पलाश, तेंदू, पाटल, पीपल, दधिपर्ण, नन्दी, तिलक, आम्र, कंकेलि (अशोक) चपक, वकुल, मेषशृग, धव और शाल ये अशोकवृक्ष लटकती हुई मालाओ से युक्त और घटादिक से रमणीय होते हुए पल्लव एवं पुष्पों से झुकी हुई शाखाओ से शोभायमान होते है । (४—६१६—६१८)

ऋषभादिक तीर्थंकरों के उपर्युक्त चौबीस अशोक वृक्ष बारह से गुणित अपने अपने जिन भगवान की ऊँचाई से युक्त शोभायमान होते हैं (गाथा ४—९१९) महापुराण में अशोकवृक्ष के विषय में लिखा है :—

मरकतहरितैः पत्रै मंणिमयकुसुमैश्चित्रैः।
मरुदुपविधुताः शाखाश्चिरमधृत महाशोकः॥२३—३६॥

वह महाशोक वृक्ष मरकतमणि के बने हुए हरे हरे पत्ते और रत्नमय चित्र-विचित्र फूलों से अलंकृत था तथा मन्द-मन्द वायु से हिलती हुई शाखाओं को धारण कर रहा था। उस अशोक वृक्ष की जड़ वज्र की बनी हुई थी, जिसका मूलभाग रत्नों से दैदीप्यमान था। ऋषभनाथ भगवान का अशोक वृक्ष एक योजन विस्तार युक्त शाखाओं को फैलाता हुआ शोक रूपी अन्धकार को नष्ट करता था। महान आत्माओं के आश्रय से तुच्छ पदार्थों की भी महान प्रतिष्ठा होती है, इस विषय में यह अशोक वृक्ष सुन्दर उदाहरण है।

दिव्यध्वनि की विशेषता

भगवान के अष्ट प्रातिहार्यों में उनकी दिव्यध्वनि का मोक्षमार्ग की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। तिलोयपण्णत्ति में कहा है :—

छद्दव्व-णवयपत्थे पंचट्ठीकाय-सत्ततच्चाणि।
णाणाविह-हेदूहिं दिव्वझुणी भणइ भव्वाणं॥४–९०५॥

यह दिव्यध्वनि भव्यजीवों को छह द्रव्य, नव पदार्थ, पंच अस्तिकाय तथा सप्त तत्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है। यह दिव्यध्वनि अत्यंत मधुर, गंभीर तथा मृदु लगती है। यह एक योजन प्रमाण समवशरण में रहनेवाले भव्य जीवों को प्रतिबोध प्रदान करती है। यह जिनेन्द्रध्वनि कंठ, तालु आदि शब्दों को उत्पन्न करने वाले अंगों की सहायता बिना उत्पन्न होती है। इसे किसी भी भाषा के नाम से न कहकर ध्वनि मात्र शब्द द्वारा कहा गया है।

भाषा और ध्वनि

देवकृत अतिशयो मे 'अर्ध मागधी भाषा' का उल्लेख आया है। दिव्यध्वनि का भगवान के अष्ट प्रातिहार्यों में कथन है।[1] भाषा और ध्वनि शब्द रूप से समान है, किन्तु उनमे भिन्नता भी है। ध्वनि व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष की वाणी में सीमित नही होती। तीर्थंकर भगवान का उपदेश देव, मनुष्य, पशु आदि अपनी अपनी भाषाओ मे समझते है, इसलिए प्रभु की देशना को भाषा-विशेष रूप न कह कर उसके अलौकिक प्रभाव के कारण दिव्य ध्वनि कहा गया है।

सार्वार्ध-मागधी-भाषा

नन्दीश्वर भक्ति मे अर्धमागधी भाषा को 'सार्वार्धमागधीया भाषा' कहा है। सर्व के लिए हितकारी को सार्व कहा है।

मागध देव के सन्निधान होने पर जिनेन्द्र की वाणी को सम्पूर्ण जीव भली प्रकार ग्रहण करने में तथा उससे लाभ उठाने में समर्थ हो जाते है। आज वक्ता की वाणी को ध्वनिवाहक यन्त्र द्वारा दूरवर्ती श्रोताओ के पास पहुँचाया जाता है। इस यन्त्र की सहायता से वाणी समीप मे अधिक उच्चस्वर से श्रवण गोचर होती है और कही उसका स्वर मन्द होता है। जिनेन्द्र की ध्वनि, प्रतीत होता है, मागध देवो के निमित से सभी जीवों को समान रूप से पूर्ण स्पष्ट और अत्यन्त मधुर सुनाई पडती है।

जिनेन्द्र देव से उत्पन्न दिव्यध्वनि रूपी जलराशि को मागध देव रूपी सहायको के द्वारा भिन्न-भिन्न जीवो के कर्ण प्रदेश के समीप सरलता पूर्वक पहुँचाया जाता है। जैसे सरोवर का जल नल (जल-

---

(१) तरु अशोक के निकट में सिंहासन छविदार।
तीन छत्रसिर पर लसैं भामडल पिछवार॥
दिव्यध्वनि मुखतें खिरे पुष्पवृष्टि सुर होय।
ढोरें चौसठ चमर जख, बाजैं दुदुंभि जोय॥

कल) के माध्यम से जनता के समीप जाता है और जनता उसे नल का पानी नाम प्रदान करती है। प्रतीत होता है कि भगवान की वाणी को भिन्न-भिन्न जीवों के समीप पहुँचा कर उसे सुखपूर्वक श्रवण योग्य बनाने आदि के पवित्र कार्य में अपनी सेवायें तथा सामर्थ्य समर्पण करने के कारण भगवान की सार्ववाणी को सार्वार्धमागधी नाम प्राप्त होता है। जब मागधदेव उस भगवद्वाणी की सेवा करते हैं, तो महान आत्मा की सेवा का उन्हें यह गौरव प्राप्त होता है कि उस श्रेष्ठ वाणी में सेवक के नाते उनका भी नाम आता है। समवशरण में जिस वाणी को सुनकर भव्य जीव अपनी भव बाधा को दूर करने योग्य बोध प्राप्त करते हैं, वह जिनेन्द्र देव के द्वारा उद्भूत हुई है और मागध देवों के सहकार्य से भव्यों के समीप पहुँची है। जब उस वाणी की श्रोताओं को उपलब्धि द्विविध कारणों से होती है, तब द्वितीय कारण को उस कार्य का आधा श्रेय स्थूल दृष्टि से दिया जाना अनुचित प्रतीत नहीं होता।

कल्पना

कोई-कोई यह सोचते हैं कि राजगिरि जिस प्रांत की राजधानी थी उस मगध देश की भाषा के अधिक शब्द भगवान की दिव्य ध्वनि में रहे होंगे अथवा भगवान प्राकृत भाषा के उपभेद रूप अर्धमागधी नाम की भाषा में बोलते थे।

समाधान

लोक रुचि के परितोष के लिए उपरोक्त समाधान देते हुए कोई कोई व्यक्ति देखे जाते हैं, किन्तु आगम की पृष्ठभूमि का उक्त समाधान को आश्रय नहीं है। सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय विषयों पर साधिकार एवं निर्दोष प्रकाश डालने की क्षमतासंपन्न आगम कहता है कि भगवान की वाणी किसी एक भाषा में सीमित नहीं रहती। सर्व-विद्या के ईश्वर सर्वत्र एक ही भाषा का उपयोग करेंगे और अन्य

देश तथा प्रान्त की बहुसंख्यक जनता के कल्याणार्थ अपनी पूर्व प्रयुक्त भाषा में परिवर्तन न करेंगे यह बात अन्तःकरण को अनुकूल प्रतीत नहीं होती। उदाहरणार्थ भगवान जब विपुलाचल पर विराजमान थे तब मगध की मागधी भाषा में विशेष जनकल्याण को लक्ष्य कर उपदेश देना उचित तथा आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु महीशूर (मैसूर) प्रान्त में भव्य जीवों के पुण्य से पहुँचने वाले वे परम पिता जिनेन्द्रदेव यदि कनडी भाषा का आश्रय लेकर तत्व निरूपण करें तो अधिक उचित बात हो। जिनेन्द्र देव की संपूर्ण बातें उचित और निर्दोष ही होंगी। ऐसी स्थिति में सर्वत्र सर्वदा मागधी नामकी प्रान्त विशेष की भाषा में प्रभु का उपदेश होता है, यह मान्यता सुदृढ तर्क पर आश्रित नहीं दिखती।

लोकोत्तर वाणी

महान तपश्चर्या, विशुद्ध सम्यग्दर्शन, परमयथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान आदि श्रेष्ठ सामग्री का सन्निधान प्राप्त कर समुद्भूत होने वाली सम्पूर्ण जीवों को शाश्वतिक शांतिदायिनी भगवद् वाणी की सामान्य संसारी प्राणियों की भाषा से सतुलना कर दोनों को समान समझने का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। वह वाणी लोकोत्तर है। लोकोत्तम योगिराज जिनेन्द्र की है। संसारी जन योगिराज की विद्या, विभूति और सामर्थ्य का लेश भी नहीं प्राप्त कर सकते। रेत का एक कण और पर्वत कैसे समान रूप में विशाल कहे जा सकते हैं। महान तार्किक विद्वान समंतभद्र जिनेन्द्र की प्रवृत्तियों के गंभीर चिंतन के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि "जिनेन्द्र के कार्य अचिंत्य हैं —" "धीर! तावकमचिंत्यमीहितम्" (७४ स्वयंभू स्तोत्र)। उन्होंने जिनेन्द्र के विषय में लिखा है :—

> मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।
> तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः ॥७५॥

"हे धर्मनाथ जिनेन्द्र ! आपने निर्दोष अवस्था को प्राप्त कर मानव प्रकृति की सीमा का अतिक्रमण किया है अर्थात् मानव समाज में पाई जाने वाली अपूर्णताओं तथा असमर्थताओं से आप उन्मुक्त हैं। आप देवताओं में भी देव स्वरूप है, इसलिए हे स्वामिन् आप परमदेवता हैं। हम पर कल्याण के हेतु प्रसन्न हों।"

महत्व की बात

योगियों की अद्भुत तपस्याओं के प्रसाद से जो फल रूप में सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनसे समस्त विश्व विस्मय के सिंधु में डूब जाता है। समीक्षक सिद्धियों के अद्भुत परिपाक को देखकर हतबुद्धि बन जाता है। वह यदि इन जिनेन्द्रों की उत्कृष्ट रत्नत्रय धर्म की समाराधना को ध्यान में रखे तो चमत्कारों को देख उसका मस्तक श्रद्धा से विनय मस्तक हुए बिना न रहेगा। दीक्षा लेकर केवलज्ञान पर्यंत महा मौन को स्वीकार करने वाले तीर्थंकरों की वाणी में लोकोत्तर प्रभाव पाया जाता तर्क दृष्टि से पूर्ण संगत तथा उचित है। जब भगवान का प्रभामंडल रूप प्रातिहार्य सहस्त्र सूर्य के तेज को जीतता हुआ तथा समवशरण में दिन रात्रि के भेदों को दूर करता हुआ भव्य जीवों को उनके सात भव दिखाने वाले अलौकिक दर्पण का काम करता है, तब भगवान की दिव्यध्वनि महान चमत्कार पूर्ण प्रभाव दिखावे यह पूर्णतया उचित है।

आगम आधार

चन्द्रप्रभ काव्य में दिव्यध्वनि के विषय में लिखा है :—

सर्वभाषा-स्वभावेन ध्वनिनाथ जगद् गुरुः।
जगाद गणिनः प्रश्नादिति तत्वं जिनेश्वरः ।।१८—१।।

जगत के गुरु चन्द्रप्रभ जिनेंद्र ने गणधर के प्रश्न पर सर्व भाषा रूप स्वभाव वाली दिव्यध्वनि के द्वारा तत्व का उपदेश दिया। हरिवंशपुराण में भगवान की दिव्यध्वनि को हृदय और कर्ण के लिए

देश तथा प्रान्त की बहुसंख्यक जनता के कल्याणार्थ अपनी पूर्व प्रयुक्त भाषा में परिवर्तन न करेंगे यह बात अन्तःकरण को अनुकूल प्रतीत नहीं होती । उदाहरणार्थ भगवान जब विपुलाचल पर विराजमान थे तब मगध की मागधी भाषा में विशेष जनकल्याण को लक्ष्य कर उपदेश देना उचित तथा आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु महीसूर (मैसूर) प्रान्त में भव्य जीवों के पुण्य से पहुँचने वाले वे परम पिता जिनेन्द्रदेव यदि कनडी भाषा का आश्रय लेकर तत्व निरूपण करें तो अधिक उचित बात हो । जिनेन्द्र देव की संपूर्ण बातें उचित और निर्दोष ही होंगी । ऐसी स्थिति में सर्वत्र सर्वदा मागधी नामकी प्रान्त विशेष की भाषा में प्रभु का उपदेश होता है, यह मान्यता सुदृढ़ तर्क पर आश्रित नहीं दिखती ।

लोकोत्तर वाणी

महान तपश्चर्या, विशुद्ध सम्यग्दर्शन, परमयथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान आदि श्रेष्ठ सामग्री का सन्निधान प्राप्त कर समुद्भूत होने वाली संपूर्ण जीवों को शाश्वतिक शांतिदायिनी भगवद् वाणी की सामान्य संसारी प्राणियों की भाषा से संतुलना कर दोनों को समान समझने का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता । वह वाणी लोकोत्तर है । लोकोत्तम योगिराज जिनेन्द्र की है । संसारी जन योगिराज की विद्या, विभूति और सामर्थ्य का लेश भी नहीं प्राप्त कर सकते । रेत का एक कण और पर्वत कैसे समान रूप से विशाल कहे जा सकते हैं । महान तार्किक विद्वान समंतभद्र जिनेन्द्र की प्रवृत्तियों के गंभीर चिंतन के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि "जिनेन्द्र के कार्य अचिंत्य हैं —" "धीर ! तावकमचिंत्यमीहितम्" (७४ स्वयंभू स्तोत्र) । उन्होंने जिनेन्द्र के विषय में लिखा है :—

> मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः ।
> तेननाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः ।।७५।।

"हे धर्मनाथ जिनेन्द्र ! आपने निर्दोष अवस्था को प्राप्त कर मानव प्रकृति की सीमा का अतिक्रमण किया है अर्थात् मानव समाज में पाई जाने वाली अपूर्णताओं तथा असामर्थताओं से आप उन्मुक्त हैं। आप देवताओं में भी देव स्वरूप है, इसलिए हे स्वामिन् आप परमदेवता हैं। हम पर कल्याण के हेतु प्रसन्न हों।"

महत्व की बात

योगियों की अद्भुत तपस्याओं के प्रसाद से जो फल रूप में सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनसे समस्त विश्व विस्मय के सिंधु में डूब जाता है। समीक्षक सिद्धियों के अद्भुत परिपाक को देखकर हतबुद्धि बन जाता है। वह यदि इन जिनेन्द्रों की उत्कृष्ट रत्नत्रय धर्म की समाराधना को ध्यान में रखे तो चमत्कारों को देख उसका मस्तक श्रद्धा से विनय मस्तक हुए बिना न रहेगा। दीक्षा लेकर केवलज्ञान पर्यंत महा मौन को स्वीकार करने वाले तीर्थंकरों की वाणी में लोकोत्तर प्रभाव पाया जाता तर्क दृष्टि से पूर्ण संगत तथा उचित है। जब भगवान का प्रभामंडल रूप प्रातिहार्य सहस्त्र सूर्य के तेज को जीतता हुआ तथा समवशरण में दिन रात्रि के भेदों को दूर करता हुआ भव्य जीवों को उनके सात भव दिखाने वाले अलौकिक दर्पण का काम करता है, तब भगवान की दिव्यध्वनि महान चमत्कार पूर्ण प्रभाव दिखावे यह पूर्णतया उचित है।

आगम आधार

चन्द्रप्रभ काव्य में दिव्यध्वनि के विषय में लिखा है :—

सर्वभाषा-स्वभावेन ध्वनिनाथ जगद् गुरुः।
जगाद गणिनः प्रश्नादिति तत्वं जिनेश्वरः ॥१८—१॥

जगत के गुरु चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ने गणधर के प्रश्न पर सर्व भाषा रूप स्वभाव वाली दिव्यध्वनि के द्वारा तत्व का उपदेश दिया। हरिवंशपुराण में भगवान की दिव्यध्वनि को हृदय और कर्ण के लिए

रसायन लिखा है—"चेत कर्णरसायन"। उन्होंने यह भी लिखा है :—

जिनभाषाधर-स्पंदमंतरेण विजृंभिता।
तिर्यग्देवमनुष्याणां दृष्टि-मोह-मनीनशत् ॥२—११३॥

ओष्ठ कंपन के बिना उत्पन्न हुई जिनेन्द्र की भाषा ने तिर्यंच, देव तथा मनुष्यों का दृष्टि सम्बन्धी मोह दूर किया था। पूज्यपाद स्वामी उस ध्वनि के विषय में यह कथन करते हैं —

ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजायते श्रोत्रहृदयहारिगंभीरः।
ससलिलजलधरपटलध्वनितमिव प्रविततान्त-राशावलयं ॥२१॥

जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि श्रोत्र अर्थात् कर्ण तथा हृदय को सुखदाई तथा गंभीर होती है। वह सलिल परिपूर्ण मेघपटल की ध्वनि के समान दिगंतर में व्याप्त होती हुई एक योजन पर्यंत पहुँचती है।

महापुराणकार जिनसेनस्वामी का कथन है :—

एकतयोऽपि यथैव जलौघश्चित्ररसो भवति द्रुमभेदात्।
पात्रविशेषवशाच्च तथायं सर्वविदो ध्वनिराप बहुत्वं ॥७१—२३॥

जिस प्रकार एक प्रकार का पानी का प्रवाह वृक्षों के भेद से अनेक रस रूप परिणित होता है, उसी प्रकार यह सर्वज्ञ देव की दिव्यध्वनि एक रूप होते हुए पात्रों के भेद से विविध रूपता को प्राप्त होती है।

कर्नाटक भाषा के जैनव्याकरण में यह उपयोगी श्लोक आया है :—

गंभीरं मधुरं मनोहरतरं दोषव्यपेतं हितं।
कंठोष्ठादिवचो-निमित्तरहितं नो वातरोधोद्गतं॥
स्पष्टं तत्तदभीष्टवस्तुकथकं निःशेषभाषात्मकं।
दूरासन्नसमं समं निरुपमं जैनं वचः पातु नः॥

गम्भीर, मधुर, अत्यन्त मनोहर, निष्कलक, कल्याणकारी, कंठओष्ठ, तालु आदि वचन उत्पत्ति के निमित्त कारणों से रहित,

पवन के रोध बिना उत्पन्न हुई, स्पष्ट, श्रोताओं के लिए अभीष्ट तत्व का निरूपण करने वाली सर्वभाषा स्वरूप, समीप तथा दूरवर्ती जीवों को समान रूप से सुनाई पड़ने वाली, शांतिरस से परिपूर्ण तथा उपमा रहित जिनेन्द्र भगवान की दिव्यध्वनि हमारी रक्षा करे।

तिलोयपण्णत्ति में इस दिव्यध्वनि के विषय में बताया है कि "यह अठारह महाभाषा, सात सौ लघुभाषा तथा और भी संज्ञी जीवों की भाषा रूप परिणत होती है। यह तालु, दंत, ओष्ठ और कंठ की क्रिया से रहित होकर एक ही समय भव्य जनों को दिव्य उपदेश देती है"—"एक्ककालं भव्वजणे दिव्वभासित्तं" (४–९०२)।

अनक्षरात्मक ध्वनि

भगवान की दिव्यध्वनि प्रारम्भ में अनक्षारात्मक होती है, इसलिए उस समय केवली भगवान के अनुभय वचनयोग माना है। पश्चात् श्रोताओं के कर्णप्रदेश को प्राप्त कर सम्यक्ज्ञान को उत्पन्न करने से केवली भगवान के सत्यवाक् योग का सद्भाव भी आगम में माना है। गोम्मटसार की संस्कृत टीका में इस प्रसङ्ग पर यह महत्वपूर्ण बात कही है[1] :—

सयोगी केवली की दिव्यध्वनि को किस प्रकार सत्य-अनुभय वचन योग कहा है? केवली की दिव्यध्वनि उत्पन्न होते ही अनक्षरात्मक रहती है, इसलिए श्रोताओं के कर्णप्रदेश से सम्बन्ध होने के समय पर्यंत अनुभय भाषापना सिद्ध होता है। इसके पश्चात् श्रोताओं के इष्ट अर्थ के विषय में संशय आदिकों के निराकरण करने

---

१ सयोगकेवलिदिव्यध्वनेः कथं सत्यानुभय-वाग्योगत्वमिति चेत् तन्न तदुत्पत्तावनक्षरात्मकत्वेन श्रोतृ-श्रोत्रप्रदेश-प्राप्ति-समयपर्यन्त-मनुभय- भाषात्व सिद्धेः। तदनंतर च श्रोतृजनाभिप्रेतार्थेषु संशयादि-निराकरणेन सम्यग्ज्ञान-जनकत्वेन सत्यवाग्योगत्व-सिद्धेश्च तस्यापि तदुभयत्वघटनात्"

पृ० ४८८, गाथा २२७।

से तथा सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करने से सत्य वचनयोग का सद्भाव सिद्ध होता है। इस प्रकार केवली के सत्य और अनुभय वचन योग सिद्ध होते हैं। इस कथन से ज्ञात होता है कि श्रोताओं के समीप पहुँचने के पूर्व वाणी अनक्षरात्मक रहती है, पश्चात् भिन्न-भिन्न श्रोताओं का आश्रय पाकर वह दिव्यध्वनि अक्षररूपता को धारण करती है।

स्वामी समन्तभद्र ने जिनेन्द्र की वाणी को सर्वभाषा स्वभाव वाली कहा है। यथा —

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम्।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि॥

श्री युक्त तथा सर्व-भाषा स्वभाववाली आपकी अमृतवाणी समवशरण में व्याप्त होकर, जिस प्रकार अमृत प्राणियों को आनन्द प्रदान करता है, उस प्रकार जीवों को आनन्दित करती है।

महापुराणकार का मत

महापुराणकार दिव्यध्वनि को अक्षरात्मक कहते हुए इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं —

देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद् देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात्।
साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात्॥२३—७३॥

कोई लोग कहते हैं कि दिव्यध्वनि देवकृत है, यह कथन असम्यक् है, क्योंकि ऐसा मानने से जिनेन्द्र भगवान के गुण का व्याघात होता है। वह दिव्यध्वनि अक्षरात्मक ही है, (यहाँ 'ही' वाचक 'एव' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है) कारण अक्षरों के समूह के बिना लोक में अर्थ का बोध नहीं होता है।

वीरसेन स्वामी की दृष्टि

जयधवला टीका में जिनसेन स्वामी के गुरु श्री वीर सेनाचार्य ने दिव्यध्वनि के विषय में ये शब्द कहे हैं—"केरिसा सा (दिव्य-

ज्झुणी) ? सव्वभासासरुवा, अक्खराणक्खरप्पिया, अणंतत्थ-गब्भ-बीजपद-घडिया-सरीरा" (पृ० १२६, भाग १) वह दिव्यध्वनि किस प्रकार की है ? वह सर्वभाषा स्वरूप है । अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक है । अनन्त अर्थ हैं गर्भ में जिसके ऐसे बीज पदों से निर्मित शरीर वाली है अर्थात् उसमें बीजपदों का समुदाय है ।

चौसठ ऋद्धियों में बीज बुद्धि नाम की ऋद्धि का कथन आता है । उसका स्वरूप राजवार्तिक में इस प्रकार कहा है—"जैहे हल के द्वारा सम्यक् प्रकार तैयार की गई उपजाऊ भूमि में योग्य काल में बोया गया एक भी बीज बहुत बीजों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार नोइंद्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के प्रकर्ष से एक बीज पद के ज्ञान द्वारा अनेक पदार्थों को जानने की बुद्धि को बीज बुद्धि कहते हैं"—"सुकृष्ट-सुमथिते क्षेत्रे सारवति काला-दिसहायापेक्षं बीजमेकमुप्तं यथाऽनेकबीजकोटिप्रदं भवति तथा नोइं-द्रियावरण-श्रुतावरण-वीर्यान्तराय-क्षयोपशमप्रकर्षे सति एक-बीजपद-ग्रहणादनेक-पदार्थ-प्रतिपत्तिर्बीज बुद्धिः" (पृ० १४३, अध्याय ३, सूत्र ३६) इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जिनेन्द्रदेव की बीज पद युक्त वाणी को गणधरदेव बीज-बुद्धि ऋद्धिधारी होने से अवधारण करके द्वादशांग रूप रचना करते हैं ।

इस प्रसङ्ग में यह बात विचार योग्य है कि प्रारम्भ में भगवान की वाणी को झेलकर गणधर देव द्वादशांग की रचना करते हैं, अतः उस वाणी में बीच पदों का समावेश आवश्यक है, जिनके आश्रय से चार ज्ञानधारी महर्षि गणधर देव अङ्ग-पूर्वों की रचना करने में समर्थ होते हैं । वीर भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर गौतम-स्वामी ने "बारहंगाणं चोद्दसपुव्वाणं च गंथाणमेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा" (धवला टीका भाग १, पृ० ६५)—द्वादशांग तथा चौदह पूर्व रूप ग्रंथों की एक मुहूर्त में क्रम से रचना की । इसके पश्चात् भी तो महावीर भगवान की दिव्यध्वनि खिरती रही है ।

श्रोतृ मण्डली को गणधरदेव द्वारा दिव्यध्वनि के समय के पश्चात् उपदेश प्राप्त होता है। जब दिव्यध्वनि खिरती है, तब मनुष्यों के सिवाय सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंच, देवादि भी अपनी अपनी भाषाओं में अर्थ को समझते है, इससे वीरसेनस्वामी ने उस दिव्यवाणी को 'सव्वभासा-सरुवा'—'सर्व-भाषास्वरूपा' भी कहा है। उस दिव्यवाणी की यह अलौकिकता है कि गणधरदेव सदृश महान ज्ञान के सिन्धु भी अपने लिए अमूल्य निधि प्राप्त करते है तथा महान मदमति प्राणी सर्प, गाय, व्याघ्र, कपोत, हसादि पशु भी अपने अपने योग्य सामग्री प्राप्त करते है।

तात्पर्य

उपरोक्त समस्त कथन पर गम्भीर विचार तथा समन्वयात्मक दृष्टि डालने पर प्रतीत होता है, कि जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि अलौकिक है; अनुपम है और आश्चर्यप्रद है। उसके समान विश्व में कोई अन्य वाणी नही है। वाणी की लोकोत्तरता मे कारण तीर्थंकर भगवान का त्रिभुवन वदित अनन्त सामर्थ्य समलकृत व्यक्तित्व है। श्रेष्ठ सामर्थ्य-धारी गणधरदेव, महान महिमाशाली सुरेन्द्र-आदि भी प्रभु की अपूर्व शक्ति से प्रभावित होते हैं। योग के द्वारा जो चमत्कारप्रद फल दिखाई पडता है, वह स्थूल दृष्टि वालो की समझ ने मे नही आता, अतएव वे विस्मय सागरमें डूबे ही रहते है।

दिव्यध्वनि तीर्थंकर प्रकृति के विपाक की सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है, कारण उक्त कर्म का बंध करते समय केवली, श्रुतकेवली के पादमूल मे यही भावना का बीज बोया गया था, कि इस बीज से ऐसा वृक्ष बने, जो समस्त प्रोणियो को सच्ची शाति तथा मुक्ति का मङ्गल सदेश प्रदान कर सके। मनुष्य-पर्यायरूपी भूमि मे बोया गया यह तीर्थंकर प्रकृतिरूप बीज अन्य साधन-सामग्री पाकर केवली की अवस्था में अपना वैभव, तथा परिपूर्ण विकास दिखाता हुआ त्रैलोक्य के समस्त जीवों को विस्मय में डालता है।

आज भगवान ने इच्छाओं का अभाव कर दिया है, फिर भी उनके उपदेश आदि कार्य ऐसे लगते हैं, मानों वे इच्छाओं द्वारा प्रेरित हों। इसका यथार्थ में समाधान यह है कि पूर्व की इच्छाओं के प्रसाद से अभी कार्य होता है। जैसे घड़ी में चाभी भरने के पश्चात् वह घड़ी अपने आप चलती है, उसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते समय जिन कल्याणकारी भावों का संग्रह किया गया था, वे ही बीज अनन्तगुणित होकर विकास को प्राप्त हुए हैं। अतः केवली की अवस्था में पूर्व संचित पवित्र भावना के अनुसार सब जीवों को कल्याणकारी सामग्री प्राप्त होती है।

कल्पवृक्ष-तुल्य-वाणी

हमें तो दिव्यध्वनि कल्पवृक्ष तुल्य प्रतीत होती है। कल्पवृक्ष से इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति होती है; इसी प्रकार उस दिव्यवाणी के द्वारा आत्मा की समस्त कामनाओं की पूर्ति होती है। जितनी भी शंकाएँ मन में उत्पन्न होती हैं, उनका समाधान क्षणमात्र में हो जाता है। दिव्यध्वनि के विषय में कुन्दकुन्दाचार्य के सूत्रात्मक ये शब्द बड़े महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं—"तिहुवण हिद-मधुर-विसद-वक्काणं" अर्थात् दिव्यध्वनि के द्वारा त्रिभुवन के समस्त भव्य जीवों को हितकारी, प्रिय तथा स्पष्ट उपदेश प्राप्त होता है। जब छद्मस्थ तथा बाल अवस्था वाले महावीर प्रभु के उपदेश के बिना ही दो चारण ऋद्धिधारी महामुनियों की सूक्ष्म शंका दूर हुई थी, तब केवलज्ञान, केवलदर्शनादि सामग्री संयुक्त तीर्थंकर प्रकृति के पूर्ण विपाक होने पर उस दिव्य-ध्वनि के द्वारा समस्त जीवों को उनकी भाषाओं में तत्वबोध हो जाता है, यह बात तनिक भी शंका योग्य नहीं दिखती है। इस दिव्यध्वनि के विषय में धर्मशर्माभ्युदय का यह पद्य बड़ा मधुर तथा भावपूर्ण प्रतीत होता है :—

सर्वाद्भुतमयी सृष्टिः सुधावृष्टिश्च कर्णयोः।
प्रावर्तत ततोवाणी सर्वविद्येश्वराद्विभोः ॥२१—७॥

सर्वविद्याओं के ईश्वर जिनेन्द्र भगवान से सर्व प्रकार से आश्चर्यप्रद सृष्टि रूप तथा कर्णों के लिए सुधावृष्टि सदृश दिव्य-ध्वनि उत्पन्न हुई ।

दिव्यध्वनि का काल

गोम्मटसार जीवकांड की संस्कृत टीका मे लिखा है, कि तीर्थकर की दिव्यध्वनि प्रभात, मध्यान्ह, सायंकाल तथा मध्यरात्रि के समय चार-चार बार छह्-छह् घटिका कालपर्यंत अर्थात् दो घंटा, चौबीस मिनिट तक प्रतिदिन नियम से खिरती है । इसके सिवाय गणधर, चक्रवर्ती, इन्द्र सदृश विशेष पुण्यशाली व्यक्ति के आगमन होने पर उनके प्रश्नो के उत्तर के लिए भी दिव्यध्वनि खिरती है । इसका कारण यह है कि उन विशिष्ट पुण्याधिकारियों के संदेह दूर होने पर धर्मभावना बढेगी और उससे मोक्षमार्ग की देशना का प्रचार होगा, जो धर्म तीर्थंकर की तत्व प्रतिपादना की पूर्ति स्वरूप होगी । जीवकाण्ड की टीका मे ये शब्द आए है—"घातिकर्म-क्षयानंतर-केवलज्ञानसहोत्पन्न-तीर्थकरत्वपुण्यातिशय-विजृंभितमहिम्नः तीर्थकरस्य पूर्वान्ह-मध्यान्हा-परान्हार्धरात्रिषु षट्-षट् घटिकाकालपर्यन्तं द्वादशगणसभामध्ये स्वभावतो दिव्यध्वनि-रुद्गच्छति । अन्यकालेपि गणधर शक्र-चक्रधर-प्रश्नानंतरं चोद्भवति । एवं समुद्भूतो दिव्यध्वनि समस्तासन्न-श्रोतृ-गणानुद्दिश्य उत्तमक्षमादिलक्षण रत्नत्रयात्मक वा धर्म कथयति" (पृष्ठ ७६१) । जयधवला टीका में लिखा है कि यह दिव्यध्वनि प्रात मध्यान्ह तथा सायकाल रूप तीन सध्याओ मे छह-छह घडी पर्यन्त खिरती है—"तिसञ्झ-विसय-छघडियासु णिरंतर पयट्टमाणिय" (पृष्ठ १२६, भाग १) । तिलोयपण्णत्ति में भी तीन सध्याओं में कुल मिलाकर नवमुहूर्त पर्यन्त दिव्यध्वनि खिरने का उल्लेख है ।

पगदीए अक्खलिओ संझत्तिदयम्मि णवमुहुत्ताणि ।
णिस्सरदि णिरुवमाणो दिव्वझुणी जाव जोयणयं ।।४—९०३।

तिलोयपण्णति में यह भी कहा है कि "गणधर, इन्द्र तथा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपणार्थ यह दिव्यध्वनि शेष समयों में भी निकलती है। यह भव्य जीवों को छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है" (भाग १, पृष्ठ २६३)।

शंका

गोम्मटसार के कथनानुसार मध्यरात्रि को दिव्यध्वनि खिरने पर यह शंका की जा सकती है कि मध्यरात्रि को तो जीव निद्रा के वशीभूत रहते हैं, उस समय उस दिव्यवाणी के खिरने से क्या उपयोग होगा?

समाधान

समवशरण में भगवान के प्रभामंडल के प्रभाव से दिन और रात्रि का भेद नही रहता। वहाँ निद्रा की बाधा भी नहीं होती।

मुनिसुव्रतकाव्य में लिखा है :—

स्त्री-बाल-वृद्धनिवहोऽपि सुखं सभां तामंतर्मुहूर्तसमयांतरतः प्रयाति।
निर्याति च प्रभु-माहात्म्याऽश्रितानां निद्रा-मृति-प्रसव-शोक-रुजादयो न॥

स्त्री, बालक, तथा वृद्ध समुदाय उस समवशरण में अंतर्मुहूर्त के भीतर ही आनन्दपूर्वक आते थे तथा जाते थे; अर्थात् सभी जीव वहाँ सुखपूर्वक शीघ्र आते जाते थे। भगवान तीर्थंकर प्रभु के माहात्म्य से समवशरण में आने वालों को निद्रा, मृत्यु प्रसव तथा शोक रोगादिक नहीं होते थे।

तीर्थंकर के गुण

भगवान के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्तवीर्य रूप अनन्त चतुष्टय पाए जाते हैं। इस प्रकार दस जन्मातिशय, दस केवलज्ञान के अतिशय, चतुर्दश देवकृत अतिशय,

अष्ट प्रातिहार्य तथा अनन्त चतुष्टय मिलकर तीर्थंकर अरहत के छियालीस गुण माने गए है। घातिया चतुष्टय के नष्ट होने पर भगवान यथार्थ मे निर्दोष पदवी के अधिकारी बनते है। केवलज्ञान उत्पन्न होने के पूर्व प्रभु अगणित गुणो के भण्डार रहते हुए भी पूर्ण निर्दोष नहीं कहे जा सकते। जनसाधारण मे यह बात प्रचलित भी है कि भगवान के सिवाय दूसरा कोई पूर्ण निर्दोष नही हो सकता। जगत् में किसी को सदोष, किसी को निर्दोष कहा जाता है, यह स्थूल रूप से सापेक्ष कथन है। वास्तव मे दोषों के गुरु मोहनीय के रहते हुए कैसे निर्दोषपना कहा जा सकता है ? यदि शात और वीतराग भाव से तत्त्व का विचार किया जाय, तो जिनेन्द्रदेव ही निर्दोष कहे जावेगे। विषयो के या इन्द्रियो के दास, कामवासना के अधीन रहने वाले परिग्रहासक्त निर्दोष नही हो सकते। भक्त-जन उन विभूति सम्पन्न परिग्रही आत्माओ की कितनी भी स्तुति करे, उनमे गुण नही आ सकते। एक कवि ने कहा है —

> बड़े न हूजे गुनन बिनु बिरद बड़ाई पाय।
> कहत धतूरे सों कनक गहनो गढ़्यो न जाय॥

गुणों के अभाव में स्तुति प्राप्त करने से कोई वास्तव में बड़ा नही बन सकता है। धतूरे को कनक कहते है। सुवर्ण का पर्यायवाची शब्द यद्यपि धतूरे के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु उसमे सुवर्ण का गुण नही है, अत. उससे भूषण नही बनाए जाते। इस प्रकाश मे सच्चे देव आदि का निर्णय किया जा सकता है। अरहत भगवान में इन १८ दोषो का अभाव होता है :—

> जन्म जरा तिरखा छुधा विस्मय आरत खेद।
> रोग शोक मद मोह भय, निद्रा चिन्ता स्वेद॥
> राग द्वेष अरु मरण जुत, ये अष्टदश दोष।
> नाहि होतें अरहंत के सो छबि लायक मोख॥

जिनेन्द्र भगवान में दोषो का सर्वथा अभाव आश्चर्यप्रद लगता है। विविध सरागी धर्मो का तथा उनके आश्रयरूप आराध्यो

का स्वरूप मोह, भय तथा पक्षपात त्याग करके देखने पर विदित होगा, कि उक्त अष्टादश दोषों में से अनेक दोष उनमें पाए जाते हैं। जिनेन्द्रदेव में दोषों के अभाव का कारण भक्तामरस्तोत्र में बड़ी मनोज्ञ पद्धति द्वारा समझाया गया है। आचार्य मानतुङ्ग कहते हैं :—

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैः।
त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश।
दोषैरुपात्त-विविधाश्रयजातगर्वैः
स्वप्नान्तरेपि न कदाचिदपीक्षितोसि ॥२७॥

हे मुनीन्द्र! अन्यत्र अवकाश न मिलने से आपमें समस्त गुणों ने निवास किया है, इसमें विस्मय-आश्चर्य की कोई बात नहीं है। दोषों को जगत् में अनेक स्थान निवास योग्य मिल जाने से गर्व उत्पन्न हो गया है, अतः उन दोषों ने स्वप्न में भी आपकी ओर दृष्टि नहीं दी है।

यहाँ कोई भिन्न सम्प्रदायवादी कह सकता है, कि जिनेन्द्र तीर्थंकर को ही क्यों निर्दोष कहा जाय? हमारा जो आराध्य है वही निर्दोष है। ऐसी शंका का समाधान आचार्य समन्तभद्र की इस युक्तियुक्त कथन से होता है :—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।

हे वीर भगवान! वह निर्दोषपना आप में ही है, क्योंकि आपकी वाणी युक्ति तथा आगम के अविरुद्ध है।

इस पर पुनः प्रश्न होता है कि यह बात कैसे जानी जाय, कि आपका कथन युक्ति-शास्त्र के अविरोधी है? इसका उत्तर पद्य के उत्तरार्ध में दिया है :—

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥देवागम स्तोत्र॥६

जो बात आपको इष्ट है, अभिमत है, वह प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों द्वारा खण्डित नहीं होती है। वास्तव में स्याद्वादशासन एक अभेद्य किला है, जिस पर एकान्तवाद के गोले कोई भी असर नहीं

अष्ट प्रातिहार्य तथा अनन्त चतुष्टय मिलकर तीर्थंकर अरहत के छियालीस गुण माने गए है। घातिया चतुष्टय के नष्ट होने पर भगवान यथार्थ मे निर्दोप पदवी के अधिकारी बनते है। केवलज्ञान उत्पन्न होने के पूर्व प्रभु अगणित गुणो के भण्डार रहते हुए भी पूर्ण निर्दोप नही कहे जा सकते। जनसाधारण मे यह बात प्रचलित भी है कि भगवान के सिवाय दूसरा कोई पूर्ण निर्दोप नही हो सकता। जगत मे किसी को सदोष, किसी को निर्दोप कहा जाता है, यह स्थूल रूप से सापेक्ष कथन है। वास्तव मे दोषो के गुरु मोहनीय के रहते हुए कैसे निर्दोषपना कहा जा सकता है? यदि शात और वीतराग भाव से तत्व का विचार किया जाय, तो जिनेन्द्रदेव ही निर्दोष कहे जावेगे। विपयो के या इन्द्रियो के दास, कामवसना के अधीन रहने वाले परिग्रहासक्त निर्दोप नही हो सकते। भक्त-जन उन विभूति सम्पन्न परिग्रही आत्माओ की कितनी भी स्तुति करें, उनमे गुण नही आ सकते। एक कवि ने कहा है —

> बडे न हूजे गुनन बिनु बिरद बड़ाई पाय।
> कहत धतूरे सो कनक गहनो गढ़यो न जाय।।

गुणो के अभाव मे स्तुति प्राप्त करने से कोई वास्तव में बडा नही बन सकता है। धतूरे को कनक कहते है। सुवर्ण का पर्यायवाची शब्द यद्यपि धतूरे के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु उसमे सुवर्ण का गुण नही है, अत उसमे भूपण नही बनाए जाते। इस प्रकाश में सच्चे देव आदि का निर्णय किया जा सकता है। अरहत भगवान मे इन १८ दोपो का अभाव होता है :—

> जन्म जरा तिरखा छुधा विस्मय आरत खेद।
> रोक शोक मद मोह भय, निद्रा चिन्ता स्वेद।।
> राग द्वेष अरु मरण जुत, ये अष्टदश दोष।।
> नहि होते अरहंत के सो छबि लायक मोख।।

जिनेन्द्र भगवान मे दोषो का सर्वथा अभाव आश्चर्यप्रद लगता है। विविध सरागी धर्मो का तथा उनके आश्रयरूप आराध्यो

का स्वरूप मोह, भय तथा पक्षपात त्याग करके देखने पर विदित होगा, कि उक्त अष्टादश दोषों में से अनेक दोष उनमें पाए जाते हैं। जिनेन्द्रदेव में दोषों के अभाव का कारण भक्तामरस्तोत्र में बड़ी मनोज्ञ पद्धति द्वारा समझाया गया है। आचार्य मानतुङ्ग कहते हैं :—

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैः।
त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश।
दोषैरुपात्त-विविधाश्रयजातगर्वैः
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥

हे मुनीन्द्र! अन्यत्र अवकाश न मिलने से आपमें समस्त गुणों ने निवास किया है, इसमें विस्मय-आश्चर्य की कोई बात नहीं है। दोषों को जगत् मे अनेक स्थान निवास योग्य मिल जाने से गर्व उत्पन्न हो गया है, अतः उन दोषों ने स्वप्न में भी आपकी ओर दृष्टि नहीं दी है।

यहाँ कोई भिन्न सम्प्रदायवादी कह सकता है, कि जिनेन्द्र तीर्थंकर को ही क्यों निर्दोष कहा जाय? हमारा जो आराध्य है वही निर्दोष है। ऐसी शंका का समाधान आचार्य समन्तभद्र की इस युक्तियुक्त कथन से होता है :—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्।

हे वीर भगवान! वह निर्दोषपना आप में ही है, क्योंकि आपकी वाणी युक्ति तथा आगम के अविरुद्ध है।

इस पर पुनः प्रश्न होता है कि यह बात कैसे जानी जाय, कि आपका कथन युक्ति-शास्त्र के अविरोधी है? इसका उत्तर पद्य के उत्तरार्ध में दिया है :—

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥देवागम स्तोत्र॥६

जो बात आपको इष्ट है, अभिमत है, वह प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों द्वारा खण्डित नहीं होती है। वास्तव में स्याद्वादशासन एक अभेद्य किला है, जिस पर एकान्तवाद के गोले कोई भी असर नहीं

कर सकते है। जिसमे विचारशक्ति है, वह स्वस्थ मन तथा मस्तिष्क पूर्वक जिनेन्द्र की वाणी की विश्व के दर्शनों के साथ तुलना करके देख सकता है, कि जिनेन्द्र का कथन समन्त-भद्र है, सर्वांगीण कल्याणपूर्ण है। उसमे पूर्णतया निर्विकारता है।

निर्विकार-मुद्रा

भगवान जिनेन्द्र की वीतराग मुद्रा का सूक्ष्मतया निरीक्षण करने पर हृदय स्वयमेव स्वीकार करता है, कि उसके द्वारा भगवान मे राग, द्वेष, मोह, क्रोध, काम, लोभ, मद, मत्सर आदि विकारों का अभाव स्पष्ट सूचित होता है। क्रोध मानादि अंतर्विकारों के सद्भाव में उनके चिन्ह भृकुटी विकार, रक्तनेत्रता, शस्त्रादि धारण करना आदि देखे जाते हैं। कामिनी का सङ्ग परित्याग करने से कामादि विकारो का अभाव सूचित होता है। आभूषणादि का त्याग करने से हृदय की निर्मलता स्पष्ट होती है। अंतर्मुखी वृत्ति बताती है कि वे आत्म-ज्योति के दर्शन में निमग्न हैं। परम अहिंसा तथा श्रेष्ठ करुणा से हृदय समलकृत है तथा समस्त विश्व के मित्र तुल्य है। शत्रु नाम की वस्तु उनके समक्ष नही है। शत्रुता का मूल कारण क्रोध का क्षय हो चुका है, इसलिए शस्त्रादि से कोई प्रयोजन नही है। स्वावलम्बी होने से उनने वस्त्रादि का त्याग कर दिया है।

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति का गम्भीरता पूर्वक सूक्ष्म निरीक्षण करने पर निष्पक्ष तथा सहृदय विचारक के मन मे यह बात स्वयमेव जँच जायगी, कि सच्ची निर्विकार, निर्दोष तथा सात्विक भावों को प्रेरणा देने वाली जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति है। भक्ति तथा धर्म के मोहवश कोई-कोई हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री-सेवन, धन संग्रहादि पापों को बुरा मानते हुए भी भगवान मे उनका सद्भाव स्वीकार करते है तथा उनको परमात्मा भी कहते हैं। न्याय की कसौटी पर यह विचार उचित नही प्रतीत होगा। विकारों का

सद्भाव ही बताता है कि उनसे युक्त आत्मा जनसाधारण के समान है । उसे शुद्ध परमात्मा कहना जुगनू को या दीपक को सूर्य कहकर उसकी स्तुति करना है ।

जिनेन्द्र तीर्थंकर की मूर्ति में एक विशेषता दृश्यमान होती है कि वे प्रभु ब्रह्मदर्शन की मुद्रा में हैं । सन् १९५६ के अक्टूबर मास में जापान में हमसे एक व्यक्ति ने पूछा था—बुद्ध की मूर्ति भी शांत है, महावीर की मूर्ति भी शांत है । उनमें अंतर क्या है ?

हमने अपने पास के महावीर भगवान के चित्र को दिखाकर बताया था, कि महावीर भगवान भीतर देखते हैं, बुद्धदेव बाहर देखते हैं । बुद्धदेव की उपदेश मुद्रा या अभय मुद्रा इसके प्रमाण हैं कि बहिर्जगत् की ओर बुद्ध की दृष्टि है । अन्य कौतुक, क्रीड़ा आदि मुद्रा युक्त भगवान की मूर्ति का योग-मुद्रा युक्त ध्यानमयी प्रतिमा के साथ तुलना की आवश्यकता नहीं है । उनका अन्तर अत्यन्त स्पष्ट है । जिनेन्द्रमूर्ति की वीतरागता, पवित्रता, शांति तथा आत्म-संयम के प्रकाश से प्रदीप्त होती है । उनकी मुद्रा प्रशांत, आध्यात्मिक स्वास्थ्य समलंकृत कृतकृत्य योगी की है । इस प्रकार उनका अन्तर स्पष्ट है ।

स्तुति का प्रयोजन ?

इस प्रसङ्ग में सहज ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थंकर केवलज्ञान उत्पन्न होने पर वीतराग हो चुके । वे न स्तुति से प्रसन्न होते और न निंदा से उनको क्रोध ही उत्पन्न होता है । ऐसी स्थिति में उनकी स्तुति को क्यों जैन परम्परा में स्थान दिया गया है ?

इस प्रश्न के समाधान में आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि आपके स्तोत्र, स्तवन के द्वारा मन से मलिन भाव दूर होते हैं । इस आत्म निर्मलता की प्राप्ति के लिए जिनेन्द्र की स्तुति, आराधना की

जाती है। भगवान के गुणों के चिंतवन से पवित्र भाव होते हैं, इससे जीवन उज्ज्वल बनता है, इस कारण भगवान की अभिवंदना की जाती है। वृक्ष के नीचे जाने से बिना माँगे स्वयं छाया प्राप्त होती है, इसलिए जिनेन्द्र का शरण ग्रहण करने से स्वयमेव पवित्रता प्राप्त होती है, जिसके पीछे समृद्धियाँ भी चक्कर लगाती हैं।

महाकवि धनंजय की उक्ति कितनी मार्मिक है :—

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्यात् वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात् कश्छायया याचितयाऽऽत्मलाभः॥३८॥

हे ऋषभनाथ जिनेन्द्र! इस प्रकार आपका विषापहार-स्तोत्र द्वारा स्तवन करने के पश्चात् मैं आपसे किसी प्रकार के वर की याचना नहीं करता हूँ। कवि के इस कथन पर शंका होती है कि भक्तिपूर्वक भगवान का गुणगान करने के बाद उनसे प्रसाद पाने की प्रार्थना करने में क्यों प्रमाद करते हो? उनसे फल की प्रार्थना करना तो भक्त का अधिकार है। इस आशंका को दूर करते हुए कवि कहते हैं— तरु का आश्रय लेने वाला स्वयमेव छाया को प्राप्त करता है, अतएव छाया की याचना करने से क्या लाभ है?

स्तुतिकार आचार्यों, कवियों तथा संतों ने विविध रूप से जिनेन्द्र का गुणगान किया है, किन्तु उसका अंतस्तत्व यही है कि ईश के गुणचिंतन द्वारा विचारशुद्धि होते है और व्यक्ति का उज्ज्वल भविष्य उसकी परिशुद्ध तथा सात्विक चित्तवृत्ति पर निर्भर है, अतएव प्रकारान्तर से सुन्दर भाग्य निर्माण में भगवान का सम्बन्ध कथन करना अनुचित नहीं है।

अर्हन् की प्रसिद्धि

अन्य सम्प्रदाय में केवली शब्द के स्थान में जिनेन्द्रदेव की अर्हन् या अरिहंत रूप में प्रसिद्धि है। ऋग्वेद में अर्हन् का उल्लेख

आया है[1] "अर्हन् इदं दयसे विश्वमम्वम्"। मुद्राराक्षस नाटक में अर्हन्त के शासन को स्वीकार करो। ये मोह व्याधि के वैद्य हैं ऐसा उल्लेख आया है।[2] मोहवाहि-वेज्जाणं अलिहंताणं सासणं पडिवज्जह।" हनुमन्नाटक में लिखा है—"अर्हन् इत्यथ जैनशासनरता":—जैनशासन के भक्त अपने आराध्य देव को अर्हन्[3] कहते हैं।

यह अरिहंत शब्द गुणवाचक है। जो भी व्यक्ति चार घातिया कर्मो का विनाश करता है व अरिहंत बन जाता है। अतः यह शब्द व्यक्तिगत न होकर गुणवाचक है। अरंहत शब्द भी गंभीर अर्थ पूर्ण है।[4] अ का अर्थ है 'विष्णु'। 'अकारो विष्णुनाम स्यात्'। केवली भगवान केवलज्ञान के द्वारा सर्वत्र व्याप्त हैं अतः अ का अर्थ होगा केवली भगवान। 'र' का अर्थ है रोग। कोश में कहा है—"रागः बले रवे" इत्यादि। 'हं' हनन करनेवाले का वाचक है। हर्षे च हनने हः स्यात्। 'त' शूरवीर का वाचक है। कहा भी है 'शूरे चौरे च तः प्रोक्तः।'

अरिहंत का वाच्यार्थ

धवल ग्रन्थ में 'अरिहंताणं' पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "अरि हननात् अरिहंता। नरक-तिर्यक्कुमानुष्य-प्रेतावासगताशेष-दुःख-प्राप्ति-निमित्तत्वात् अरिर्मोहः। तस्यारेर्हननादरिहन्ता। अर्थात् अरि के नाश करने से अरिहंत हैं। नरक, तिर्यंच, कुमानुष, प्रेत इन पर्यायों में निवास करने से होने वाले समस्त दुःखों की प्राप्ति कानिमित्त कारण होने से मोह को अरि अर्थात् शत्रु कहा है। उस मोहशत्रु का नाश करने से अरिहंत हैं।

---

१ A Vedic Reader by Macdonell P. 63

२ मुद्राराक्षस अंक ४

३ शाकटायन ने व्याकरण में 'जिनोऽर्हन्' (३०३) सूत्र में अर्हन् को जिन का पर्यायवाची कहा है।

४ चर्चासागर।

दोनों पाठ ठीक हैं

कभी-कभी यह शका उत्पन्न होती है कि 'णमो अरिहंताणं' पाठ ठीक है या 'णमो अरहताण' ? उपरोक्त विवेचन के प्रकाश में यह विदित होता है कि दोनों पाठ सम्यक् हैं ।

महत्व की बात

बृहत्प्रतिक्रमण पाठ के सूत्र मे गौतमगणधर बताते है कि 'सुत्तस्स मूलपदाणमच्चासणदाए' अर्थात् आगम के मूलपदो मे हीनता-कृत जो दोष उत्पन्न हुआ है उसका मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ । प्रभाचन्द्राचार्य के टीका मे ये शब्द आए है —'सूत्रस्य आगमस्य सम्बन्धिना मूलपदाना प्रधानपदानामत्यासादनता हीनता तस्या सत्यां यः कश्चिदुत्पन्नो दोषस्त प्रतिक्रमितुमिच्छामि ।' इसका उदाहरण देते हुए वे कहते हैं—"त जहा णमोक्कारपदे णमो अरहताणमित्यादि-लक्षणे पचनमस्कारपदे याऽत्यासादनता तस्यां अरहंतपदे इत्यादि अर्हंदा-दीना वाचके पदे याऽत्यासादनता तस्यां मङ्गलपदे चत्तारिमङ्गल मित्यादिलक्षणे, लोगुत्तमपदे चत्तारि लोगुत्तमा इत्यादि स्वरूपे, सरणपदे-चत्तारिसरण पव्वज्जामि इत्यादि लक्षणे" (पृष्ठ १३९) । इसमें उल्लेखनीय बात यह है कि गौतमस्वामी णमोक्कारपद के द्वारा णमो अरहताण इत्यादि पच नमस्कार पद का सकेत करते है । इससे यह 'णमो अरहंताण' आदि पद रूप नमस्कार मत्र पट्खडागम सूत्रकार भूतबलि-पुष्पदत कृत है यह धारणा भ्रांत प्रमाणित होती है । इसके पश्चात् 'अरहतपदे' शब्द का प्रयोग आया है, 'अरिहत पदे' शब्द नही है ।

मे केवल एक ही गुण प्रकाश में आता है । जैसे बुद्ध शब्द प्रभु की ज्ञान-ज्योति को सूचित करता है । अरहत का भाव है पूजनीय, योग्य Adorable, Worthy । किसी को Worthy कहने से अनेक गुणपुञ्ज का सद्भाव व्यक्त होता है । अतएव अरहत शब्द व्यापक तथा गम्भीर है ।

दोनों पाठ भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सम्यक् है। सूक्ष्म विचार से ज्ञात होगा, कि बारहवें गुणस्थान के अंत में भगवान अरि समूह का क्षय करने से अरिहंत हो गए। इसके अनन्तर सुरेन्द्रादि आकर जब केवलज्ञान कल्याणक की पूजा करते हैं, तब 'अरिहंति पूय-सक्कारं' इस दृष्टि से उनको अर्हन्त कहेंगे। प्राकृतभाषा में उसका 'अरहंत' रूप पाया जाता है।

प्राचीन उल्लेख

'णमो अरिहंताणं' रूप पंचनमस्कार मंत्र का भूतबलि-पुष्प-दंताचार्य के पहले सद्भाव था इसके प्रमाण उपलब्ध होते हैं। मूलाराधना नाम की भगवती आराधना पर रचित टीका में पृष्ठ २ पर यह महत्वपूर्ण उल्लेख आया है, कि सामायिक आदि अङ्ग बाह्य आगम में, तथा लोक बिन्दुसार है अंत में जिनके, ऐसे चौदह पूर्व साहित्य के आरम्भ में गौतम गणधर ने 'णमो अरहंताणं' इत्यादि रूप से पंचनमस्कार पाठ लिखा है। जब गणधरदेव रचित अंग तथा अंगबाह्य साहित्य में णमो अरहंताणं इत्यादि मङ्गल रूप से कहे गए हैं, तो फिर इनकी प्रचलित मान्यता निर्दोष रहती है, जिसमें यह पढ़ा जाता है "अनादिमूलमंत्रोयम्"। मूलाराधना टीका के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं "यद्येवं सकलं श्रुतस्य सामयिकादेर्लोकबिन्दुसारान्तस्यादौ मंगलं कुर्वद्भिर्गणधरैः", "णमो अरहंताणमित्यादिना कथं पंचानां नमस्कारः कृतः?"

पज्जुवास का स्वरूप

बृहत्प्रतिक्रमण पाठ में दोष शुद्धि के लिए गौतम गणधर ने यह लिखा है "मूलगुणेसु उत्तरगुणेसु अइक्कमो जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि तावकायं (वोसिरामि) (पृ० १५१)।" टीकाकार पज्जुवास अर्थात् पर्युपासना का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं कि ३२४ उच्छ्वासों द्वारा १०८ बार पंचनमस्कार मन्त्र का उच्चारण

करे। टीकाकार प्रभाचन्द्र आचार्य के शब्द इस प्रकार हैं "पञ्चुवासं करेमि—एकाग्रेण हि विशुद्धेन मनसा चतुर्विशत्युत्तर—शतत्रयाद्युच्छ्वासैरष्टोत्तरशतादिवारान् पंचनमस्कारोच्चारणमर्हतां पर्युपासनकरणं तद्यावत् काल करोमि पचनमस्कार मंत्र का तीन उच्छ्वास में पाठ करने का मुनियों के आचार ग्रन्थों में प्रतिक्रमण प्रायश्चित्तादि के लिए उल्लेख पाया जाता है।

मुनिजीवन का मूल महामंत्र

मुनि जीवन के लिए जैसे २८ मूलगुण प्राणरूप हैं, इसी प्रकार यह मूलमंत्र भी अत्यन्त आवश्यक है। पैंतीस अक्षरात्मक यह मूलमन्त्र जैन उपासक के तथा श्रमण जीवन के लिये आवश्यक है।

भ्रांत धारणा

आचार्य भूतबलि, पुष्पदन्त के द्वारा इसकी रचना हुई यह मान्यता "जीवट्ठाण सूत्र" के निबद्ध-अनिबद्ध भेदयुक्त मङ्गल चर्चा के आधार पर कहा जाता है।

यह भी विचार तर्कसङ्गत नहीं है। जीवट्ठाण की चर्चा पर आदर्श प्रति के आधार से विचार किया जाय, तो विदित होगा कि वीरसेनाचार्य ने स्वय णमोकारमंत्र को भूतबलि-पुष्पदन्ताचार्य रचित नहीं माना है। अलकार चिंतामणि में अन्य ग्रन्थकार रचित मङ्गल को अनिबद्ध कहा है "परकृतमनिबद्ध"। जीवट्ठाण ग्रन्थ का विशेषण वाक्य है "इद पुण जीवट्ठाण णिबद्धमङ्गल" पृ० ४१। भ्रम में लोग 'निबद्ध मङ्गलं यस्मिन् तत्' इस प्रकार अर्थ विस्मरण कर पारिभाषिक निबद्ध मंङ्गल-मान बैठते हैं। जीवट्ठाण ग्रन्थ के आदि मे मङ्गल है। स्वय ग्रन्थ को ही निबद्धमङ्गल कहना असङ्गत बात होगी। अतः यह अर्थ उचित होगा, कि इस जीवट्ठाण ग्रन्थ में मङ्गल निबद्ध किया गया है। जब गौतम गणधर ने णमोकार मन्त्र को अपने द्वारा निबद्ध

आगम ग्रन्थों में लिखा है, तब जीवट्ठाण में कथित विवेचन का अविरोधी अर्थ करना विज्ञ व्यक्ति का कर्तव्य है। पक्ष का मोह हितप्रद नहीं है।

अरहंत की विशेषता

पूज्यता की दृष्टि से अष्टकर्मों का क्षय करने वाले सिद्ध भगवान को प्रणाम रूप "णमो सिद्धाणं" पद पहले रखा जाना चाहिए था, किन्तु अपराजित मूलमंत्र में णमो अरहंताणं को प्रथम स्थान पर रखा है। इसका विशेष रहस्य यह है। सम्यग्ज्ञान के द्वारा इष्ट पदार्थ की उपलब्धि होती है। उस ज्ञान का साधन शास्त्र है। उस शास्त्र के मूलकर्ता अरहंत भगवान हैं। इस कारण जीव को मोक्ष प्राप्त करने वाली जिनवाणी के जनक होने से जिनेन्द्र तीर्थंकर सर्वप्रथम वंदनीय माने गए हैं, क्योंकि उपकार को न भूलना सत्पुरुषों का मुख्य कर्तव्य है। उपकार करनेवाले प्रभु का स्मरण न करने से अकृतज्ञता का दोष लगता है। नीच माने जाने वाले पशु तक अपने उपकारी के उपकार को स्मरण रखते हैं, तब विचारवान मनुष्य को तो कृतज्ञता की मूर्ति बनना चाहिये। उपकृत व्यक्ति की दृष्टि में उपकर्ता का सदा अन्य की अपेक्षा उच्च स्थान माना गया है।

कृतज्ञता

हरिवंशपुराण में कथा आई है। चारुदत्त ने मरते हुए बकरे के कान में पंच नमस्कार मन्त्र दिया था। उससे वह सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वह देव कुंभकंटक नामक द्वीप के कर्कोटक पर्वत पर जिन चैत्यालय में विद्यमान मुनिराज के चरणों के समीप स्थित चारुदत्त के पास पहुँचा। उस देवने पहले चारुदत्त को प्रणाम किया था। मुनिराज की वंदना बाद में की थी। उस देव ने कहा था "जिन-धर्मोपदेशकः चारुदत्तो साक्षात् गुरुः"—जिनधर्म का उपदेश देकर

मेरी आत्मा का उद्धार करने वाले चारुदत्त मेरे साक्षात् गुरु हैं, क्योंकि 'दत्तः पचनमस्कारो मरणे करुणावता' (२१—१५०)— उन्होंने करुणापूर्वक मुझे मरण समय पर पचनमस्कार मत्र प्रदान किया था।

> जातोहं जिनधर्मेण सौधर्मो विबुधोत्तमः।
> चारुदत्तो गुरुस्तेन प्रथमो नमितो मया ॥२१—१५१॥

जिनधर्म के प्रभाव से मै सौधर्म स्वर्ग मे महान देव हुआ। इस कारण मैने अपने गुरु चारुदत्त को पहले प्रणाम किया।

हरिवशपुराण की यह शिक्षा चिरस्मरणीय है :—

> अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्य पदस्य वा।
> दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्म दशिनम् ॥१५६॥

एक अक्षर का अथवा एक पद का या उसके अर्थ के दाता को विस्मरण करनेवाला पापी है, तब फिर धर्म के उपदेष्टा को भूलने वाला महान पापी क्यो न होगा ?

इस कथन के प्रकाश में अरहत-भगवान का अनत उपकार सर्वदा स्मरणीय है और उनके चरणयुगल सर्वप्रथम वदनीय है।

रत्नत्रय रूप त्रिशूल

आचार्य वीरसेन ने अरहत भगवान के सम्बन्ध मे यह सुन्दर गाथा धवला टीका मे उद्धृत की है :—

> ति-रयण तिसूलधारिय-मोहंधासुर-कवंध-बिंद-हरा।
> सिद्ध-सयलप्प-रूवा अरहंता दुण्णयकयंता ॥पृ० ४५, भाग १॥

जिन ने रत्नत्रय रूप त्रिशूल को धारण कर मोह रूपी अधकासुर के कबंधवृन्द का हरण किया है और अपने परिपूर्ण आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, वे मिथ्या पक्षो के विनाश करने वाले अरहन्त भगवान है।

'उत्तम' का अर्थ

मूलाचार में लिखा है कि ये अरहंत भगवान जगत में त्रिविध तम अर्थात् अंधकारों से विमुक्त हैं। इस सम्बन्ध की गाथा विशेष महत्वपूर्ण है :—

> मिच्छत्त-वेदणीयं णाणावरणं चरित्तमोहं च।
> तिविहा तमाहु मुक्का तम्हा ते उत्तमा होंति ॥५६५॥

ये चौवीस तीर्थंकर उत्तम कहे गए हैं क्योंकि ये मिथ्यात्व वेदनीय, ज्ञानावरण तथा चारित्र मोहनीय इन तीन प्रकार के अंधकारों से मुक्त हैं। संस्कृत टीकाकार वसुनंदि सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लिखा है "त्रिविधं तमस्तस्मात् मुक्ता यतस्तस्मात्ते उत्तमाः प्रकृष्टाः भवंति।" इसका भाव यह है कि अरहंत भगवान मिथ्यात्व अंधकार से रहित होने से सम्यक्त्व ज्योति से शोभायमान हैं। ज्ञानावरण के दूर होने से केवलज्ञान समलंकृत हैं। चारित्र मोह के अभाव में परमयथाख्यात चारित्र संयुक्त हैं। मिथ्यात्व, अज्ञान तथा असंयम रूप अंधकार के होते हुए यह जीव परमार्थ दृष्टि से उत्तम (उत् अर्थात् रहित+तम (अंधकार) अर्थात् रहित नहीं कहा जा सकता है। लोक में श्रेष्ठ पदार्थ को उत्तम कहते हैं। तत्व दृष्टि से मुमुक्षु जीव अरहंत भगवान को उत् तम अर्थात् उत्तम मानता है।

प्रशस्त राग

मोहनीय कर्म पाप प्रकृति है। उसका भेद रागभाव भी पापरूप मानना होगा, किन्तु वह रागभाव अरहंत भगवान के विषय में होता है, तो वह जीव को कुगतियों से बचाकर परम्परा से मोक्ष का कारण हो जाता है अतः मूलाचार में "अरहंतेसु य राओ" पसत्थराओ"—अरहंतों में किया गया राग प्रशस्त राग अर्थात् शुभ राग कहा गया है। (देखो गाथा ७३, ७४ षडावश्यक अधिकार)।

भ्रम-निवारण

इन अरहंत को नमस्कार करने से जीव सम्पूर्ण दुःखों से छूट जाता है। कोई-कोई गृहस्थ अव्रती होते हुए भी यह सोचते हैं कि अरहत का स्मरण करने से मन में राग भाव उत्पन्न होते हैं। राग की उत्पत्ति द्वारा ससार का भ्रमण होता है, अतएव सच्चे आत्महित के हेतु हमें णमोकार मन्त्र में प्रतिपादित भक्ति से दूर रहना चाहिए। केवल आत्मदेव का ही शरण ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार का कथन स्वयं पाप पक से लिप्त गृहस्थ के मुख में ऐसा दिखता है, जैसे मल द्वारा मलिन शरीर वाले व्यक्ति का मल-निवारक साबुन आदि पदार्थों के उपयोग का निषेध करना है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि स्वच्छ शरीर पर शरीर शोधक द्रव्य का लेप अनावश्यक है। अनुचित भी है, किन्तु अस्वच्छ शरीर वाले के लिए उसका उपयोग आवश्यक है। शरीर पर मलिनता है और क्षार द्रव्य रूपी सामग्री को लगाना और मलिनता को बढ़ाना ठीक नहीं है। ऐसा तर्क सारशून्य है क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभव से बाधित है। साबुन के प्रयोग द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है, कि वह स्वयं बाहरी पदार्थ होते हुए भी शरीर पर लगाए जाने पर मलिनता को दूर कर देता है, इसी प्रकार वीतराग की भक्ति रागात्मक होती हुई, आत्मा की आर्तध्यान, रौद्रध्यान रूपी भीषण मलिनता को दूर करके क्रमश सच्ची भक्ति के द्वारा जीव का कल्याण करती हुई भक्त को भगवान बना देती है।

इस सम्बन्ध में धर्मशर्माभ्युदय काव्य की यह उत्प्रेक्षा बड़ी मार्मिक है :—

निर्मार्जिते यत्पद-पंकजाना रजोभिरतः प्रतिबिंबितानि।
जनाः स्वचेतो मुकुरे जगति तान्नौमि मुदे जिनेन्द्रान् ॥सर्ग॥१॥

में उन जिनेन्द्र भगवान को आनन्द की प्राप्ति के हेतु नमस्कार करता हूँ जिनके पद-पंकज (चरणकमल) की रज (भक्तिरूपी रज) द्वारा अपने चित्त को निर्मार्जित करने पर अंतःकरण रूपी दर्पण में तीनों लोकों को प्रतिविम्बित होते हुए जीव देखते हैं।

जिन-भक्ति

वीतराग भगवान की भक्ति का यह अद्भुत चमत्कार है। वह इस काल में मुनियों का भी प्राण है। पाप-पंक में लिप्त गृहस्थों के हितार्थ अमृतौषध सदृश है। उस जिनेन्द्र भक्ति को दूषित समझने वाला गृहस्थ अपने पैरों पर कुठाराघात करता है। अध्यात्मवाद के नाम पर वह गृहस्थ विषपान करता हुआ प्रतीत होता है। शिशुवर्ग का तुतलानेवाला बालक शास्त्राभ्यास का तिरस्कार द्योतक शब्द उच्चारण करता हुआ जैसे उपहास का पात्र होता है, ऐसी ही स्थिति उस भक्ति विरोधी गृहस्थ की होती है। स्याद्वाद के प्रकाश में वह अध्यात्मवाद मिथ्याभाव की संतति सिद्ध होता है। अरहंत देव की भक्ति जीवन के लिये परम-रसायन है। आचार्य कहते हैं :—

अरहंतणमोक्कारं भावेण य यो करेदि पयदमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥५०६॥ मूलाचार

जो पुरुष भावपूर्वक सावधानी के साथ अरहंत भगवान को प्रणाम करता है, वह शीघ्र ही सर्वदुःखों से छूट जाता है।

नव लब्धियाँ

गोम्मटसार में लिखा है—

केवलणाण-दिवायर-किरण-कलावप्पणासिय-ण्णाणो।
णवकेवल लद्धुग्गम-सुजणिय-परमप्प-ववएसो ॥६३

वह केवलज्ञान रूपी दिवाकर अर्थात् सूर्य की किरण-कलपा के द्वारा अज्ञान का नाश करके तथा नव केवललब्धियों की उत्पत्ति होने पर यथार्थ में परमात्मा कहलाता है।

नवलब्धियो के विषय मे आगम का कथन है कि ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने से केवली भगवान को क्षायिकज्ञान रूप लब्धि का लाभ होता है। दर्शनावरण के नाश होने से अनंत दर्शन, दर्शन मोहनीय कर्म के अभाव होने पर क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र मोह के क्षय होने पर क्षायिक चारित्र, दानान्तराय के अभाव से क्षायिक दान, लाभान्तराय के नाश होने से क्षायिक लाभ, भोगान्तराय के नष्ट होने से क्षायिक भोग, उपभोगान्तराय के क्षय होने से क्षायिक उपभोग तथा वीर्यान्तराय के क्षय होने पर क्षायिक वीर्य रूप लब्धियाँ उत्पन्न होती है। ये नौ लब्धियाँ कर्मक्षय होने से क्षायिक भाव के नाम से कही जाती है।

भोग-उपभोग का रहस्य

भगवान ने दीक्षा लेते समय भोग तथा उपभोग की सामग्री का परित्याग किया था। केवलज्ञान की अवस्था मे भोग तथा उपभोग का क्या रहस्य है? वे प्रभु परम आकिंचन्य भाव भूषित है। उनके क्षायिक दान का क्या अर्थ है? सब पदार्थो का सकल्पपूर्वक परित्याग करके परम यथाख्यातचारित्र की अत्यन्त उज्ज्वल स्थितिप्राप्त केवली के लाभ का क्या भाव है? जो पदार्थ एक बार सेवन में आता है, उसे भोग कहते है, जैसे पुष्पमाला, भोजन आदि। जो पदार्थ अनेक बार सेवन मे आता है, उसे उपभोग कहते हैं, जैसे वस्त्र, भवनादि। भगवान परम वीतरागी होने से सम्पूर्ण परिग्रह के पाप से परिमुक्त हैं, ममता के पिता मोह कर्म का वे क्षय कर चुके है, फिर भी उनकी ओर विश्व की अचिन्त्य तथा अद्भुत विभूति का समुदाय आकर्षित होता है। उनका उन पदार्थों से कोई सम्बन्ध नही है।

इस बात का स्पष्ट प्रमाण यह है कि वे रत्नजटित हेमपीठ से चार अगुल ऊँचाई पर अंतरिक्ष मे विराजमान रहते है, तथा आत्म स्वरूप में निमग्न रहते हैं। विशाल समवशरण के मध्य रहते हुए भी

वे उस समस्त सामग्री से उसी प्रकार दूर हैं, जैसे वे पहले मुनि बनने पर तपोवन में स्थित रहते हुए परिग्रह से पूर्णरूप में पृथक् थे।

समन्तभद्र स्वामी कहते हैं "प्रातिहार्य-विभवैः परिष्कृतो देहतोपि विरतोभवानभूत्"—हे जिनेन्द्र! आप सिंहासन, भामंडल, छत्रत्रयादि प्रातिहार्यों से घिरे रहने पर भी न केवल उनसे विरक्त हैं, बल्कि अपने शरीर से भी विरक्त हैं। इस कथन के प्रकाश में जिनेन्द्र भगवान की महत्ता का उचित मूल्यांकन हो सकता है। जहाँ जगत् में सभी व्यक्ति परिग्रह-पिशाच के अधीन हैं, वहाँ जिनेन्द्रदेव की उक्त स्थिति अलौकिक है।

अकलंक स्वामी की दृष्टि

अकलंक स्वामी ने राजवार्तिक में लिखा है, सम्पूर्ण भोगान्तराय के तिरोभाव हो जाने से अतिशयों का आविर्भाव होता है। इससे भगवान के क्षायिक अनंतभोग कहा है। इसके फलस्वरूप पंचवर्ण सहित सुगंधित पुष्पों की वर्षा, चरणों के निक्षेप के स्थान में अनेक प्रकार की सुगन्धयुक्त सप्त सप्त कमलों की पंक्ति, सुगन्धित धूप, सुखद शीतल पवन आदि की प्राप्ति होती है। उनके शब्द इस प्रकार हैं; "कृत्स्नस्य भोगांतरायस्य तिरोभावादाविर्भूतोतिशयवाननंतो भोगः क्षायिकः यत्कृताः पंचवर्णसुरभि-कुसुमवृष्टि-विविधदिव्यगंधचरण-निक्षेप स्थानसप्तपद्मपंक्तिसुगंधि-धूप-सुखशीतमारुतादयो भावाः।"

क्षायिक उपभोग के विषय में आचार्य का कथन है, परिपूर्णरूप से उपभोगान्तराय कर्म के नाश होने से उत्पन्न होने वाला अनंत उपभोग क्षायिक है। इसके कारण सिंहासन, बालव्यजन (पंखा) अशोक वृक्ष, छत्रत्रय, प्रभामंडल, गम्भीर तथा मधुर स्वर रूप परिणमन वाली देव दुन्दभि आदि पदार्थ होते हैं—"निरवशेषस्योपभोगान्तराय कर्मणः प्रलयात्प्रादुर्भूतोऽनंत-उपभोगः क्षायिको यत्कृताः सिंहासन-वालव्यजनाशोकपादप - छत्रत्रय - प्रभामण्डल - गम्भीरस्निग्धस्वर परिणाम-देवदुन्दुभिप्रभृतयो भावाः" (पृ० ७३ राजवार्तिक)।

भगवान के द्वारा दिए जाने वाले क्षायिक दान पर अकलंक-स्वामी इस प्रकार प्रकाश डालते है, दानान्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय होने से उत्पन्न होने वाला त्रिकालगोचर अनंत प्राणीगण का अनुग्रह करने वाला क्षायिक अभयदान होता है । "दानान्तरायस्य कर्मणोत्यंत-सक्षयादाविर्भूत त्रिकालगोचरानन-प्राणिगणानुग्रहकर क्षायिकमभय-दान," पृ० ७३—जिनेन्द्रदेव के कारण अनंत जीवो को जो कल्याणदायी तथा अविनाशी सुख का कारण दान प्राप्त होता है, उसकी तुलना ससार मे नही की जा सकती है । अन्य दानों का सम्बन्ध शरीर तक ही सीमित है । यह वीतराग प्रभु का दान, आत्मा को अनंत दु.खो से निकालकर अविनाशी उत्तम सुख मे स्थापित करता है । यह सामर्थ्य अलौकिक है । उक्त दानादि का सिद्धो मे कैसे सद्भाव सिद्ध होगा ? इस प्रश्न के उत्तर मे अकलंक स्वामी कहते है, "शरीरनामकर्मोदयाद्य-पेक्षत्वात्तेषा तदभावे तद्प्रसङ्ग परमानताव्यावाधरूपेणैव तेषा च तत्र वृत्ति केवलज्ञानरूपेणानतवीर्यवत्"—उक्त रूप से अभयदानादि के लिए शरीरनाम कर्म के उदय की अपेक्षा पड़ती है । सिद्ध भगवान के शरीर नाम कर्म के उदय का अभाव होने से उक्त प्रकार के अभय दानादि का प्रसङ्ग नही आयगा । जिस प्रकार केवलज्ञान रूप से उनमे अनंतवीर्य गुण माना जाता है अर्थात् अनंतवीर्य के साथ केवलज्ञान का अविनाभाव सम्बन्ध होने से केवलज्ञान होने से अनंतवीर्य का सद्भाव सिद्ध होता है, उसी प्रकार उक्त भावों का समावेश करना चाहिये ।

अनंतशक्ति का हेतु

आत्मा मे अनन्त शक्ति है, जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होती है । यह शक्ति कहना आत्मा की स्तुति नही है, किन्तु वास्तव मे युक्ति द्वारा यह सिद्ध होती है । प० आशाधर जी ने सागारधर्मामृत मे लिखा है कि आत्मा अपने स्वरूप मे निमग्न होकर त्रिभुवन विजेता काम को जीतती है, इसलिए आत्मा मे अनन्त

शक्ति का सद्भाव स्वीकार करना अतिशयोक्ति नहीं है, किन्तु वास्तविक सत्य है।

> अनंतशक्तिरात्मेति श्रुतिर्वस्त्वेव न स्तुतिः।
> यस्स्वद्रव्ययुगात्मैव जगज्जैत्रं जयेत् स्मरम् ॥७--१७॥
>
> सागारधर्मामृत।

कवि का भाव यह है कि संसार भर में काम का साम्राज्य फैला है। पशुवर्ग, मनुष्य समाज के सिवाय देवी देवताओं पर भी काम का अनुशासन है। गुरुपूजा में ठीक ही कहा है :—

> कनक, कामिनी, विषयवश दीसै सब संसार।
> त्यागी वैरागी महा साधु सुगुन-भण्डार॥

स्वानुभव में निमग्न जिनेन्द्र भगवान ने काम कषाय का मूलोच्छेद कर दिया है। अतः अनन्त जीवों को अपना दास बनाने वाले कामशत्रु का विध्वंस करने वाले जिनेन्द्र भगवान में अनंतशक्ति का अस्तित्व स्वयमेव सिद्ध होता है। निर्विकार दिगम्बर मुद्रा द्वारा हृदय की शुद्धता पूर्णतया प्रमाणित होती है।

गणधर के बिना दिव्य-ध्वनि

योग्य सामग्री का सन्निधान प्राप्त होने पर कार्य होता है। चैत्र कृष्णा नवमी को वृषभनाथ भगवान केवलज्ञानी हो गए। इतने मात्र से दिव्यध्वनि की उद्भूति नहीं होगी, जब तक सहायक इतर सामग्री न मिल जाय।

यहाँ गणधर कौन बनेगा ? दिव्यध्वनि से धर्मतत्व जानकर मुमुक्षु गणधर बनेंगे। लोग धर्म को जानते नहीं हैं। महावीर भगवान के समय जैसी कठिनता उपस्थित होती है। आगम में कहा है—वैशाख सुदी दशमी को महावीर भगवान के केवलज्ञान हो जाने पर ६६ दिन पर्यन्त दिव्यध्वनि उत्पन्न नहीं हुई थी, यद्यपि अन्य सर्व-सामग्रीका समुदाय वहाँ विद्यमान था। जयधवला टीका में कहा है कि उस समय गणधरदेव रूप कारण का अभाव

था, "गणिदाभावादो" (पृष्ठ ७६)। गणधरदेव की उपलब्धि होने पर श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के प्रभात मे वीर जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि खिरी थी। इससे भी कठिन परिस्थिति उस काल मे थी, जब भगवान आदिनाथ ने तपश्चर्या द्वारा कैवल्य लक्ष्मी प्राप्त की थी। यदि लोग धर्मतत्व के ज्ञाता होते, तो मुनि अवस्था मे भगवान को छह माह पर्यन्त आहार प्राप्ति के हेतु क्यो फिरना पडता? इस प्रकार की कठिन स्थिति मन मे विविध शकाओ को उत्पन्न करती है। किन्तु इसका समाधान सरल है।

महापुराणकार कहते हैं कि भरत महाराज को धर्माधिकारी पुरुष से यह समाचार प्राप्त हुआ कि आदिनाथ भगवान को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। उसी समय आयुधशाला के रक्षक से ज्ञात हुआ कि आयुधशाला मे चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है तथा कचुकी से ज्ञात हुआ कि पुत्र उत्पन्न हुआ है :—

> धर्मस्थाद् गुरुकैवल्यं चक्रमायुधपालतः।
> गुरोः कैवल्यसंभूतिं सूर्ति च सुतचक्रयो ॥२४—२॥

भरतेश्वर ने पहले धर्म पुरुषार्थ की आराधना करना कल्याणदायी सोचा—"कार्येषु प्राग्विधेय तद्धर्म्य श्रेयोनुबंधि यत्" (८) इससे भरत महाराज सपरिवार पुरिमतालपुर जाने को उद्यत हुए। वहाँ पहुँचकर भरत महाराज ने सुवर्णमय बीस हजार सीढ़ियों पर चढ कर शीघ्र ही समवशरण मे प्रवेश किया। उन्होने द्वारपाल देवों के द्वारा भीतर जाते हुए समवशरण के वैभव का अवलोकन कर परम आनद प्राप्त किया। श्रीमडप की शोभा देखी। वह रत्नमय स्तम्भो पर अवस्थित था। उसका ऊपरी भाग स्फटिकमणि निर्मित था। वास्तव में वह श्रीमडप ही था।

पुण्यशाली महाराज भरत ने पद्मासन मुद्रामें विराजमान उन अतर्यामी आदिनाथ प्रभु की प्रदक्षिणा की। श्रेष्ठ सामग्री से उन

देवाधिदेव की अत्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा की और उनको प्रणाम किया। उनका मंगल स्तवन करते हुए भरतराज ने कहा :—

त्वं शम्भुः शम्भवः शंयुः शंवदः शंकरो हरः।
हरिर्मोहासुरारिश्च तमोरिर्भव्यभास्करः ॥२४—३६॥

आप ही शंभु हैं, शंभव हैं, शंयु अर्थात् सुखी हैं, शंवद हैं अर्थात् सुख या शांति का उपदेश देने वाले हैं, शंकर हैं अर्थात् शांति के करने वाले हैं, हर हैं, मोहरूपी असुर के शत्रु हैं, अज्ञानरूप अंधकार के अरि हैं और भव्य जीवों के लिए उत्तम सूर्य हैं।

भरतेश्वर जिनेन्द्र के गुणस्तवन के सिवाय नामकीर्तन को भी आत्म निर्मलता का कारण मानते हुए कहते आचार्य हैं :—

तदास्तां गुणस्तोत्रं नाममात्रंच कीर्तितम्।
पुनाति नस्ततो देव त्वन्नामोद्देशतः श्रिताः ॥२४—६८॥

हे देव, आपके गुणों का स्तोत्र करना तो दूर रहा, आपका लिया हुआ नाम ही हम लोगों को पवित्र कर देता है; अतएव हम आपका नाम लेकर ही आपके शरण को प्राप्त होते हैं।

चक्रवर्ती द्वारा प्रार्थना

वृषभात्मज भरतेश्वर जगत्पिता वृषभजिनेश्वर की स्तुति के उपरान्त श्रीमंडप में जाकर सभा में अपने योग्य स्थान पर बैठे; पश्चात् विनयपूर्वक भरतराज ने जिनराज से प्रार्थना की :—

भगवन् बोद्धुमिच्छामि कीदृशस्तत्वविस्तरः।
मार्गो मार्गफलं चापि कीदृग् तत्वविदांवर ॥२४—७६॥

भगवन्! तत्वों का स्पष्ट स्वरूप किस प्रकार है? मार्ग तथा मार्गफल कैसा है? हे तत्वज्ञों में श्रेष्ठ देव! मैं आपसे यह सब सुनना चाहता हूँ।

भाग्यशाली भक्तशिरोमणि भरतराज के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने समस्त सप्त तत्वों का, रत्नत्रय मार्ग तथा उसके फल-

स्वरूप निर्वाण आदि का स्वरूप अपनी दिव्य वाणी के द्वारा निरूपण किया।[1] सर्वज्ञ, वीतराग तथा हितोपदेशी जिनेन्द्र की वाणी की महिमा का कौन वर्णन कर सकता है ? सम्राट् भरत ने भगवान के श्रीमुख से मुनिदीक्षा लेते समय सात्वना के शब्द सुने थे, उसके पश्चात् अब प्रभु की प्रिय, मधुर तथा शांतिदायिनी वाणी सुनने में आई। समवशरण मे विद्यमान जीवो को अवर्णनीय आनन्द तथा प्रकाश की उपलब्धि हुई। चिर पिपासित चातक के मुख मे मेघबिन्दु पडकर जैसी प्रसन्नता उत्पन्न करती है, ऐसी ही प्रसन्नता, प्रभु की वाणी को सुनकर, समवशरण के जीवो को प्राप्त हुई थी। प्रभु की वाणी का सम्राट् पर क्या प्रभाव पडा, इस पर महापुराणकार इस प्रकार प्रकाश डालते है —

भरत चक्रवर्ती द्वारा व्रत-ग्रहण

ततः सम्यक्त्वशुद्धि च व्रतशुद्धि च पुष्कलाम्।
निष्कलात् भरतो भेजे परमानन्दमुद्वहन् ॥२४—१६३॥

भगवान की दिव्यदेशना को सुनकर भरत ने परम आनंद को प्राप्त होते हुए सम्यक्त्व शुद्धि तथा व्रतो के विषय में परम विशुद्धता प्राप्त की।

भरतेश्वर ने मानसी शुद्धि भी प्राप्त की थी। जिनसेनस्वामी लिखते है —

---

[1] तिलोयपण्णत्ति में कहा है कि गणधर देव, इन्द्र अथवा चक्रवर्ती के प्रश्नानुसार अर्थ के निरूपणार्थ वह दिव्यध्वनि अन्य समयो में भी निकलती है। कहा भी है —

सेसेसु समएसु गणहर देविद-चक्कवट्टीण।
पण्हाणुरुवमत्थ दिव्वझुणी अ सत्तभंगीहिं ॥४—९०४॥

इस नियम के अनुसार चक्रवर्ती के प्रश्न पर दिव्यध्वनि खिरने लगी कारण गणधर देव के अभाव की पूर्ति चक्रवर्ती की उपस्थिति द्वारा सम्पन्न हो गई।

स लेभे गुरुमाराध्य सम्यग्दर्शन-नायकाम् ।
व्रत-शीलावलीं मुक्तेः कंठिकामिव निर्मलाम् ॥२४--१६५॥

भरत महाराज ने भगवान की आराधना कर सम्यग्दर्शन युक्त मुख्य मणि सहित व्रत और शीलों से समलंकृत निर्मल माला अपने कंठ में धारण की, जो मुक्ति-श्री के निर्मल कण्ठहार के समान लगती थी; अर्थात् भरत महाराज ने द्वादश व्रतों द्वारा अपना जीवन अलंकृत किया था। इस कारण वे सुसंस्कृत मणि के समान दैदीप्यमान होते थे। भगवान की दिव्यवाणी सुनकर बारहवें कोठे में पशुओं-पक्षियों के मध्य में स्थित मयूरों को बड़ा हर्ष हुआ, क्योंकि उनको जिनेन्द्र की मधुर वाणी अत्यन्त प्रिय मेघ की ध्वनि सदृश सुनाई पड़ी थी। महाकवि कहते हैं :—

दिव्यध्वनिमनुश्रुत्य जलद-स्तनितोपमम् ।
अशोक-विटपारूढाः सस्वनु-र्दिव्यबर्हिणः ॥२४--१६६॥

मेघ की गर्जना सदृश भगवान की दिव्यध्वनि को सुनकर अशोकवृक्ष की शाखाओं पर स्थित दिव्य-मयूर भी आनन्द से शब्द करने लगे थे।

वृषभसेन गणधर

भगवान की दिव्य देशना से भरत महाराज के छोटे भाई पुरिमतालपुर के स्वामी महाराज वृषभसेन की आत्मा अत्यधिक प्रभावित हुई। वृषभ पिता की कल्याणमयी आज्ञा को ही मानो शिरोधार्य करते हुए इन वृषभपुत्र ने मोक्ष के साक्षात् मार्ग रूप महाव्रतों को अङ्गीकारकर मुनिपदवी प्राप्त की और सप्तऋद्धि से शोभायमान हो प्रथम गणधर की प्रतिष्ठा की। उनके विषय में महापुराणकार के शब्द ध्यान देने योग्य हैं :—

योऽसौ पुरिमतालेशो भरतस्यानुजः कृती।
प्राज्ञः शूरः शुचिर्धीरो धौरेयो मानशालिनाम् ॥१७१॥
श्रीमान् वृषभसेनाख्यः प्रज्ञापारमितो वशी।
स सम्बुध्य गुरोः पार्श्वे दीक्षित्वाऽभूद गणाधिपः ॥१७२--पर्व २४॥

उसी समय कुरुवश के शिरोमणि महाराज श्रेयाँस, महाराज सोमप्रभ तथा अन्य राजाओं ने भी मुनिदीक्षा धारणकर वृषभसेन स्वामी के समान गणनायकत्व प्राप्त किया ।

ब्राह्मी आर्यिका

जिस सर्व परिग्रह त्यागवृत्ति को सिंह वृत्ति मान शृगाल स्वभाव वाले जीव डरा करते हैं, उस पदवी को निर्भय हो धारण करने मे लोगों का साहस वृद्धिगत हो रहा था । भरत महाराज की छोटी बहिन ब्राह्मी ने कुमारी अवस्था मे ही वैराग्यभाव जागृत होने से आर्यिका (साध्वी) की श्रेष्ठ पदवी प्राप्त की ।

भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात् ।
गणिनीपदमार्याणां सा भेजे पूजितामरैः ॥२४—१७५॥

गुरुदेव के अनुग्रह से भरत महाराज की छोटी बहिन कुमारी ब्राह्मी ने दीक्षा लेकर आर्याओं के मध्य गणिनी का पद प्राप्त किया था । आर्यिका ब्राह्मी की देवताओं ने पूजा की थी ।

बाहुबलिकुमार की सगी बहिन सुन्दरी ने भी बहिन ब्राह्मी के समान दीक्षा धारण कर मातृजाति को गौरवान्वित किया था ।

श्रुतकीर्ति श्रावकोत्तम

उस समय श्रुतकीर्ति नामक गृहस्थ ने श्रावकों के उच्चव्रत ग्रहण किए थे । वह देशव्रती श्रावको मे प्रमुख था । आदिपुराणकार कहते हैं :—

श्रुतकीर्तिर्महाप्राज्ञो गृहीतोपासकव्रत. ।
देशसंयमिनामासीत् धौरेयो गृहमेधिनाम् ॥१७८॥

प्रियव्रता नाम की गुणवती महिला ने श्राविकाओं के व्रत लेकर उच्च गौरव प्राप्त किया था । आचार्य कहते हैं :—

प्रियव्रता महिला-रत्न

उपात्ताणुव्रता धीरा प्रयतात्मा प्रियव्रता ।
स्त्रीणां विशुद्धवृत्तीनां बभूवाग्रेसरी सती ॥१७९॥

अणुव्रतों को धारण करनेवाली, धीर, सावधान रहनेवाली प्रियव्रता नाम की सती महिला विशुद्ध चरित्रवाली नारियों में अग्रेसरी हुई ।

अनंतवीर्य का सर्वप्रथम मोक्ष

भरत के भाई अनंतवीर्यकुमार ने भी भगवान से मुनिदीक्षा लेकर अपूर्व विशुद्धता प्राप्त की । इस युग में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जानेवाले पूज्य पुरुषों में अनंतवीर्य भगवान का सर्वोपरि स्थान है । कहा भी है :—

संबुद्धोऽनंतवीर्यश्च गुरोः संप्राप्तदीक्षणः ।
सुरैरवाप्त-पूजर्धिरग्यो मोक्षवतामभूत् ॥१४--१८१॥

अनंतवीर्य ने प्रतिबोध को प्राप्त करने के पश्चात् भगवान् से दीक्षा ली और देवों के द्वारा पूजा प्राप्त की । वे इस अवसर्पिणी में मोक्ष जाने वालों में अग्रणी हुए हैं ।

मरीचि का मिथ्यात्व

भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले तथा पश्चात् भ्रष्ट हुए समस्त राजाओं ने भगवान की वाणी को सुनकर अपने मिथ्यात्व का परित्याग कर जैनेश्वरी दीक्षा धारण की । मरीचिकुमार का संसार-भ्रमण समाप्त नहीं हुआ था, अतः उस जीव ने मिथ्यामार्ग का आश्रय नहीं छोड़ा । कहा भी है :—

मरीचिवर्ज्याः सर्वेपि तापसास्तपसि स्थिताः ।
भट्टारकान्ते संबुध्य महाप्राव्राज्यमास्थिताः ॥१८२॥

मरीचिकुमार को छोड़कर शेष सभी कुलिंगी साधुओं ने भट्टारक ऋषभदेव के समीप प्रतिबोध को प्राप्तकर महाव्रतों की दीक्षा ग्रहण की ।

जिनेन्द्र भगवान ने आत्म-विशुद्धि के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावरूप सामग्री चतुष्टय की अनुकूलता को आवश्यक कहा है ।

ऋषभनाथ भगवान के लोकोत्तर जीवन को देख तथा परम मङ्गलमय उपदेश को सुनकर जहाँ अगणित जीवों ने अपना कल्याणसाधन किया, वहाँ दीर्घ ससारी मरीचिकुमार पर उसका रञ्चमात्र भी असर नही पड़ा। यथार्थ मे काललब्धि का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उसके निकट आने पर मरीचिकुमार के जीव ने सिंह की पर्याय में धर्म को धारण करने का लोकोत्तर साहस किया था।

भरत का अपूर्व भाग्य

भरत महाराज सदृश महान ज्ञानी के भाई, छोटी बहिन ब्राम्ही आदि ने दीक्षा ली, किन्तु भरत महाराज अयोध्या को लौट गए और दिग्विजय आदि साँसारिक व्यग्रताओ मे सलग्न हो गए, क्योकि उनकी परिग्रह परित्याग की पुण्य वेला समीप नही आई थी। जब काललब्धि का योग मिला, तो दीक्षा लेकर भरत सम्राट् शीघ्र ही ज्ञान-साम्राज्य के स्वामी बन गए। मुनिपदवी लेने के पश्चात् उन्हे फिर पारणा करने तक का प्रसङ्ग नही प्राप्त हुआ। उत्तरपुराण का यह कथन कितना अर्थपूर्ण है :—

> आदितीर्थकृतो ज्येष्ठ-पुत्रो राजसु य इह।
> ज्यायांश्चक्री मुहूर्तेन मुक्तोप कैस्तुला वजेत् ॥७४—४६॥

आदिनाथ तीर्थंकरके ज्येष्ठ पुत्र, सोलहवे मनु, प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज ने अतर्मुहूर्त के अनन्तर ही कैवल्य प्राप्त किया था। उनकी बराबरी कौन कर सकता है?

उस समय धर्म तीर्थंकर की मङ्गलमयी वाणी के प्रसाद से अगणित जीव अपने कल्याण मे सलग्न हो गए। उसे देखकर यह प्रतीत होता था, कि भोगभूमि का पर्यवसान होने के उपरान्त नवीन ही धर्मभूमि का उदय हुआ है। तीर्थंकर भगवान के कलकमुक्त उज्ज्वल जीवन को देखकर भव्य जीव उनकी वाणी की यथार्थता को भली प्रकार समझते थे। समवशरण मे आने वाले जीवो के हृदय में यह गहरा प्रभाव पड़ता था, कि रत्नत्रय धर्म के बल से जब इन परम पुरुषार्थी प्रभु

ने मोह का नाशकर अद्भुत विभूति प्राप्त की है, तब इनके प्रत्यक्ष अभ्युदय को देखते हुए मैं आत्मविशुद्धि के मार्ग में क्यों न उद्योग करूँ ? अतः सब उत्साहित हो स्वयमेव धर्म का शरण लेते थे ।

प्रभु का प्रभाव

हरिवंशपुराण में कहा है कि भगवान के समवशरण में बीस हजार केवली थे । "विंशतिस्ते सहस्राणि केवलज्ञानलोचनाः" (१२--७४ हरिवंशपुराण) । उनके गणधरों की संख्या ८४ थी । महावीर भगवान के ग्यारह गणधर कहे गए हैं । चौबीस तीर्थंकरों के गणधरों की संख्या चौदह सौ बावन कही गई है । उनमें प्रथम स्थान वृषभदेव गणधर का माना गया है ।

भगवान के उपदेश का उस समय के सरल-चित्त व्यक्तियों के हृदय पर शीघ्र ही प्रभाव पड़ता था । पहले भगवान ने जो लोगों का उपकार किया था, उसके कारण भी के चित्त में प्रभु के प्रति महान आदर तथा श्रद्धा का भाव था, उस पृष्ठभूमि को देखते हुए भगवान की दिव्यदेशना के प्रभाव का कौन वर्णन कर सकता है ? वृषभनाथ भगवान के द्वारा उस धर्मशून्य युग में पुनः धर्म को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई ।

द्वादशांग श्रुत की रचना

भगवान के उपदेश को सुनकर वृषभसेन गणधर ने द्वादशांग वाणी की रचना की । भावश्रुत तथा अर्थपदों के कर्ता तीर्थंकर भगवान कहे गए हैं । "भावसुदस्स अत्थपदाणं च तित्थयरो कत्ता" (धवला-टीका भाग १, पृष्ठ ६५) द्रव्यश्रुत के कर्त्ता गणधरदेव कहे गए हैं । महावीर प्रभु की दिव्यध्वनि को लक्ष्य करके वीरसेनाचार्य ने लिखा है "दव्व-सुदस्स गोदमो कत्ता"--द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम गणधर थे । ऋषभदेव तीर्थंकर के समय में द्रव्यश्रुत कर्ता वृषभसेन गण-नायक थे ।

द्वादशांग वर्णन

द्वादशांग रूप जिनवाणी मे आचारांग को प्रथम स्थान प्रदान किया गया है। इस अग में मुनियों के आचार का अठारह हजार पदो द्वारा प्रतिपादन किया गया है। सूत्रकृतांग मे छत्तीस हजार पदो के द्वारा ज्ञान, विनय, प्रज्ञापना, कल्प्य तथा अकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहार धर्म क्रिया का कथन है। उसमे स्वमत तथा पर सिद्धांत का भी निरूपण है। स्थानांग नाम के तीसरे अङ्ग मे ब्यालीस हजार पदो के द्वारा एक को आदि लेकर उत्तरोत्तर एक-एक अधिक स्थानों का प्रतिपादन है। उदाहरणार्थ एक जीव है। ज्ञान दर्शन के भेद से दो प्रकार है। ज्ञान, कर्म, कर्मफलचेतना के रूप से तीन भेदयुक्त है। चारगति की अपेक्षा चतुर्भेद युक्त है इत्यादि। चौथा समवायांग एक लाख चौसठ हजार पदो के द्वारा पदार्थो के समवाय का वर्णन करता है। वह सादृश्य सामान्य से द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जीवादि पदार्थों का ज्ञान कराता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम के पचम अङ्ग में दो लाख अट्ठाइस हजार पदो द्वारा क्या जीव है ? या जीव नही है ? इत्यादि रूप से साठ हजार प्रश्नों का व्याख्यान है। नाथधर्मकथा नामका छठवाँ अङ्ग पाँच लाख छप्पन हजार पदो द्वारा सूत्रपौरुपी अर्थात् सिद्धान्तोक्त विधि से स्वाध्याय की प्रस्थापना हो इसलिए तीर्थकर की धर्मदेशना का एव अनेक प्रकार की कथाओ तथा उपकथाओं का वर्णन करता है। सातवें उपासकाध्ययन अङ्ग में ग्यारह लाख सत्तर हजार पदो के द्वारा श्रावक के आचार का कथन है। अतकृद्दशांग नाम थे आठवें अङ्ग में तेइस लाख अट्ठाईस हजार पदों के द्वारा एक-एक तीर्थकर के तीर्थ में नाना प्रकार के भीषण उपसर्गो को सहनकर निर्वाण प्राप्त करनेवाले दस-दस अतकृत् केवलियो का वर्णन किया गया है। नबमे अनुत्तर-औपपादिक दशाङ्ग में बानवे लाख, चवालीस हजार पदो द्वारा एक एक तीर्थकर के तीर्थ में उपसर्गो को सहनकर पाँच अनुत्तर विमानो में उत्पन्न होने वाले दश-दश महापुरुषो का वर्णन किया गया है। वर्धमान भगवान के तीर्थ में

ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिकेय, आनंद, नंदन, शालिभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र ये दश महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि में जन्मधारण किया है। प्रश्नव्याकरण नाम के दशमें अङ्ग में तेरानवे लाख, सोलह हजार पदों के द्वारा आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेदिनी तथा निर्वेदिनी इन चार कथाओं का कथन किया गया है। तत्वों का निरूपण करनेवाली आक्षेपिणी कथा है, एकान्त दृष्टि का शोधन करनेवाली तथा स्वसमय की स्थापना करनेवाली विक्षेपिणी कथा है। विस्तार से धर्म के फल का कथन करनेवाली संवेगिनी कथा है। वैराग्य उत्पन्न करनेवाली निर्वेगिनी कथा है। विपाकसूत्र नामका एकादशम अङ्ग एक करोड़ चौरासी लाख पदों के द्वारा पुण्य और पाप रूप कर्मों के फलों का प्रतिपादन करता है। बारहवाँ अङ्ग दृष्टिवाद है; उसमें तीन सौ त्रेसठ मतों का वर्णन तथा निराकरण किया गया है।

दृष्टिवाद के भेद

दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं:—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूदीपप्रज्ञप्ति, द्वीप-सागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति ये परिकर्म के पाँच भेद हैं। दृष्टिवाद के द्वितीय भेद सूत्र में अट्ठाइस लाख पदों के द्वारा क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के मतों का वर्णन है। इसमें त्रैराशिकवाद,[1] नियतिवाद,[2] विज्ञानवाद,[3] शब्दवाद, प्रधान-वाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का भी वर्णन है।

---

१ "गोशालप्रवर्तिता आजीवकाः पाखण्डिनस्त्रैराशिका उच्यन्ते। ते सर्वं वस्तु त्र्यात्मकमिच्छंति तद्यथा, जीवोऽजीवो जीवाजीवाश्च, लोका अलोका लोकमलोकाश्च, सदसत्सदसत्। नयचिंतायामपि त्रिविधं नय-मिच्छंति। तद्यथा द्रव्यास्तिकं, पर्यायास्तिकं, उभयास्तिकं च" (नंदिसूत्र पृष्ठ २३६)।

प्रथमानुयोग

दृष्टिवाद का तृतीयभेद प्रथमानुयोग है। उसमें पाँचहजार पदों के द्वारा बारह प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया गया है। उन पुराणों में जिनवंश और राजवंशों का वर्णन किया गया है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, विद्याधर, नारायण, प्रतिनारायण, चारणमुनि, प्रज्ञा-श्रमण, कुरुवंश, हरिवंश, इक्ष्वाकुवंश, काश्यपवंशवादियों का वंश तथा नाथवंशों का उन पुराणों में वर्णन है।

दृष्टिवाद का पूर्वगत नामका चतुर्थभेद पचानवें करोड़ पचास लाख और पाँच पदों द्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यादि का वर्णन करता है—"उप्पाद-वय-धुवत्तादीण वण्णण कुणइ", (धवलाटीका भाग १, पृ० ११३)।

चूलिका में अपूर्व कथन

चूलिका दृष्टिवाद का पंचमभेद है। वह जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता तथा आकाशगता रूप से पंच प्रकार कही गई है। जलगता चूलिका जल-गमन और जल-स्तंभन के कारणरूप मंत्र, तंत्र और तपश्चर्यारूप अतिशय आदि का वर्णन करती है, (जलगमण-जलत्थंभण-कारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि)। स्थलगता-चूलिका पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारणरूप मंत्र, तंत्र और तपश्चरण तथा वास्तुविद्या और भूमि सम्बन्धी दूसरे शुभ-अशुभ कारणों का वर्णन करती है। (भूमि-गमण-कारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणि, वत्थुविज्जं, भूमिसंबंधमण्णं पि सुहासुहकारणं वण्णेदि)। मायागता चूलिका में इन्द्रजाल आदि के कारणभूत मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का वर्णन है। (इंदजालं वण्णेदि)। रूपगता

२ जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदिवादो णियदिवादो दु ॥गो० कर्मकांड ८८२॥
३ आलसड्ढो णिरुच्छाहो फलं किंचि ण भुंजदे।
थणक्खीरादिपाणं वा पउरुसेण विणा ण हि ॥गो० कर्मकांड ८९०॥

चूलिका में सिंह, घोड़ा और हरिण आदि के स्वरूप के आकाररूप से परिणमन करने के कारणरूप मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरण का, तथा चित्रकर्म, काष्ठकर्म, लेप्यकर्म और लेनकर्म आदि के लक्षण का वर्णन है (सीह - हय- हरिणादि - रुवायारेण परिणमण -हेदु -मंत- तंत-तवच्छरणाणि चित्त - कट्ठ - लेप्प - लेणकम्मादि - लक्खणं च वण्णेदि पृ० ११३, धवलाटीका भाग १) । आकाशगता चूलिका द्वारा आकाश में गमन करने के कारण रूप मंत्र, तंत्र और तपश्चरण का वर्णन हुआ है । (आयासगया आयासगमण - णिमित्त - मंत - तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि) इन पाँचों ही चूलिकाओं के पदों का जोड़ दश करोड़, उनचास लाख छियालीस हजार है ।

महत्वपूर्ण विचार

इस वर्णन को पढ़ते समय मुमुक्षु के मन में यह प्रश्न सहज उत्पन्न हो सकता है कि द्वादशाङ्ग वाणी में जलगमनादि के साधन मन्त्र-तन्त्रादि का वर्णन क्यों किया गया ? विचार करने पर इसका समाधान यह होगा, कि आचार्यो ने संक्षेपमति शिष्यों के लिए अल्प शब्दों में तत्व कहा है । द्वादशाँग वाणी का सार आचार्य पूज्यपाद-स्वामी ने इन शब्दों में कहा है :—

'जीवोऽन्यः पुद्‌गलश्चान्य इत्यसौ तत्वसंग्रहः'

जीव अन्य है तथा पुद्‌गल अन्य है; यह तत्व का सार है । विस्तार रुचिवाले महाज्ञानपिपासु तथा प्रतिभासम्पन्न शिष्यों के प्रतिबोध निमित्त विस्तृत रूप में वस्तु के स्वरूप का कथन किया गया है । भगवान वीतराग तथा सर्वज्ञ हैं । उनकी दिव्यध्वनि के द्वारा विश्व केसमस्त पदार्थो के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है, जैसे सूर्य के प्रकाश में समस्त पदार्थ दृष्टिगोचर हो जाते हैं । इस प्रकरण से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि आज जो भौतिक विज्ञान का विकास हो रहा है, इससे कई गुना अधिक ज्ञान महावीर भगवान के निर्वाण-समय के १६२ वर्ष पश्चात् तक रहा था । द्वादशाँग के ज्ञाता अंतिम श्रुतकेवली

निश्चयेन चैतन्याभ्यंतरवर्तिस्वभावत्वाच्च अंतरात्मा" (संस्कृत टीका पृ० ३६६)—व्यवहार नय से अष्ट कर्मों के भीतर रहने से तथा निश्चय नय की अपेक्षा चैतन्य के भीतर विराजमान रहने से अन्तरात्मा कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मप्रवाद नाम के सप्तम पूर्व में आत्मा के विषय में विविध अपेक्षाओं का आश्रय ले सर्वाङ्गीण प्रकाश डाला गया है।

विद्यानुवाद का प्रमेय

दशम पूर्व विद्यानुवाद के विषय में धवला टीका में लिखा है—कि गहअगुष्ठप्रसेना आदि सात सौ अल्प विद्याओं का, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का और अन्तरीक्ष, भौम, अग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यजन, छिन्न इन आठ महा निमित्तों का वर्णन करता है। आज भी विद्यानुवाद का कुछ अश किन्ही-किन्ही शास्त्र भडारो में हस्तलिखित प्रति के रूप में मिलता है। उसके स्वाध्याय से ज्ञात होता है कि मंत्र विद्या में भी जैन साधुओं ने बड़ी प्रगति की थी।

अक्षरो का विशेष रूप में रचा गया समुदाय मंत्र है। उच्च श्रुतज्ञान के सिवाय श्रेष्ठ अवधि, मन पर्यय ज्ञानधारी ऋषिवर ज्ञाननेत्रो से शब्दो और उनके द्वारा होने वाले पौद्गलिक परिवर्तनो को जान सकते थे। जैसे हम नेत्रो से स्थूल वस्तुओ को देखते है, वैसे वे सूक्ष्म परमाणुओं तक को ज्ञान नेत्र से देखते थे। जिस प्रकार विष आदि पदार्थों के द्वारा रक्त आदि पर प्रभाव पड़ता है, इस प्रकार का परिवर्तन ये मुनीन्द्र शब्दों के द्वारा उत्पन्न होते हुए देखते थे।

उदाहरण के लिए सर्पदंशजनित विष प्रसार को रोकने के हेतु चिकित्सक औषधियो का प्रयोग करता है। शब्दो की सामर्थ्य को प्रत्यक्ष जानने वाले इन जैन ऋषियो ने ऐसे शब्दात्मक गूढ मंत्रो की सयोजना की, जिसमे अत्यन्त अल्पकाल मे विष उतर जाता है। आज के लोग प्रायः इस विद्या के अपरिचयवश इस विज्ञान को ही

अयथार्थ कहने का अतिसाहस करते हैं । यह समझना कि हमारे सिवाय अन्य सब अज्ञानी हैं, सत्पुरुषों के लिए योग्य बात नहीं है ।

अशोभन कार्य

गणधरदेव, द्वादशांगपाठी, श्रुतकेवली आदि श्रेष्ठ यतीन्द्र मंत्र, तंत्र विद्या के महान ज्ञाता रहे हैं; इसलिए किन्हीं साधुओं को अथवा अन्य समर्थ आत्माओं को मंत्रशास्त्र का अभ्यास करते देख जो उनकी निन्दा तथा अवर्णवादका कोई-कोई लोग पथ पकड़ा करते हैं, वह अप्रशस्त, अशोभन एवं अभद्रकार्य है । यदि यह विद्या एकान्त रूप से अकल्याणकारी होती तो सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि में उसका अर्थ रूप से प्रतिपादन न होता और न उस पर परम वीतराग गणधरदेव सदृश साधुराज ग्रंथरूप में रचना करने का कष्ट करते अतः अज्ञानमूलक आक्षेप करने की प्रवृत्ति में परिवर्तन आवश्यक है ।

शरीर-शास्त्र का प्रतिपादन

द्वादशमपूर्व प्राणावाय में अष्टाङ्ग आयुर्वेद, भूतिकर्म अर्थात् शरीर आदि की रक्षा के लिए किए गए भस्मलेपन, सूत्रबंधनादि कर्म, जाँगुलिप्रक्रम (विषविद्या) और प्राणायाम के भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

भगवान ने गृहस्थावस्था में भरत बाहुबलि आदि पुत्रों को उनकी नैसर्गिक रुचि, पात्रता आदि को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न विषय के शास्त्रों की स्वयं शिक्षा दी थी । उससे प्रभु का ज्ञान के विषय में दृष्टिकोण स्पष्ट होता था । अब सर्वज्ञ ऋषभनाथ तीर्थंकर की दिव्यध्वनि में प्रतिपादित ज्ञानराशि का अनुमान उसके रहस्य के ज्ञापक द्वादशांग शास्त्र, जिसे जैन वेद भी कहते हैं, के द्वारा हो जाता है । महापुराण में कहा है, "श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशाँगमकल्मषम्" (पर्व ३९—२२) ।

भद्रबाहुस्वामी हुए हैं। उनके शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त थे, जिन्होंने दिगम्बर मुद्रा स्वीकार की थी। उनकी पावन स्मृति मे मैसूर राज्य के अतर्गत श्रमणवेलगोला स्थल मे चन्द्रगिरि पर्वत शोभायमान हो रहा है।

पूर्व युग का विज्ञान

एक बात और ध्यान देने की है, कि जो मुनि सर्वावधिज्ञान के धारक होते हैं, वे परमाणु तक का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं। आज का भौतिकशास्त्र जिसे अणु कहता है, वह जैनशास्त्रानुसार अनत परमाणु पुञ्ज स्वरूप है। परमाणु तो इन्द्रियो तथा यन्त्रो के अगोचर रहता है। परमाणु का प्रत्यक्ष दर्शन करनेवाले दिगम्बर जैन महर्षियो को जगत् मे अज्ञात अनन्त चमत्कारो का ज्ञान रहता है। वीतराग, आत्मदर्शी, मुमुक्षु, महर्षि रहने से उनके द्वारा उस विज्ञान का प्रायः उपयोग नही किया जाता था। आगम के प्रकाश से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय तक देश मे ऐसे बडे-बडे दिगम्बर जैन मुनिराज थे, जिनके द्वारा अवगत भौतिक विद्या के रहस्य को यन्त्रो के आश्रय से चलने वाला आज का विज्ञान स्वप्न मे भी नही जान सकता है। यह कथन अतिशयोक्ति नही है। श्रेष्ठ ज्ञान के चमत्कारो के दर्शनार्थ परिशुद्ध पवित्र सयमी जीवन आवश्यक है। मद्य, माँसादि पाप-प्रवृत्तियो से परिपूर्ण पुरुषो की पहुँच उस तत्व तक नही हो सकती है, जहाँ तक पूर्व के मुनीन्द्र पहुँच चुके थे। यथार्थ मे ज्ञान तो समुद्र है। कूपमण्डूक की दृष्टिवाले उस ज्ञानसिंधु की क्या कल्पना कर सकते है?

पूर्व-प्ररूपण

दृष्टिवाद के चतुर्थभेद पूर्वगत के उत्पाद, अग्रायणीय, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्म-प्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुप्रवाद, कल्याणवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल तथा लोकविन्दुसार ये चौदह भेद कहे गए है।

आत्म-प्रवाद पूर्व

इनमें आत्मतत्व का निरूपण करने वाला आत्मप्रवाद सातवाँ पूर्व है। इस पूर्व में आत्मा का वर्णन करते हुए कहा है कि आत्मा का पर्यायवाची जीव शब्द है। जो जीता है, जीता था तथा पहले जीवित था, उसे जीव कहते हैं। आत्मा को शुभ अशुभ कार्य का कर्त्ता होने से कर्ता कहते हैं। (सुहमसुहं करेदि त्ति कत्ता)। सत्य-असत्य, योग्य-अयोग्य बोलने से वक्ता, प्राणयुक्त होने से प्राणी, देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी के भेद से चार प्रकार के संसार मेंपुण्य-पाप का फल भोगने से भोक्ता कहते हैं। जीव को पुद्गल भी कहा है। "छव्विह- संठाणं, बहुविह-देहेहि पूरदि गलदित्ति पोग्गलो" ---नाना प्रकार के शरीरों के द्वारा छह प्रकार के संस्थान को पूर्ण करता है, और गलाता है; इस कारण पुद्गल है। "सुखदुक्खं वेदेदित्तिवेदो"-सुख, दुःख का वेदन करता है, इसलिए वेद कहलाता है। "उपात्तदेहं व्याप्नोतीति विष्णुः"-प्राप्त हुए शरीर को व्याप्त करता है, इससे विष्णु है। "स्वयमेव भूतवानिति स्वयंभूः" --स्वतः ही अस्तित्ववान रहा है, इससे स्वयंभू है। शरीरयुक्त होने से शरीरी है। "मनुः ज्ञानं तत्र भव इति मानवः"---मनु ज्ञान को कहते हैं। उसमें उत्पन्न हुआ है, इसलिए मानव है। "सजण-सम्बन्ध-मित्त-वग्गादिसु संजदि त्ति सत्ता"--स्वजन सम्बन्धी मित्रादि वर्ग में आसक्त रहने से सक्ता है। "चउगइसंसारे जायदि जणयदित्ति जंतू"---चतुर्गति रूप संसार में उत्पन्न होता है, इससे जंतु है। मान कषाय के कारण मानी, माया कषाय के कारण मायी है। मनोयोग, वचन योग, काय योगयुक्त होने से योगी, अत्यन्त संकुचित शरीर धारण करने से संकुट (संकुडो) है। सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करता है, इसलिए असंकुट है। "क्षेत्रं स्वरूपं जानातीति क्षेत्रज्ञः" स्व स्वरूप को तथा लोकालोक रूपक्षेत्र को जानता है, इससे क्षेत्रज्ञ है। "अट्ठकम्मब्भंतरो त्ति अंतरप्पा" ---अष्टकर्मों के भीतर रहने से अन्तरात्मा कहलाता है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखा है-- "व्यवहारेण अष्टकर्माभ्यन्तरवर्तिस्वभावत्वात्

निश्चयेन चैतन्याभ्यन्तरवर्तिस्वभावत्वाच्च अंतरात्मा" (संस्कृत टीका पृ० ३६६)—व्यवहार नय से अष्ट कर्मो के भीतर रहने से तथा निश्चय नय की अपेक्षा चैतन्य के भीतर विराजमान रहने से अन्तरात्मा कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मप्रवाद नाम के सप्तम पूर्व में आत्मा के विषय में विविध अपेक्षाओं का आश्रय ले सर्वाङ्गीण प्रकाश डाला गया है।

विद्यानुवाद का प्रमेय

दशम पूर्व विद्यानुवाद के विषय म धवला टीका में लिखा है—कि यहसगुष्ठप्रसेना आदि सात सौ अल्प विद्याओं का, रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का और अन्तरीक्ष, भौम, अग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यजन, छिन्न इन आठ महा निमित्तो का वर्णन करता है। आज भी विद्यानुवाद का कुछ अश किन्ही-किन्ही शास्त्र भंडारों मे हस्तलिखित प्रति के रूप मे मिलता है। उसके स्वाध्याय से ज्ञात होता है कि मत्र विद्या मे भी जैन साधुओं ने बड़ी प्रगति की थी।

अक्षरों का विशेष रूप मे रचा गया समुदाय मत्र है। उच्च श्रुतज्ञान के सिवाय श्रेष्ठ अवधि, मन पर्यय ज्ञानधारी ऋषिवर ज्ञाननेत्रों से शब्दो और उनके द्वारा होने वाले पौद्गलिक परिवर्तनो को जान सकते थे। जैसे हम नेत्रो से स्थूल वस्तुओं को देखते हैं, वैसे वे सूक्ष्म परमाणुओं तक को ज्ञान नेत्र से देखते थे। जिस प्रकार विष आदि पदार्थो के द्वारा रक्त आदि पर प्रभाव पडता है, इस प्रकार का परिवर्तन ये मुनीन्द्र शब्दो के द्वारा उत्पन्न होते हुए देखते थे।

उदाहरण के लिए सर्पदशजनित विष प्रसार को रोकने के हेतु चिकित्सक औषधियो का प्रयोग करता है। शब्दो की सामर्थ्य को प्रत्यक्ष जानने वाले इन जैन ऋषियो ने ऐसे शब्दात्मक गूढ मत्रों की सयोजना की, जिससे अत्यन्त अल्पकाल मे विष उतर जाता है। आज के लोग प्राय: इस विद्या के अपरिचयवश इस विज्ञान को ही

अयथार्थ कहने का अतिसाहस करते हैं। यह समझना कि हमारे सिवाय अन्य सब अज्ञानी हैं, सत्पुरुषों के लिए योग्य बात नहीं है।

अशोभन कार्य

गणधरदेव, द्वादशांगपाठी, श्रुतकेवली आदि श्रेष्ठ यतीन्द्र मंत्र, तंत्र विद्या के महान ज्ञाता रहे है, इसलिए किन्हीं साधुओं को अथवा अन्य समर्थ आत्माओं को मंत्रशास्त्र का अभ्यास करते देख जो उनकी निन्दा तथा अवर्णवादका कोई-कोई लोग पथ पकड़ा करते हैं, वह अप्रशस्त, अशोभन एवं अभद्रकार्य है। यदि यह विद्या एकान्त रूप से अकल्याणकारी होती तो सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि में उसका अर्थ रूप से प्रतिपादन न होता और न उस पर परम वीतराग गणधरदेव सदृश साधुराज ग्रंथरूप मे रचना करने का कष्ट करते अतः अज्ञानमूलक आक्षेप करने की प्रवृत्ति में परिवर्तन आवश्यक है।

शरीर-शास्त्र का प्रतिपादन

द्वादशमपूर्व प्राणावाय में अष्टाङ्ग आयुर्वेद, भूतिकर्म अर्थात् शरीर आदि की रक्षा के लिए किए गए भस्मलेपन, सूत्रबंधनादि कर्म, जाँगुलिप्रक्रम (विषविद्या) और प्राणायाम के भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

भगवान ने गृहस्थावस्था में भरत बाहुबलि आदि पुत्रों को उनकी नैसर्गिक रुचि, पात्रता आदि को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न विषय के शास्त्रों की स्वयं शिक्षा दी थी। उससे प्रभु का ज्ञान के विषय में दृष्टिकोण स्पष्ट होता था। अब सर्वज्ञ ऋषभनाथ तीर्थंकर की दिव्यध्वनि में प्रतिपादित ज्ञानराशि का अनुमान उसके रहस्य के ज्ञापक द्वादशाँग शास्त्र, जिसे जैन वेद भी कहते हैं, के द्वारा हो जाता है। महापुराण में कहा है, "श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशाँगमकल्मषम्" (पर्व ३९—२२)।

साम्राज्य के स्वामी जगत्पिता जिनेन्द्र के विहार के योग्य समय को विचार कर विवेकमूर्ति सुरेन्द्र ने प्रभु के समक्ष उनके विहारार्थ इस प्रकार विनयपूर्ण निवेदन किया :—

> भगवन् भव्य-सस्यानां पापावग्रहशोषिणाम् ।
> धर्मामृत-प्रसेकेन त्वमेधि शरणं विभो ।।२५--२२८।।

हे भगवन् ! भव्य जीवरूपी धान्य पापरूपी अनावृष्टि अर्थात् वर्षाभाव से सूख रहे हैं । उन्हें धर्मरूपी अमृत से सींचकर आपही शरणरूप होइये ।

> भव्यसार्थाधिप-प्रोद्यद्-दयाध्वजविराजितम् ।
> धर्मचक्रमिदं सज्जं त्वज्जयोद्योग-साधनम् ।।२२६।।

हे भव्यवृन्द-नायक जिनेन्द्र ! हे दयाध्वज-समलंकृत देव ! आपकी विजय के उद्योग को सिद्ध करनेवाला यह धर्मचक्र तैयार है ।

> निर्धूय मोहपृतनां मुक्तिमार्गोपरोधिनीम् ।
> तवोपदेष्टुं सन्मार्ग-कालोयं समुपस्थित ।।२३०।।

हे स्वामिन् ! मोक्षमार्ग को रोकने वाली मोह सेना का विनाश करने के पश्चात् अब आपका यह समीचीन मोक्षमार्ग के उपदेश देने का समय उपस्थित हुआ है ।

सुरेन्द्र द्वारा प्रभु के धर्मविहार हेतु प्रस्तुत किए गए प्रस्ताव में यह महत्वपूर्ण बात कही गई है, कि भगवान ने मोह की सेना का ध्वंस कर दिया है, अतएव वीतमोह जिनेन्द्र वीतरागता की प्रभावपूर्ण देशना करने में सर्वरूप से समर्थ हैं ।

विहार प्रारम्भ

इन्द्र की प्रार्थना के पश्चात् भगवान ने भव्यरूपी कमलों के कल्याणार्थ विहार प्रारम्भ किया । महापुराणकार कहते हैं :—

> त्रिजगद्वल्लभः श्रीमान् भगवानादिपूरुषः ।
> प्रचक्रे विजयोद्योगं धर्मचक्राधिनायकः ।।२४।।

ग्रंथों की अनुपलब्धि का कारण

कभी कभी मन में यह आशका उत्पन्न होती है, कि इतनी विशाल जैनों की ग्रथराशि पहले थी, तो अब वह क्यों नहीं उपलब्ध होती है ? इतिहास के परिशीलन से पता चलता है, कि जैन-संस्कृति के विरोधी वर्ग में जिस क्रूरता से ग्रन्थों का ध्वस किया, उसका अन्य उदाहरण कहीं भी न मिलेगा।[1] उस जैन-धर्म-विरोधी मनोवृत्ति के कारण जहाज भर-भर के जैन-ग्रन्थ नष्ट कर दिए के ग्रन्थ तुङ्गभद्रा तथा ताताचार्य ने लिखा था, कि हजारों ताड़पत्र गए। प्रोफेसर आर० कावेरी नदी में डुवा दिए गए थे।[2] अत्याचार, प्रमाद तथा अज्ञान के कारण लोकोत्तर महान साहित्य नष्ट हो चुका। जो शेष बचा है, वह भी अनुपम है। उसके भीतर भी वही सर्वज्ञ वाणी का मथितार्थ भरा है, जिसके परिशीलन से आत्मा आनन्द और आलोक प्राप्त करती है।

दिव्य-ध्वनि

भगवान की दिव्यध्वनि से अमृतरस का पान कर इन्द्र ने प्रभु की स्तुति की और कहा —

> तव वागमृतं पीत्वा वयमद्यामराः स्फुटम्।
> पीयूषमिदमिष्टं नो देव सर्वरुजाहरम् ॥२०--२६॥

हे देव ! आपके वचनरूपी अमृत को पीकर आज हम लोग वास्तव में अमर हो गए हैं, इसलिए सब रोगों को हरनेवाला आपका यह वचन रूप अमृत हम लोगों को बहुत ही इष्ट है।

सौधर्मेन्द्र द्वारा मार्मिक स्तुति

सौधर्मेन्द्र ने भगवान की अत्यन्त मार्मिक स्तुति की। धर्म-

1. Outlines of Jainism by Justice J. L. Jaini page XXXVIII.
2. Several thousands of palmyra manuscripts have been thrown into the Kaveri or Tungabhadra. [English Jain Gazette page 178, XVI]

साम्राज्य के स्वामी जगत्पिता जिनेन्द्र के विहार के योग्य समय को विचार कर विवेकमूर्ति सुरेन्द्र ने प्रभु के समक्ष उनके विहारार्थ इस प्रकार विनयपूर्ण निवेदन किया :—

भगवन् भव्य-सस्यानां पापावग्रहशोषिणाम् ।
धर्मामृत-प्रसेकेन त्वमेधि शरणं विभो ।।२५—२२८।।

हे भगवन् ! भव्य जीवरूपी धान्य पापरूपी अनावृष्टि अर्थात् वर्षाभाव से सूख रहे हैं । उन्हें धर्मरूपी अमृत से सींचकर आपही शरणरूप होइये ।

भव्यसार्थाधिप-प्रोद्यद्-दयाध्वजविराजितम् ।
धर्मचक्रमिदं सज्जं त्वज्जयोद्योग-साधनम् ।।२२९।।

हे भव्यवृन्द-नायक जिनेन्द्र ! हे दयाध्वज-समलंकृत देव ! आपकी विजय के उद्योग को सिद्ध करनेवाला यह धर्मचक्र तैयार है ।

निर्धूय मोहपृतनां मुक्तिमार्गोपरोधिनीम् ।
तवोपदेष्टुं सन्मार्गं कालोयं समुपस्थित ।।२३०।।

हे स्वामिन् ! मोक्षमार्ग को रोकने वाली मोह सेना का विनाश करने के पश्चात् अब आपका यह समीचीन मोक्षमार्ग के उपदेश देने का समय उपस्थित हुआ है ।

सुरेन्द्र द्वारा प्रभु के धर्मविहार हेतु प्रस्तुत किए गए प्रस्ताव में यह महत्वपूर्ण बात कही गई है, कि भगवान ने मोह की सेना का ध्वंस कर दिया है, अतएव वीतमोह जिनेन्द्र वीतरागता की प्रभावपूर्ण देशना करने में सर्वरूप से समर्थ हैं ।

विहार प्रारम्भ

इन्द्र की प्रार्थना के पश्चात् भगवान ने भव्यरूपी कमलों के कल्याणार्थ विहार प्रारम्भ किया । महापुराणकार कहते हैं :—

त्रिजगद्वल्लभः श्रीमान् भगवानादिपूरुषः ।
प्रचक्रे विजयोद्योगं धर्मचक्राधिनायकः ।।२४।।

त्रिलोकीनाथ, धर्मचक्र के स्वामी समवशरण लक्ष्मी से शोभायमान आदिपुरुष वृषभनाथ तीर्थंकर ने अधर्म पर विजय का उद्योग प्रारम्भ किया।

विहार का परिणाम

भगवान के विहार के समय पुण्य सारथि के द्वारा प्रेरित अगणित देवों का समुदाय सर्व प्रकार की श्रेष्ठ व्यवस्था निमित्त तत्पर था। तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते समय होनहार तीर्थंकर की यह विशुद्ध मनोकामना थी, कि मैं समस्त जगत् के जीवों में सच्चे धर्म की ज्योति जगाऊँ और मिथ्यात्वरूप अंधकार का क्षय करूँ, अतएव तीर्थंकर प्रकृति की परिपक्व अवस्था में जीवों के पुण्य से आकर्षित हो उन दयाध्वजधारी जिनेन्द्र ने नाना देशों को विहार द्वारा पवित्र किया। धर्मशर्माभ्युदय में कहा है —

> **अथ पुण्यैः समाकृष्टो भव्यानां निःस्पृहः प्रभुः।**
> **देशे देशे तमश्छेत्तुं व्यचरद्भानुमानिव ॥२१—१६७॥**

भव्यात्माओं के पुण्य से आकर्षित किए गए उन निस्पृह प्रभु ने सूर्य के समान नाना देशों में अंधकार का क्षय करने के लिए विहार किया।

भगवान के विहार द्वारा जीवों के त्रिविध सन्ताप अर्थात् आध्यात्मिक, अधिभौतिक एवं अधिदैविक सन्ताप दूर हो जाते थे। धर्मशर्माभ्युदय में लिखा है :—

> **यत्रातिशयसम्पन्नो विजहार जिनेश्वरः।**
> **तत्र रोग-ग्रहातंक-शोकशंकापि दुर्लभा ॥१७३॥**

चौंतीस अतिशयधारी जिनेन्द्रदेव का जहाँ-जहाँ विहार होता था, वहाँ-वहाँ रोग, अशुभ ग्रह, आतंक तथा शोक की शंका भी दुर्लभ थी अर्थात् उनका अभाव हो जाता था। परमागम में इस संसार को एक समुद्र कहा है, जो स्व-कृत-कर्मानुभावोत्थ है अर्थात् जीवों के

द्वारा स्वयं किए गए कर्मों के माहात्म्य से उत्पन्न हुआ है, अत्यन्त दुस्तर है, व्यसनरूपी भँवरों से भरा हुआ है। दोषरूपी जल-जन्तुओं से व्याप्त है, अपार है, अत्यन्त गहरा होने से उसकी थाह का पता नहीं है। वह परिग्रहधारी जीवों के द्वारा कभी भी नहीं तिरा जा सकता है—"अतार्यं ग्रंथिकात्मभिः।" उस अलौकिक महासागर के पार जाने के लिए सम्यक्ज्ञानरूपी नौका आवश्यक है—"सज्ज्ञान-नावा संतार्य।" भगवान के द्वारा आत्मज्ञान की जागृति होती थी। इससे अगणित प्राणी सम्यक्ज्ञान रूपी नौका को प्राप्त कर लेते थे।

ये तीर्थंकर परमगुरु ज्ञानामृत द्वारा सन्ताप दूर करनेवाले चन्द्र सदृश थे। भव्य जीव रूपी तृषित पृथ्वी के लिए दया रूपी जल से परिपूर्ण जलधर समान थे। भ्रम तथा मिथ्यात्व रूपी अनादि-कालीन अन्धकार का नाश करनेवाले सूर्य तुल्य प्रतीत होते थे।

समवशरण विस्तार

संसार सिन्धु में डूबते हुए जीवों की रक्षा करता हुआ यह[1] समवशरण अनुपम तथा अलौकिक जहाज समान दिखता था।

---

१ ऋषभनाथ तीर्थंकर का समवशरण द्वादश योजन विस्तारयुक्त था। शेष तीर्थंकरों का समवशरण क्रमशः आधा-आधा योजन कम विस्तार वाला था। वीर भगवान का एक योजन विस्तारयुक्त समवशरण था। निर्वाण-भक्ति में पार्श्वनाथ भगवान का समवशरण सवा योजन विस्तारयुक्त कहा है:—

समवशरणमानं योजनं द्वादशादि।
जिनपति-यदु-यावद्योजनार्धार्धहानिः॥
कथयति जिनपार्श्वे योजनैकं सपादम्।
निगदित-जिनवीरे योजनैकं प्रमाणम्॥२६॥

तिलोयपण्णत्ति में कहा है कि यह कथन अवसर्पिणीकाल की अपेक्षा है। उत्सर्पिणी काल में हीनक्रम के स्थान में विपरीत क्रम होगा। उसमें अंतिम तीर्थंकर का समवशरण द्वादश योजन प्रमाण होगा।

विहार के स्थान

भगवान ने सम्पूर्ण भव्यों को मोक्षमार्ग में लगाने की दृष्टि से धर्मतीर्थ प्रवर्तन हेतु सर्वदेशों में विहार किया था । तीर्थंकरों का विहार धर्मक्षेत्रों मे कहा गया है । हरिवंशपुराण में लिखा है :—

मध्यदेशे जिनेशेन धर्मतीर्थे प्रवर्तिते ।
सर्वेष्वपि च देशेषु तीर्थमोहो व्यवर्तत् ॥३ सर्ग—१॥

मध्यदेश मे धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के उपरांत उन वीर भगवान ने सम्पूर्ण देशों में विहार करके धर्म के विषय में अज्ञान भाव का निवारण किया था ।

भगवान ने भारतवर्ष में ही विहार नही किया था, किन्तु भारत के बाहर भी वे गए थे । उनका विहार धर्म क्षेत्र मे हुआ था । आर्यखण्ड मे यूरोप, अमेरिका, चीन, जापान आदि देशो का समावेश होता है । भगवान का समवशरण पाँच मील, पाँच फर्लांग तथा सौ गज ऊँचाई पर रहता था । ऐसी स्थिति में यह आशंका, कि म्लेच्छ समान आचरण करने वाले नामत. आर्यो की भूमि में भगवान कैसे रहते होंगे, सहज ही शान्त हो जाती है । भगवान को भूतल पर उतरने की आवश्यकता ही नही पड़ती थी । पृथ्वी चाहती थी कि देवाधिदेव के चरणस्पर्श द्वारा मै कृतार्थ हो जाऊँ, किन्तु वे भगवान भूतल का स्पर्श तक नही करते थे । इसके सिवाय एक बात और ध्यान देने की है, कि जिनेन्द्रदेव की सेवा मे संलग्न इन्द्र तथा उनके परिकर असंख्य देवो के निमित्त से सर्वप्रकार की सुव्यवस्था हो जाती थी । तीर्थंकर प्रकृति का पुण्य सामान्य नही होता । उसके समान अन्य पुण्य नही कहा गया है । वह अद्भुत है ।

विदेशो मे वीतरागता तथा अहिंसा तत्वज्ञान से संबंधित सामग्री का सद्भाव यह सूचित करता है, कि उस प्रदेश में पवित्रता का बीज बोने के लिए अवश्य धर्म-तीर्थंकर का विहार हुआ था । महापुराणकार ने कहा है :—

जगत्त्रितयनाथोपि धर्मक्षेत्रेष्वनारतम् ।
उप्त्वा सद्धर्मबीजानि न्यषिचद्धर्मवृष्टिभिः ॥४७--३२१॥

त्रिलोकीनाथ ने धर्मक्षेत्र में सद्धर्मरूपी बीज बोने के साथ ही साथ धर्मवृष्टि के द्वारा उसको सींचा भी था ।

आत्म-तत्व की लोकोत्तरता

अनादिकाल से जीव बंध मार्ग की कथा, शिक्षा, चर्या में प्रवीणता दिखाता रहा है । काम, भोग सम्बन्धी वार्ता से जगत् का निकटतम परिचय रहा है । अविभक्त (अद्वैत) आत्मा की बात उसे कठिन प्रतीत होती है । समयसार में कहा है :—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहोऽविहत्तस्स ॥४॥

सब लोगों को काम तथा भोग विषयक बंध की कथा सुनने में आई है, परिचय में आई है और अनुभव में भी आई है; इसलिए वह सुलभ है किन्तु रागादि रहित आत्मा के एकत्व की बात न कभी सुनी, न परिचय में आई और न अनुभव में आई; अतएव यह सुलभ नहीं है ।

अनादि अविद्या के कारण अपनी आत्मा सम्बन्धी वार्ता पराई सी दिखती है और अनात्म परिणति एवं जगत् के जंजाल में फँसने वाली बात मधुर लगती है । रोगी को अपथ्य आहार अच्छा लगता है । यही दशा मोह रोग से पीड़ित इस जीव की है । ऐसे रोगी की सच्ची चिकित्सा तीर्थंकर भगवान के द्वारा होती है । इसीलिए भगवान को 'भिषग्वर' अर्थात् वैद्यशिरोमणि और उनकी वाणी को 'औषधि' कहा है । भगवान ऋषभदेव एवं उनके पश्चात्कालीन शेष तीर्थंकरों ने अपनी मुक्तिदायिनी महौषधि के द्वारा जगत के मोहज्वरजनित सन्ताप को दूर किया था । इससे अगणित भव्य जीवों ने आत्म सम्बन्धी सच्ची नीरोगता (स्वस्थता) प्राप्त की ।

उपदेश का सार

संक्षेप मे भगवान के उपदेश का भाव हरिवंशपुराण में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है। आचार्य कहते हैं—जिनेन्द्रदेव ने कहा था सम्पूर्ण सुखो की खानि तुल्य धर्म है, उसे सर्वप्रकार के प्रयत्न द्वारा प्राणियो को पालना चाहिये। वह धर्म जीवो पर दया आदि मे विद्यमान है। देव समुदाय मे तथा मनुष्यो मे जो इन्द्रिय और विषय-जनित सुख प्राप्त होता है, वह सब धर्म सेउ त्पन्न हुआ है। जो कर्मक्षय से उत्पन्न आत्मा के आश्रित तथा अनन्त निर्वाण का सुख है, वह भी धर्म से ही उत्पन्न होता है। सूक्ष्म रूप से दया, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य, अमूर्च्छा (परिग्रह त्याग) मुनियो का धर्म है और स्थूल रूप से उनका पालन गृहस्थो का धर्म है। गृहस्थो का धर्म दान, पूजा, तप तथा शील इस प्रकार चतुर्विध कहा गया है। यह धर्म भोग-त्याग स्वरूप है। सम्यग्दर्शन इस धर्म का मूल है। उससे महान् ऋद्धि युक्त देवो की लक्ष्मी प्राप्त होती है। मुनि धर्म के द्वारा पुष्ट मोक्ष सुख प्राप्त होता है।

> जिनेन्द्रोऽपि जगौ धर्मः कार्यः सर्वसुखाकरः।
> प्राणिभिः सर्वयत्नेन स्थितः प्राणिदयादिषु ॥१०—४॥
> सुखं देवनिकायेषु मानुषेषु च यत्सुखं।
> इन्द्रियार्थसमुद्भूतं तत्सर्वं धर्मभव ॥५॥
> कर्मक्षयसमुद्भू तमपवर्गसुखं च यत्।
> आत्माधीनमनंतं तद् धर्मादेवोपजायते ॥६॥
> दयासत्यमथास्तेयं ब्रह्मचर्यममूर्च्छता।
> सूक्ष्मतो यतिधर्मः स्यात्स्थूलतो गृहमेधिनां।
> दानपूजातपः शीललक्षणश्च चतुर्विधः।
> त्यागजश्चैव शारीरे धर्मो गृहनिषेविणा ॥८॥
> सम्यग्दर्शनमूलोऽयं महर्द्धिकसुरश्रियं।
> ददाति यतिधर्मस्तु पुष्टो मोक्ष-सुखप्रदः ॥६॥

अबुद्धिपूर्वक क्रिया

तीर्थंकर के विहार के सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जाता है

कि भगवान भव्य जीवों के सन्ताप दूर करने के लिये जो विहार करते हैं, उस समय उनके पैरों को उठाकर डग भरते हुए गमन को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान के इस प्रकार की क्रिया का सद्भाव स्वीकार करना इच्छा के अस्तित्व का सन्देह उत्पन्न करता है ।

समाधान :—मोहनीय कर्म का अत्यन्त क्षय हो जाने से जिनेन्द्र भगवान की इच्छा का पूर्णतया अभाव हो चुका है, फिर भी उनके शरीर में जो क्रिया होती है, वह अबुद्धिपूर्वक स्वभाव से होती है । प्रवचनसार में कुन्दकुन्दस्वामी ने लिखा है कि :—

ठाण-णिसेज्ज-विहारा धम्मुवदेसो हि णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले मायाचारोव्व इच्छीणं ।।४४।।

अरहंत भगवान के अरहंत अवस्था में खड़े होना, पद्मासन से बैठना, विहार करना तथा धर्मोपदेश देना ये कार्य स्वभाव से ही पाए जाते हैं, जिस प्रकार स्त्रियों में माया का परिणाम स्वभाव से होता है । जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव की दिव्यदेशना इच्छा के बिना होती है इसी प्रकार उनके शरीर में खड़े रहना, बैठना तथा विहार करना रूप कार्य भी इच्छा के बिना ही होते हैं ।

समवशरण में प्रभु का आसन

समवशरण में विहार के पश्चात् भगवान खड्गासन में रहते हैं या उनके पद्मासन हो जाता है ?

समाधान :—समवशरण में भगवान पद्मासन से विराजमान रहते हैं । हरिवंशपुराण में लिखा है कि महावीर भगवान के दर्शनार्थ चतुरङ्ग सेना समन्वित सम्राट श्रेणिक ने सिंहासन पर विराजमान वीर भगवान के दर्शन कर उनको प्रणाम किया था । श्लोक में 'सिंहासनोपविष्टं' शब्द का अर्थ है सिंहासन पर बैठे हुए । मूल-श्लोक इस प्रकार है :—

सिंहासनोपविष्टं तं सेनया चतुरङ्गया ।
श्रेणिकोपि च संप्राप्तः प्रणनाम जिनेश्वरम् ।।२—७१।।

इस प्रकरण में यह बात भी ज्ञातव्य है कि वीर भगवान ने कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष प्राप्त किया है। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है :—

> उसहो य वासुपुज्जो णेमी पल्लकबद्धया सिद्धा ।
> काउस्सग्गेण जिणा सेसा मुत्ति समावण्णा ॥४—१२१०॥

ऋषभनाथ भगवान, वासुपूज्यस्वामी तथा नेमिनाथ भगवान ने पल्यंकबद्ध आसन से तथा शेष तीर्थंकरों ने कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष प्राप्त किया है।

शांतिनाथपुराण में लिखा है कि समवशरण में शांतिनाथ भगवान का पर्यंकासन था। कहा भी है :—

> श्रेष्ठ षष्ठोपवासेन धवलें दशमीदिने ।
> पौषमासि दिनस्यान्ते पर्यंकासनमास्थित ॥६२॥
> निर्ग्रन्थो नीरजो वीतविघ्नो विश्वैकबांधवः ।
> केवलज्ञान-साम्राज्यश्रिया शांतिमशिश्रियत् ॥६३॥

धर्मशर्माभ्युदय में लिखा है कि धर्मनाथ तीर्थंकर समवशरण में बैठे हुए थे। कहा भी है :—

> रत्नज्योतिर्भासुरे तत्र पीठे तिष्ठन् शुभ्रभामंडलस्थः ।
> क्षीराम्भोधेः सिच्यमानः पयोभिर्भूयो रेजे काञ्चनाद्राविवोच्चैः ॥२०—६॥

तिलोयपण्णत्ति के उपरोक्त कथन के प्रकाश में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि धर्मनाथ, शांतिनाथ तथा महावीर भगवान का मोक्ष कायोत्सर्ग आसन से हुआ है, किन्तु समवशरण में वे पद्मासन से विराजमान थे। अतएव केवलज्ञान होने पर समवशरण में तीर्थंकर भगवान को पद्मासन मुद्रा में विराजमान मानना उचित है। सिंहासन रूप प्रातिहार्य अरहंत भगवान के पाया जाता है, उस पर कायोत्सर्ग आसन से रहने की कल्पना उचित नहीं दिखती है। एक बात यह भी विचारणीय है; कि द्वादश सभाओं में समस्त जीव बैठे रहें और भगवान खड़े रहें, ऐसा मानने पर भक्त जीवों पर अविनय का दोष

आए विना न रहेगा । तीन लोक के नाथ खड़े रहें और उनके चरणों के आराधक जीव बैठे रहें !

ज्ञानार्णव में पिंडस्थ ध्यान के प्रकरण में सिंहासन पर पद्मासन से विराजमान जिनेन्द्रदेव के स्वरूप चिंतवन करने का कथन आया है । अतः यह बात आगम तथा युक्ति के अनुकूल है कि समवशरण में भगवान सिंहासन पर पद्मासन मुद्रा में से विराजमान रहते हैं । विहार में कायोत्सर्ग आसन रहता है; उसके पश्चात् पद्मासन हो जाता है । आसन में परिवर्तन मानने में कोई बाधा नहीं प्रतीत होती ।

आदिनाथ भगवान की आयु चौरासी लाख पूर्व प्रमाण थी । उसमें बीस लाख पूर्व कुमारकाल के, त्रेसठ लाख पूर्व राज्यकाल के, एक हजार वर्ष तपश्चरण के तथा एक सहस्र वर्ष एवं चौदह दिन कम कम एक लाख वर्ष पूर्व विहार के थे । चौदह दिन योगनिरोधके थे ।

कैलाशगिरि पर आगमन

भगवान को सिद्धालय प्राप्त करने में जब चौदह दिन शेष रहे, तब वे प्रभु कैलाशगिरि पर आ गए । कैलाशपर्वत पर प्रभु पद्मासन से विराजमान हुए ।

विविध स्वप्न-दर्शन

जिस दिन योग निरोधकर भगवान कैलाशगिरि (अष्टापद पर्वत) पर विराजमान हुए, उस दिन भरत चक्रवर्ती ने स्वप्न में देखा:—

तदा भरतराजेन्द्रो महामंदरभूधरं ।
आप्राग्भारं व्यलोकिष्ट स्वप्ने दैर्ध्येण संस्थितं ।।४७--३२२।।

महा मंदराचल (सुमेरु पर्वत) वृद्धि को प्राप्त होता हुआ प्राग्भार पृथ्वी (सिद्ध-लोक) तक पहुँच गया है ।

ऐसा कोई भी कर्म का उदय नही है जो आत्मा को आनन्द प्रदान करे, क्योकि सभी कर्म का उदय आत्मस्वरूप से विपरीत स्वभाव वाला है । इस कथन के प्रकाश मे यह बात सिद्ध होती है कि स्वभाव परिणति की उपलब्धि मे बाधक तथा विभाव परिणति के कारण होने से सभी कर्म त्यागने योग्य है । सुवर्णवर्ण के सर्प द्वारा दंश प्राप्त व्यक्ति उसी प्रकार मृत्यु के मुख मे प्रवेश करता है, जिस प्रकार श्याम सर्पराज के द्वारा काटा गया व्यक्ति भी प्राणो का त्याग करता है । इसलिए शुद्धोपयोगी ऋषिराज ऋषभदेव तीर्थकर ने दिव्य उपदेश देना बन्द कर दिया है । जितना कहना था, सब कह चुके । अन्य जीवों के उपकार हेतु यदि भगवान लगे रहे, तो वे सिद्धि वधू के स्वामी नही बन सकेंगे, इसलिए अब भगवान पूर्ण निर्मलता सम्पादन के श्रेष्ठ उद्योग में सलग्न है ।

योग-निरोधकाल

अन्य तीर्थकरों के योगनिरोध का समय एक माह पर्यत कहा गया है, इतना विशेष है कि वर्धमान भगवान ने जीवन के दो दिन शेष रहने पर योगनिरोध आरभ किया था । यही बात निर्वाण भक्ति मे इस प्रकार कही गई है :—

> आद्यश्चतुर्दशदिनैर्विनिवृत्त-योगः
> षष्ठेन निष्ठितकृतिर्जिनवर्धमान !
> शेषाविधूतघनकर्मनिबद्धपाशाः
> मासेन ते यतिवरास्त्वभवन्वियोगाः ॥२६॥

ऋषभनाथ भगवान ने मन, वचन, काय के निरोध का कार्य चौदह दिन पूर्व किया था तथा वर्धमान जिनने दो दिन पूर्व योगनिरोध किया । घनकर्म राशि के बंधन को दूर करने वाले बाईस तीर्थंकरों ने एक माह पूर्व मन, वचन, काय की बाह्य क्रिया का निरोध प्रारंभ किया था ।

समुद्घात-क्रिया

हरिवंशपुराण में लिखा है जिस समय केवली की आयु अंतर्मुहूर्त मात्र रह जाती है और गोत्र आदि अघातिया कर्मों की स्थिति भी आयु के बराबर रहती है, उस समय सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्ल ध्यान होता है। यह मन, वचन, काय की स्थूल क्रिया के नाश होने पर उस समय होता है जब स्वभाव से ही काय सम्बंधी सूक्ष्मक्रिया का अवलंबन होता है।

> अंतर्मुहुर्तशेषायुः स यदा भवतीश्वरः।
> तत्तुल्यस्थितिवेद्यादित्रितयश्च तदा पुनः ॥५६--६६॥
>
> समस्तं वाग्मनोयोगं काययोगं च बादरं।
> प्रहाप्यालंब्य सूक्ष्मं तु काययोगं स्वभावतः ॥७०॥
>
> तृतीयं शुक्लसामान्यात्प्रथमं तु विशेषतः।
> सूक्ष्मक्रियाप्रतीपाति-ध्यानमास्कंतुमर्हति ॥७१॥

तत्वार्थराजवार्तिक में अकलंक स्वामी ने लिखा है; जब संयोग केवली की आयु अंतर्मुहूर्त प्रमाण रहती है और शेष वेदनीय, नाम तथा गोत्र इन कर्मत्रय की स्थिति अधिक रहती है, उस समय आत्म उपयोग के अतिशययुक्त साम्य भाव समन्वित विशेष परिणाम सहित महासंवर वाला शीघ्र कर्मक्षय करने में समर्थ योगी शेष कर्मरूपी रेणु के विनाश करने की शक्ति युक्त स्वभाव से दंड, कपाट, प्रतर, तथा लोक पूरण रूप आत्म प्रदेशों का चार समय में विस्तार करके पश्चात् उतने ही समयों में विस्तृत आत्म प्रदेशों को संकुचित करता हुआ चारों कर्मों की स्थिति-विशेष को एक बराबर करके पूर्व शरीर बराबर परिमाण को धारण करके सूक्ष्म काययोग को धारण करता हुआ सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति नाम के ध्यान को करता है। मूलग्रंथ के शब्द इस प्रकार हैं:--"यदा पुनरंतर्मुहूर्तशेषायुष्कस्तोऽधिक-स्थितिविशेषकर्मत्र्यो भवति योगी, तदात्मोपयोगातिशयस्य सामा-यिकसहायस्य विशिष्टकरणस्य महासंवरस्य लघुकर्मपरिपाचनस्य शेषकर्मरेणु-परिशातनशक्ति-स्वाभाव्यात् दंड-कपाट-प्रतर-लोक-

पूरणानि स्वात्मप्रदेश-विसर्पणतश्चतुर्भि. समयै. कृत्वा पुनरपि तावद्भिरेव समयै समुपहृत-प्रदेश-विसरण: समी-कृत-स्थितिविशेष-कर्मचतुष्टय. पूर्वशरीरपरिमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपातिध्यान ध्यायति" (पृष्ठ ३५६, अध्याय ६ सूत्र ४४)।

महापुराण मे लिखा है :—

स हि योगनिरोधार्थं उद्यतः केवली जिनः।
समुद्घात-विधि पूर्वं आविः कुर्यान्निसर्गत' ॥२१-१८६॥

स्नातक केवली भगवान जब योगो का निरोध करने के लिए तत्पर होते हैं, तब वे उसके पूर्व ही स्वभाव से समुद्घात की विधि करते है।

समुद्घात विधि का स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—पहले समय मे उनके केवल आत्म प्रदेश चौदह राजू ऊंचे दंड के आकार होते है। दूसरे समय मे कपाट अर्थात् दरवाजे के आकार को धारण करते हैं। तृतीय समय में प्रतर रूप होते हैं। चौथे समय मे समस्त लोक मे व्याप्त हो जाते हैं। इस प्रकार वे जिनेन्द्र चार समय में समस्त लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित होते है।

आत्मा की लोक-व्यापकता

इस प्रसग मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि ब्रह्मवादी ब्रह्म को सपूर्ण जगत् मे व्याप्त मानता है। जैन दृष्टि से उसका कथन सयोगी-जिनके लोकपूरण समुद्घात काल में सत्य चरितार्थ होता है, क्योकि लोकपूरण की अवस्था मे उन जिनेन्द्र परमात्मा के आत्म प्रदेश समस्त लोक मे विस्तारवश व्याप्त होते हैं। ब्रह्मवादी सदा ब्रह्म को लोकव्यापी कहता है, इससे उसका कथन अयथार्थ हो जाता है।

लोकपूरण समुद्घात के अनतर आत्म-प्रदेश पुन प्रतर रूपता को दूसरे समय में धारण करते है। तीसरे समय मे कपाट रूप होते है तथा चौथेलसमय मे दंड रूप होते हैं और पूर्व शरीराकार हो

जाते हैं। समुद्घात क्रिया में विस्तार में चार समय तथा संकोच में चार समय अर्थात् समस्त आठ समय लगते हैं। लोकपूरण समुद्घात के समय आत्मा से प्रदेश सिद्धालय का स्पर्श करते हैं; नरक की भूमि का भी स्पर्श करते हैं तथा उन आकाश के प्रदेशों का भी स्पर्श करते हैं जिन का पंचपरावर्तन रूप संसार में परिभ्रमण करते समय इस जीव ने चौरासी लक्ष योनियों को धारण कर अपने शरीर की निवास भूमि बनाया था। अनंतानंत जीवों के भीतर भी यह योगी समा जाता है। इस कार्य के द्वारा सयोगी-जिन कर्मों की स्थिति में विषमता दूर करके उनकी आयु कर्म के बराबर शीघ्र बनाते हैं। जिस प्रकार गीले वस्त्र को ऊँचा नीचा, आड़ा तिरछा करके हिलाने से वह शीघ्र सूखता है, इसी प्रकार की क्रिया द्वारा योगी कर्मों की स्थिति तथा अशुभ कर्मों की अनुभाग शक्ति का खंडन करता है।

प्रिय उत्प्रेक्षा

लोकपूरण समुद्घात क्रिया के विषय में यह कल्पना करना प्रिय लगता है, कि समता भाव के स्वामी जिनेन्द्र सदा के लिए अपने घर सिद्धालय में जा रहे हैं, इससे वे बैर विरोध छोड़कर बिना संकोच छोटे बड़े सब से भेंट करते हुए, मिलते हुए मोक्ष जाने को तैयार हो रहे हैं।

महापुराण में लिखा है :—

तत्राघातिस्थितेर्भागान् असंख्येयाग्निहन्त्यसौ।
अनुभागस्य चानंतान् भागानशुभकर्मणाम् ॥२१--१६३॥

उस समय वे भगवान अघातिया कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को विनष्ट करते हैं। इसी प्रकार अशुभ कर्मों के अनुभाग के अनंत भागों को नष्ट करते हैं।

भगवान की महत्वपूर्ण साधना

इस प्रसंग मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ ने एकत्व-वितर्क-अवीचाररूप द्वितीय शुक्ल ध्यान के द्वारा केवलज्ञान की विभूति प्राप्त की थी। राजवार्तिक में केवली भगवान के लिए इन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, "एकत्व-वितर्क-शुक्लध्यान-वैश्वानर-निर्दग्धघातिकर्मेन्धन , प्रज्वलितकेवल-ज्ञान-गभस्तिमडल" (पृ० ३५६) अर्थात् एकत्व-वितर्क नामक शुक्ल-ध्यान रूप अग्नि के द्वारा घातिया कर्मरूपी ईन्धन का नाश करने वाले तथा प्रज्वलित केवलज्ञान रूपी सूर्ययुक्त केवली भगवान हैं।

प्रश्न

शुक्ल ध्यान का तृतीय भेद उस समय होता है, जब आयु कर्म के क्षय के लिए अतर्मुहूर्त काल शेप रहता है; अतएव प्रश्न होता है कि आठ वर्ष कुछ अधिक काल में केवली बनकर एक कोटि पूर्व काल मे से किंचित् न्यून काल छोडकर शेप काल पर्यन्त कौनसा ध्यान रहता है ?

समाधान

परमार्थ दृष्टि से 'एकाग्र-चिंता-निरोधो ध्यान' यह लक्षण सर्वज्ञ भगवान मे नही पाया जाता है। आत्म स्वरूप मे प्रतिष्ठित होते हुए भी ज्ञानावरण के क्षय होने से वे त्रिकालज्ञ भी है, अत: उनके एकाग्रता का कथन किस प्रकार सिद्ध होगा ? चिंता का भी उनके अभाव है। "चिता अत करणवृत्ति "-अतःकरण अर्थात् क्षयोपशमात्मक भाव-मन की विशेष वृत्ति चिंता है। क्षायिक केवलज्ञान होने से क्षयोपशम रूप चित्तवृत्ति का सद्भाव ही नही है, तब उसका निरोध कैसे बनेगा ? इस अपेक्षा से केवली भगवान के ध्यान नही है।

इस कथन पर पुन: शंका उत्पन्न होती है कि आगम में केवली के दो शुक्ल ध्यान क्यो कहे गए है ?

समाधान

केवली भगवान के उपचार से ध्यान कहे गए हैं । राजवार्तिक में "एकादशजिने" सूत्र की टीका में अकलंकस्वामी लिखते हैं, केवली भगवान में एकादश परीषह उपचार से पाई जाती हैं । इस विषय के स्पष्टीकरण हेतु आचार्य लिखते हैं---"यथा निरवशेषनिरस्तज्ञानावरणे परिपूर्णज्ञाने एकाग्रचिंता-निरोधाभावेपि कर्मरजो-विधूननफल-संभवात् ध्यानोपचारः तथा क्षुधादि-वेदनाभावपरीषहाऽभावेपि वेदनीयकर्मोदयद्रव्यपरीषहसद्भावात् एकादशजिने संतीति उपचारो युक्तः" (पृष्ठ ३३८, राजवार्तिक)--जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्म के पूर्ण क्षय होने से केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर एकाग्र चिंता-निरोध रूप ध्यान के अभाव होने पर भी कर्मरज के विनाशरूप फल को देखकर ध्यान का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार क्षुधा, तृषादि की वेदना-रूप भाव परीषह के अभाव होते हुए भी वेदनीय कर्मोदय द्रव्यरूप कारणात्मक परीषह के सद्भाव होने से जिन भगवान में एकादश परीषह होती हैं, ऐसा उपचार किया जाता है ।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि केवली भगवान के आयु कर्म की अंतर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहने के पूर्व ध्यान का सद्भाव नहीं कहा गया है, इसी कारण धवलाटीका में सयोगी जिनके विषय में लिखा है--- सयोगिकेवली ण किंचि कम्मं खवेदि" (पृष्ठ २२३, भाग १)---सयोगी केवली किसी कर्म का क्षय नहीं करते हैं । कर्मक्षपण कार्य का अभाव रहने से सयोगी जिन के ध्यान का अभाव है । इतना विशेष है कि अयोगी केवली होने के पूर्व सयोगी जिन अघातिरूप कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को नष्ट करते हैं तथा अशुभ कर्मों के अनुभाग को नष्ट करते हैं। उस समय उनके सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति शुक्लध्यान की पात्रता उत्पन्न होती है ।

दो आचार्य परंपराएँ

इस अवस्थावाली सभी आत्माएँ समुद्घात करती हैं, ऐसा

भगवान की महत्वपूर्ण साधना

इस प्रसग मे यह वात ध्यान देने योग्य है कि क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ ने एकत्व-वितर्क-अवीचाररूप द्वितीय शुक्ल ध्यान के द्वारा केवलज्ञान की विभूति प्राप्त की थी । राजवार्तिक में केवली भगवान के लिए इन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, "एकत्व-वितर्क-शुक्लध्यान-वैश्वानर-निर्दग्धघातिकर्मेन्धन , प्रज्वलितकेवल-ज्ञान-गभस्तिमडल " (पृ० ३५६) अर्थात् एकत्व-वितर्क नामक शुक्ल-ध्यान रूप अग्नि के द्वारा घातिया कर्मरूपी ईन्धन का नाश करने वाले तथा प्रज्वलित केवलज्ञान रूपी सूर्ययुक्त केवली भगवान हैं ।

प्रश्न

शुक्ल ध्यान का तृतीय भेद उस समय होता है, जब आयु कर्म के क्षय के लिए अतर्मुहूर्त काल शेष रहता है; अतएव प्रश्न होता है कि आठ वर्ष कुछ अधिक काल में केवली बनकर एक कोटि पूर्व काल में से किंचित् न्यून काल छोडकर शेष काल पर्यन्त कौनसा ध्यान रहता है ?

समाधान

परमार्थ दृष्टि से 'एकाग्र-चिंता-निरोधो ध्यानं' यह लक्षण सर्वज्ञ भगवान में नहीं पाया जाता है । आत्म स्वरूप मे प्रतिष्टित होते हुए भी ज्ञानावरण के क्षय होने से वे त्रिकालज्ञ भी हैं, अत. उनके एकाग्रता का कथन किस प्रकार सिद्ध होगा ? चिंता का भी उनके अभाव है । "चिंता अंत.करणवृत्ति."-अंतःकरण अर्थात् क्षयोपशमात्मक भाव-मन की विशेष वृत्ति चिंता है । क्षायिक केवलज्ञान होने से क्षयोपशम रूप चित्तवृत्ति का सद्भाव ही नही है, तब उसका निरोध कैसे बनेगा ? इस अपेक्षा से केवली भगवान के ध्यान नही है ।

इस कथन पर पुनः शंका उत्पन्न होती है कि आगम में केवली के दो शुक्ल ध्यान क्यों कहे गए है ?

समाधान

केवली भगवान के उपचार से ध्यान कहे गए हैं। राजवार्तिक में "एकादशजिने" सूत्र की टीका में अकलंकस्वामी लिखते हैं, केवली भगवान में एकादश परीषह उपचार से पाई जाती है। इस विषय के स्पष्टीकरण हेतु आचार्य लिखते हैं—"यथा निरवशेषनिरस्तज्ञानावरणे परिपूर्णज्ञाने एकाग्रचिंता-निरोधाभावेपि कर्मरजो-विधूननफल-संभवात् ध्यानोपचारः तथा क्षुधादि-वेदनाभावपरीषहाऽभावेपि वेदनीयकर्मोदयद्रव्यपरीषहसद्भावात् एकादशजिने संतीति उपचारो युक्तः" (पृष्ठ ३३८, राजवार्तिक)—जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्म के पूर्ण क्षय होने से केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर एकाग्र चिंता-निरोध रूप ध्यान के अभाव होने पर भी कर्मरज के विनाशरूप फल को देखकर ध्यान का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार क्षुधा, तृषादि की वेदना-रूप भाव परीषह के अभाव होते हुए भी वेदनीय कर्मोदय द्रव्यरूप कारणात्मक परीषह के सद्भाव होने से जिन भगवान में एकादश परीषह होती हैं, ऐसा उपचार किया जाता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि केवली भगवान के आयु कर्म की अंतर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रहने के पूर्व ध्यान का सद्भाव नहीं कहा गया है, इसी कारण धवलाटीका में सयोगी जिनके विषय में लिखा है—"सयोगिकेवली ण किंचि कम्मं खवेदि" (पृष्ठ २२३, भाग १)—सयोगी केवली किसी कर्म का क्षय नहीं करते हैं। कर्मक्षपण कार्य का अभाव रहने से सयोगी जिन के ध्यान का अभाव है। इतना विशेष है कि अयोगी केवली होने के पूर्व सयोगी जिन अघातिरूप कर्मों की स्थिति के असंख्यात भागों को नष्ट करते हैं तथा अशुभ कर्मों के अनुभाग को नष्ट करते हैं। उस समय उनके सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति शुक्लध्यान की पात्रता उत्पन्न होती है।

दो आचार्य परंपराएँ

इस अवस्थावाली सभी आत्माएँ समुद्घात करती हैं, ऐसा

आचार्य यतिवृषभ का अभिप्राय है। धवलाटीका में लिखा है—"यति-वृषभोपदेशात् सर्वाघातिकर्मणा क्षीणकषायचरमसमये स्थितेः साम्याभावात् सर्वेपि कृतसमुद्घाताः सन्तो निवृत्तिमुपढौकन्ते"—आचार्य यतिवृषभ के उपदेशानुसार क्षीणकषाय-गुणस्थान के चरम समय में सम्पूर्ण अघातिया कर्मो की स्थिति में समानता का अभाव होने से सभी केवली समुद्घातपूर्वक ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। आगे यह भी कथन किया गया है—"येषामाचार्याणा लोकव्यापि-केवलिषु विंशति-संख्यानियमस्तेषा मतेन केचित्समुद्घातयन्ति, केचिन्न समुद्घातयति। के न समुद्घातयति ? येषा संसृतिव्यक्तिः कर्मस्थित्या समाना, ते न समुद्घातयति, शेषा समुद्घातयति" (पृष्ठ ३०२, भाग १)—जिन आचार्यो ने लोकपूरण समुद्घात करनेवाले केवलियों की संख्या नियम-रूप से बीस मानी है, उनके अभिप्रायानुसार कोई जीव समुद्घात करते है और कोई समुद्घात नही करते हैं। कौन आत्माएँ समुद्घात नही करती है ? जिनके संसृति की व्यक्ति अर्थात् संसार में रहने का काल, जिसे आयु कर्म के नाम से कहते हैं, उस आयु की नाम, गोत्र तथा वेदनीय कर्मो के समान स्थिति है, वे केवली समुद्घात नही करते है, शेष केवली समुद्घात करते हैं।

अन्तिम शुक्लध्यान

समुच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति अथवा व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति ध्यान के होने पर प्राणापान अर्थात् श्वासोच्छ्वास का गमनागमन कार्य रुक जाता है। समस्त काय, वचन तथा मनोयोग निमित्त से उत्पन्न सम्पूर्ण प्रदेशों का परिस्पंद बन्द हो जाता है। इस ध्यान के होने पर परिपूर्ण संवर होता है। उस समय अठारह हजार शील के भेदों का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त होता है। चौरासी लाख उत्तर गुणों की पूर्णता भी प्राप्त होती है।

सम्यग्दर्शन का श्रेष्ठ भेद परमावगाढ़ सम्यक्त्व तो तेरहवे गुणस्थान मे प्राप्त हो गया था। ज्ञानावरण का क्षय होने से सम्यग्ज्ञान

की भी पूर्णता हो चुकी थी, फिर किंचित् न्यून एक कोटि पूर्व काल प्रमाण परिनिर्वाण अवस्था की उपलब्धि न होने का कारण परिपूर्ण चरित्र में कुछ कमी है। अयोगी जिन होते ही वह गुप्तित्रय का स्वामी हो जाता है। उस त्रिगुप्ति के प्रसाद से अयोगी जिन के उपान्त्य समय में अर्थात् अन्त के दो समयों में से प्रथम समय में साता-असाता वेदनीय में से अनुदय रूप एक वेदनीय की प्रकृति, देवगति, औदारिक वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण ये पाँच शरीर, पाँच संघात, पाँच बंधन, तीन आँगोपांग, छह संहनन, छह संस्थान, पांच वर्ण, पाँच रस, आठ स्पर्श, दो गंध, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उच्छवास, परघात, उपघात, विहायोगति-युगल, प्रत्येक, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, स्वरयुगल, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण तथा नीच गोत्र इन बहत्तर प्रकृतियों का नाश होता है।

कार्य-समयसार रुप परिणमन

अंत समय में वेदनीय की शेष बची हुई एक प्रकृति, मनुष्यगति, मनुष्यायु तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, उच्चगोत्र, यशस्कीर्ति ये बारह तथा तेरहवीं तीर्थंकर प्रकृति का भी क्षय करके 'अ इ उ ऋ लृ' इन पंचलघु अक्षरों में लगने वाले अल्पकाल के भीतर वे अयोगी जिन आत्मविकास की चरम अवस्था सिद्ध पदवी को प्राप्त करते हैं। मुनिदीक्षा लेते समय इन तीर्थंकर भगवान ने सिद्धों को प्रणाम किया था। अब ये सिद्ध परमात्मा बन गए। ये समस्त विभाव-विमुक्त हो कार्य-समयसार रूप परिणत हो गए। अब ये कृतकृत्य हो गए।

निर्वाण की वेला

महापुराण में लिखा है कि ऋषभदेव भगवान ने माघकृष्णा चतुर्दशी को सूर्योदय की वेला में पूर्वाभिमुख हो "प्राप्तपल्यंक":— पल्यंकासन को धारणकर कर्मों का नाश किया :—

शरीरत्रितयापाये प्राप्य सिद्धत्वपर्ययं ।
निजाष्टगुणसंपूर्णः क्षणावाप्त-तनुवातकः ॥४७—३४१॥

ऋषभनाथ भगवान ने औदारिक, तैजस तथा कार्माण इन तीनो शरीरो का नाशकर आत्मा के अष्ट गुणो से परिपूर्ण सिद्धत्व पर्याय प्राप्त करके क्षणमात्र मे लोक के अग्रभाग में पहुंचकर तनुवात वलय के अत को प्राप्त किया।

अब ये तीर्थंकर भगवान सिद्ध बन जाने से समस्त विकल्पो से विमुक्त हो गए। ज्ञान नेत्रो से इनका दर्शन करने पर जो स्वरूप ज्ञात होता है, उसे महापुराण मे इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है।

नित्यो निरंजनः किंचिद्नो देहादमूर्तिभाक्।
स्थितः स्वसुखसादभूतः पश्यन्विश्वमनारतम् ॥४७—३४२॥

अब ये सिद्ध भगवान नित्य, निरंजन, अतिम शरीर से किंचित् न्यूनाकार युक्त अमूर्त, आत्मा से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्द का रस पान करने वाले तथा सपूर्ण विश्व का निरन्तर अवलोकन करने वाले हो गए।

आज भगवान की श्रेष्ठ साधना परिपूर्ण हुई। दीक्षा लेते समय उन्होंने "सिद्ध नम" कहकर अपने प्राप्तव्य रूप मे सिद्धो को निश्चित किया था। आत्म-पुरुषार्थ के प्रताप से उन्होने परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त किया। इस मोक्ष के लिए इन प्रभु ने अनेक भवो मे महान् प्रयत्न किए थे। आज वे जीवन के अतिम लक्ष्य-बिंदु पर पहुँच गए। पहले उनके अतकरण मे निर्वाण प्राप्ति की प्रबल पिपासा पैदा हुई थी; पश्चात् मुक्ति के समीप आने पर उन्होने मोक्ष की इच्छा का भी परित्याग किया था।

मुक्ति की प्राप्ति के लिए निर्वाण की इच्छा भी त्याज्य मानी गई है। अकलंक स्वामी ने स्वरूप सम्बोधन में कहा है :—

मोक्षेपि यस्य नाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति।
इत्युक्तत्वात् हितान्वेषी कांक्षां न क्वापि योजयेत् ॥२१॥

जिसके मुक्ति की अभिलाषा भी नहीं है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है। इस कारण हित चाहने वाले को किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

सिद्ध कथंचित् अमुक्त हैं

भगवान मुक्त हो गए, किन्तु अनेकांत तत्वज्ञान के मर्मज्ञ आचार्य अकलंकदेव भगवान को 'अमुक्त' कहते हुए उनको किसी दृष्टि से मुक्त और किसी से अमुक्त प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं :—

मुक्ताऽमुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्ति नमामि तम् ॥१॥

जो कर्मों से रहित होने के कारण मुक्त हैं तथा ज्ञानादि आत्म गुणों के सद्भाव युक्त होने से उनसे अमुक्त हैं, अतः जो कथंचित् मुक्त और कथंचित् अमुक्त हैं, उन ज्ञानमूर्ति, क्षयरहित सिद्ध परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ।

आत्मदेव की पदवी

अब वृषभनाथ भगवान शरीर से मुक्त होने से वृषभनाथ नहीं रहे। माता मरुदेवी के उदर से जिस शरीर युक्त आत्मा का जन्म हुआ था, उसे ही ऋषभनाथ भगवान यह पूज्य नाम प्राप्त हुआ था। निर्वाण जाते समय वह शरीर यहाँ ही कैलाशगिरि पर रह गया। अब आत्मदेव अनंत सिद्धोंके साथ विराजमान हो गए। उनका संसरण अर्थात् चौरासी लाख योनियों में भ्रमण का कार्य समाप्त हो गया। विभाव विमुक्त हो, वे स्वभाव में आ गए। अब वे सचमुच में अपने आत्म-भवन के अधिवासी हो गए। व्यवहार दृष्टि से हम उनको ऋषभनाथ, तथा उनके पश्चात्वर्ती तीर्थंकरों को अजितनाथ आदि के रूप में कहते हैं, प्रणाम करते हैं और उनका गुण चिंतवन भी करते हैं, किन्तु परमार्थ रूप में उन नामों की वाच्यता से वे अतीत हो गए। अब वे शुद्ध परमात्मा हैं। अब वे आत्मदेव हैं।

'णमो सिद्धाणं'

निर्वाण कल्याणक

भगवान जिनेन्द्र ने समस्त कर्मों का नाश करके असिद्धत्व रूप औदयिक भाव विरहित सिद्ध पर्याय को मुक्त होने पर प्राप्त किया है। अयोग केवली की अवस्था मे भी असिद्धत्व भाव था। राजवार्तिक मे कहा है "कर्मोदय-सामान्यापेक्षो असिद्ध । सयोगकेवल्यपोगिकेवलिनोरघातिकर्मोदयापेक्ष." (पृ० ७६)। कर्मोदय सामान्य ी अपेक्षा यह असिद्धत्वभाव होता है। सयोग केवली तथा ायोग केवली के भी अघातिया-कर्मोदय की अपेक्षा यह असिद्धत्व माना गया है।

आगम में सपूर्ण जगत् को पुरुषाकृति सदृश माना है। उसमें सिद्ध परमेष्ठी को त्रिभुवन के मस्तक पर अवस्थित मुकुट समान बताया है। कहा भी है "तिहुयण-सिर-सेहरया सिद्धा भडारया पसीयतु" त्रिलोक के शिखर पर मुकुट समान विराजमान सिद्ध भट्टारक प्रसन्न होवे (धवलाटीका, वेदना खण्ड)।

सिद्धालय का स्वरूप

अनतानत सिद्धो ने ध्रुव, अचल तथा अनुपम गति को प्राप्त कर जिस स्थान को अपने चिरनिवास योग्य बनाया है, उसके विषय मे तिलोयपण्णत्ति में इस प्रकार कथन किया गया है :—

सर्वार्थसिद्धि इद्रक विमान के ध्वजदण्ड से द्वादश योजन मात्र ऊपर जाकर आठवी पृथ्वी स्थित है। उसके उपरिम और अध स्तन तल में से प्रत्येक का विस्तार पूर्व पश्चिम में रूप से रहित एक राजू है। वेत्रासन के सदृश वह पृथिवी उत्तर-दक्षिण भाग मे कुछ कम सात राजू लम्बी तथा आठ योजन बाहुल्य वाली है—"दक्खिण-उत्तर

भाए दीहा किंचूण-सत्तरज्जूओ"। यह पृथिवी घनोदधि, घनवात और तनुवात इन वायुओं से युक्त है। इनमें प्रत्येक वायु का बाहुल्य बीस हजार योजन प्रमाण है (८, ६५४, ति० प०)।

इसके बहुमध्य भाग में चाँदी तथा सुवर्ण समान और नाना रत्नों से परिपूर्ण ईषत्प्राग्भार नाम का क्षेत्र है।

एदाए बहुमज्झे खेत्तं णामेण ईसिपब्भारं।
अज्जुण-सुवण्ण-सरिसं णाणा-रयणेहि परिपुण्णं ॥८—६५६॥

यह क्षेत्र उत्तान अर्थात् उर्ध्वमुख युक्त धवल छत्र के समान आकार से सुन्दर और पैंतालीस लाख योजन प्रमाण विस्तार से युक्त है। उसका मध्य बाहुल्य अष्टयोजन और अंत में एक अंगुल मात्र है। अष्टमभूमि में स्थित सिद्धक्षेत्र की परिधि मनुष्य क्षेत्र की परिधि के समान है। (गाथा ६५२ से ६५८ पृ० ८६४)

तिलोयपण्णत्ति में आठवीं पृथ्वी को 'ईषत्-प्राग्भारा' नाम नहीं दिया गया है। उस पृथ्वी के मध्य में स्थित निर्वाण क्षेत्र को ईषत् प्राग्भार संज्ञा प्रदान की गई है, किन्तु त्रिलोकसार में अष्टम पृथ्वी को ईषत् प्राग्भारा कहा है।

त्रिभुवनमूर्धारूढा ईषत्–प्राग्भारा धराष्टमी रुंद्रा।
दीर्घा एकसप्तरज्जू अष्टयोजन-प्रमित-बाहुल्या ॥५५६॥

त्रिलोक के शिखर पर स्थित ईषत् प्राग्भारा नाम की आठवीं पृथ्वी है। वह एक राजू चौड़ी तथा सात राजू लम्बी और आठ योजन प्रमाण बाहुल्य युक्त है।

उस पृथ्वी के मध्य में जो सिद्ध क्षेत्र छत्राकार कहा है उसका वर्ण चाँदी का बताया है :—(१)

तन्मध्ये रूप्यमयं छत्राकारं मनुष्यमहीव्यासं।
सिद्धक्षेत्रं मध्येऽष्टवेधक्रमहीनं बाहुल्यम् ॥५५७॥

---

(१) धवल वर्ण युक्त प्रदेश में महाधवल परणति परिणत परमात्माओं का निवास पूर्णतया सुसंगत प्रतीत होता है।

उस ईषत् प्राग्भारा पृथ्वी के मध्य में चांदीमय छत्राकार पैंतालीस लाख योजन प्रमाण मनुष्य क्षेत्र के बराबर विस्तार वाला सिद्ध क्षेत्र है। उसका बाहुल्य अर्थात् मोटाई मध्य में आठ योजन प्रमाण है और अन्यत्र वह क्रम-क्रम से हीन होती गई है —

उत्तानस्थितमंते पात्रमिव तनु तदुपरि तनुवाते।
अष्टगुणाढ्या सिद्धाः तिष्ठंति अनंतसुखतृप्ताः ॥५५८॥

उस सिद्धक्षेत्र के ऊपर तनुवातवलय में अष्टगुण युक्त तथा अनंत सुख से संतुष्ट सिद्ध भगवान रहते हैं। वह सिद्धक्षेत्र अन्त में सीधे रखे गए अर्थात् ऊपर मुख वाले बर्तन के समान है।

राजवार्तिक का कथन

राजवार्तिक के अन्त में इस प्रकार वर्णन पाया जाता है।

तन्वी मनोज्ञा सुरभिः पुण्या परमभासुरा।
प्राग्भारा नाम वसुधा लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥१९॥

त्रिलोक के मस्तक पर स्थित प्राग्भारा नामकी पृथ्वी है, वह तन्वी है अर्थात् स्थूलता रहित है, मनोज्ञ है, सुगंध युक्त है पवित्र है तथा अत्यंत देदीप्यमान है।

नृलोकतुल्यविष्कंभा सितच्छत्रनिभा शुभा।
ऊर्ध्वं तस्या क्षितेः सिद्धाः लोकान्ते समवस्थिताः ॥२०॥

वह पृथ्वी नरलोक तुल्य विस्तार युक्त है। श्वेत समान तथा शुभ है। उस पृथ्वी के ऊपर लोक के अन्त भगवान विराजमान हैं।

तिलोयपण्णत्ति में कहा है :—

अट्ठम-खिदीए उवरिं पण्णास-ब्भहिय-सत्तसहस्सा।
दंडाणि गंतूणं सिद्धाणं होदि आवासो ॥९ अध्याय—३॥

आठवीं पृथ्वी के ऊपर सात हजार पचास धनुष जाकर सिद्धों का आवास है।

सिद्धों की अवगाहना

सिद्धों की अवगाहना अर्थात् शरीर की ऊँचाई उत्कृष्ट पाँच सौ पच्चीस धनुष और जघन्य साढ़े तीन हाथ प्रमाण कही गई है।

तिलोयपण्णत्ति में यह भी कहा है :—

दीहत्तं बाहल्लं चरिमभवे जस्स जारिसं ठाणं।
तत्तो तिभागहीणं ओगाहण सव्वसिद्धाणं ॥९—१०॥

अंतिम भव में जिसका जैसा आकार, दीर्घता तथा बाहुल्य हो, उससे तृतीय भाग से कम सब सिद्धों की अवगाहना होती है।

उक्त ग्रंथ में ग्रंथान्तर का यह कथन दिया गया है :—

लोय-विणिच्छयगंथे लोयविभागम्मि सव्वसिद्धाणं।
ओगाहणपरिमाणं भणिदं किंचूण चरिमदेहसमो ॥९—९॥

लोक-विनिश्चय ग्रंथ में लोकविभाग में सब सिद्धों की अवगाहना का प्रमाण कुछ कम चरम शरीर के समान कहा है।

आदिपुराण में भगवान के निर्वाण का वर्णन करते हुए किंचित् ऊनो देहात् (४७—३४२) चरम शरीर से किंचित् ऊन आकार कहा है।

द्रव्यसंग्रह में भी भगवान सिद्ध परमेष्ठी को चरम शरीर से किंचित् ऊन कहा है, यथा :—

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरम देहदो सिद्धा।
लोयग्ग-ठिदा णिच्चा उप्पाद-वयेहिं संजुत्ता ॥१४॥

सिद्ध भगवान कर्मों से रहित हैं, अष्टगुण समन्वित हैं। चरम शरीर से किंचित् न्यून प्रमाण हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित तथा उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यपने से युक्त हैं।

इस प्रकार भगवान का शरीर चरम शरीर से किंचित् न्यून प्रमाण सर्वत्र कहा गया है, क्योंकि शरीर की अवगाहना को हीनाधिक करने वाले कर्म का क्षय हो चुका है। ऐसी स्थिति में

सिद्धालय में निगोदिया

सिद्धलोक में सभी सिद्ध जीवों का ही निवास है, ऐसा सामान्यतया समझा जाता है, किन्तु आगम के प्रकाश में यह भी ज्ञात होता है कि अनन्तानत सूक्ष्म निगोदिया जीव सर्वत्र लोक मे भरे हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड मे कहा है "सव्वत्थ णिरतरा सुहुमा" (१८४) सूक्ष्म जीव सर्वत्र निरन्तर भरे हे । सस्कृत टीका मे लिखा है, "सर्वलोके जले स्थले आकाशे वा निरतरा आधारानपेक्षितशरीरा. जीवा: सूक्ष्मा भवति" (पृ० ४१६) ।

अत. वे जीव सिद्धालय मे भी भरे हुए हैं । इससे यह सोचना कि उन निगोदिया जीवो को कुछ विशेष सुख की प्राप्ति होगी, अनुचित है; क्योकि प्रत्येक जीव सुख दु.ख का सवेदन अपने कर्मोदय के अनुसार करता है । इस नियम के अनुसार निगोदिया जीव कर्माष्टिक के द्वारा कष्टो के समुद्र मे डूबे रहते है और उसी आकाश के क्षेत्र मे विद्यमान आत्मप्रदेशवाले सिद्धभगवान आत्मोत्थ, परमशुद्ध, निराबाध आनन्द का अनुभव करते हे । अक्षर के अनतवे भाग ज्ञानवाली तथा अनतज्ञान वाली शुद्धात्मा एक ही स्थान पर निवास करती है ।

स्याद्वाद दृष्टि

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा निगोदिया जीव भी सिद्धों के समान कहे जाते हैं, किन्तु परमागम मे जिनेन्द्रदेव ने पर्यायदृष्टि का भी प्रतिपादन किया है । उसकी अपेक्षा दोनो का अंतर स्पष्ट है । मूल से एकान्तपक्षी विकारयुक्त दृष्टि के कारण सर्वथा सब जीवो को सिद्ध समान समझ बैठते हैं और धर्माचरण मे प्रमादपूर्ण बन जाते हैं । स्याद्वाद दृष्टि का आश्रय लिए बिना यथार्थ रहस्य ज्ञात नही हो पाता है ।

सिद्धों द्वारा लोक कल्याण

प्रश्न—कोई यह सोच सकता है कि भगवान में अनतज्ञान

है, अनन्तशक्ति है, और भी अनन्त गुण उनमें विद्यमान हैं । यदि वे दुःखी जीवों के हितार्थ कुछ कृपा करें, तो जीवों को बड़ी शान्ति मिलेगी ।

समाधान—वस्तु का स्वभाव हमारी कल्पना के अनुसार नहीं बदलता है । पदार्थ के स्वभाव को स्वाश्रित कहा है । बीज के दग्ध हो जाने पर पुनः अंकुरोत्पादन कार्य नहीं होता है, इसी प्रकार कर्म के बीज रूप राग-द्वेष भावों का सर्वथा क्षय हो जाने से पुनः लोक कल्याणार्थ प्रवृत्ति के प्रेरक कर्मों का भी अभाव हो गया है । अब वे वीतराग हो गए हैं ।

आचार्य अकलंकदेव ने राजवार्तिक में एक सुन्दर चर्चा की है । शंकाकार कहता है—"स्यात् एतत् व्यसनार्णवे निमग्नं जगदशेष जानतः पश्यतश्च कारुण्यमुत्पद्यते ।" सम्पूर्ण जगत् को दुःख के सागर में निमग्न जानते तथा देखते हुए सिद्ध भगवान के करुणाभाव उत्पन्न होता होगा । शंकाकार का भाव यह है कि अन्य सम्प्रदाय में परमात्मा जीवों के हितार्थ संसार में आता है । ऐसा ही सिद्ध भगवान करते होंगे । "ततश्च बंधः"—जब भगवान के मन में करुणाभाव इस प्रकार उत्पन्न होगा, तो वे बंध को भी प्राप्त होंगे ।

समाधान—"तन्न, किं कारणं? सर्वास्रव-परिक्षयात् । भक्ति-स्नेह-कृपा-स्पृहादीनां रागविकल्पत्वाद्वीतरागे न ते सन्तीति" (पृष्ठ ३६२, ३६३—१०—४) । ऐसा नहीं है, कारण भगवान के सर्व कर्मों का आस्रव बंद हो गया है । भक्ति, स्नेह, कृपा, इच्छा आदि राग भाव के ही भेद हैं । वीतराग प्रभु में उनका सद्भाव नहीं है ।

[illegible]गमन का अभाव

प्रश्न—यदि भगवान कुछ काल पर्यन्त मोक्ष में रहकर [illegible] में आ जावें, तो क्या बाधा है ?

तिलोयपण्णत्ति मे कहे गए सिद्धान्त का, कि अंतिम शरीर से एक तृतीयाँश भाग न्यून प्रमाण सिद्धों की अवगाहना रहती है, रहस्य विचारणीय है ।

समाधान

सपूर्ण दृश्यमान शरीर की अवगाहना को लक्ष्य में रखकर किंचित् ऊन चरम शरीर प्रमाण कथन किया गया है । सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर ज्ञात होगा कि शरीर के भीतर मुख, उदर आदि मे जीव-प्रदेश शून्य भाग भी है, उसको घटाने पर शरीर का घनफल एक तृतीय भाग न्यून होगा, यह अभिप्राय तिलोयपण्णत्तिकार का प्रतीत होता है । इस दृष्टि से उपरोक्त कथनो मे समन्वय करना सयुक्तिक प्रतीत होता है । स्व आत्मा के प्रदेशो मे, शुद्ध दृष्टि से, उनका निवास कहा जा सकता है । गुणी आत्मा अपने अनत गुणो में विद्यमान है, अतएव सिद्धों की आत्मा की अवगाहना ही यथार्थ मे ब्रह्म लोक है ।

ब्रह्म-लोक

व्यवहार दृष्टि से आकाश के जिन प्रदेशो मे नित्य, निरंजन सकलज्ञ सिद्धो का निवास है, वह ब्रह्म-लोक है । इसके सिवाय और कोई ब्रह्मलोक नही है । शुद्ध आत्मा का वाचक ब्रह्म शब्द है । उस शुद्ध आत्मा के निवास का स्थल ब्रह्मलोक है । उस ब्रह्मलोक मे स्थित प्रभु के ज्ञान मे लोकालोक के पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं ।

निर्मलता तथा सर्वज्ञता

आत्मा की निर्मलता का सकलज्ञता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसी भ्रान्त आत्मा को परमात्मप्रकाश का यह दोहा महत्व पूर्ण प्रकाश प्रदान करता है —

तारायणु जलि बिंबियउ, णिम्मलि दीसइ जेम ।
अप्पए णिम्मलि बिंबियउ, लोयालोउवि तेम ।।१०३।।

निर्मल जल में तारागण का प्रतिबिंब बिना प्रयत्न के स्वयमेव दृष्टिगोचर होता है, इसी प्रकार रागादि मल रहित निर्मल आत्मा में लोक तथा अलोक स्वयमेव प्रतिबिंबित होते हैं। इसके लिए उन प्रभु को कोई उद्योग नहीं करना पड़ता है।

शिवादि पद वाच्यता

इन मुक्ति प्राप्त आत्माओं को ही जैन धर्म में शिव, विष्णु आदि शब्दों के द्वारा वाच्य माना है। ब्रह्मदेव सूरि का यह कथन महत्वपूर्ण है, "व्यक्तिरूपेण पुनर्भगवान् अर्हन्नेव मुक्तिगत-सिद्धात्मा-वा परमब्रह्मा विष्णुः शिवो वा भण्यते। यत्रासौ मुक्तात्मा लोकाग्रे तिष्ठति स एव ब्रह्मलोकः स एव विष्णुलोकः स एव शिवलोको नान्यः कोपीति भावार्थः (परमात्मप्रकाश पृ० ११३)

सिद्ध का अर्थ

लोक में किसी तपस्वी कुशल साधु को देखकर उसे सिद्ध-पुरुष कह दिया जाता है। काव्यग्रंथों में किन्हीं देवताओं का नाम सिद्ध रूप से उल्लेख किया जाता है। इनसे सिद्ध भगवान सर्वथा भिन्न हैं। उक्त व्यक्ति जन्म, जरा, मृत्यु के चक्र से नहीं बचे हैं; किन्तु सिद्ध भगवान इस महा व्याधि से सदा के लिए मुक्त हो चुके हैं।

भ्रम निवारण

कोई यह सोचते हैं कि सिद्ध भगवान के द्वारा जगत् के भव्यों के हितार्थ कुछ संपर्क रखा जाता है। वे संदेश भी भेजते हैं। यह धारणा जैनागम के प्रतिकूल है। पुद्गलात्मक शरीर रहित होने से उन अशरीरी आत्म-द्रव्य सिद्ध भगवान् का पुद्गल से सम्बन्ध नहीं रहता है, अतः उसके माध्यम द्वारा संदेशादि प्रसारित करना कल्पना मात्र है। वे भव्यों के लिए आदर्श रूप हैं।

सिद्धालय में निगोदिया

सिद्धलोक में सभी सिद्ध जीवों का ही निवास है, ऐसा सामान्यतया समझा जाता है, किन्तु आगम के प्रकाश में यह भी ज्ञात होता है कि अनन्तानत सूक्ष्म निगोदिया जीव सर्वत्र लोक मे भरे हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड मे कहा है "सव्वत्थ णिरंतरा सुहुमा" (१८४) सूक्ष्म जीव सर्वत्र निरन्तर भरे है। सस्कृत टीका मे लिखा है, "सर्व-लोके जले स्थले आकाशे वा निरतरा आधारानपेक्षितशरीराः जीवाः सूक्ष्मा भवति" (पृ० ४१६)।

अत. वे जीव सिद्धालय मे भी भरे हुए है। इससे यह सोचना कि उन निगोदिया जीवो को कुछ विशेष सुख की प्राप्ति होगी, अनुचित है; क्योकि प्रत्येक जीव सुख दुःख का सवेदन अपने कर्मोदय के अनुसार करता है। इस नियम के अनुसार निगोदिया जीव कर्माष्टक के द्वारा कष्टो के समुद्र मे डूबे रहते है और उसी आकाश के क्षेत्र मे विद्यमान आत्मप्रदेशवाले सिद्धभगवान आत्मोत्थ, परमसुख, निराबाध आनन्द का अनुभव करते है। अक्षर के अनतवे भाग ज्ञानवाली तथा अनतज्ञान वाली शुद्धात्मा एक ही स्थान पर निवास करती है।

स्याद्वाद दृष्टि

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा निगोदिया जीव भी सिद्धों के समान कहे जाते है, किन्तु परमागम में जिनेन्द्रदेव ने पर्यायदृष्टि का भी प्रतिपादन किया है। उसकी अपेक्षा दोनों का अतर स्पष्ट है। भूल से एकान्तपक्षी विकारयुक्त दृष्टि के कारण सर्वथा सब जीवो को सिद्ध समान समझ बैठते है और धर्माचरण मे प्रमादपूर्ण बन जाते है। स्याद्वाद दृष्टि का आश्रय लिए बिना यथार्थ रहस्य ज्ञात नही हो पाता है।

सिद्धों द्वारा लोक कल्याण

प्रश्न—कोई यह सोच सकता है कि भगवान में अनंतज्ञान

है, अनन्तशक्ति है, और भी अनन्त गुण उनमें विद्यमान हैं। यदि वे दु:खी जीवों के हितार्थ कुछ कृपा करें, तो जीवों को बड़ी शान्ति मिलेगी।

समाधान—वस्तु का स्वभाव हमारी कल्पना के अनुसार नहीं बदलता है। पदार्थ के स्वभाव को स्वाश्रित कहा है। बीज के दग्ध हो जाने पर पुनः अंकुरोत्पादन कार्य नहीं होता है, इसी प्रकार कर्म के बीज रूप राग-द्वेष भावों का सर्वथा क्षय हो जाने से पुनः लोक कल्याणार्थ प्रवृत्ति के प्रेरक कर्मों का भी अभाव हो गया है। अब वे वीतराग हो गए हैं।

आचार्य अकलंकदेव ने राजवार्तिक में एक सुन्दर चर्चा की है। शंकाकार कहता है—"स्यात् एतत् व्यसनार्णवे निमग्नं जगदशेष जानतः पश्यतश्च कारुण्यमुत्पद्यते।" सम्पूर्ण जगत् को दु:ख के सागर में निमग्न जानते तथा देखते हुए सिद्ध भगवान के करुणाभाव उत्पन्न होता होगा। शंकाकार का भाव यह है कि अन्य सम्प्रदाय में परमात्मा जीवों के हितार्थ संसार में आता है। ऐसा ही सिद्ध भगवान करते होंगे। "ततश्च बंधः"—जब भगवान के मन में करुणाभाव इस प्रकार उत्पन्न होगा, तो वे बंध को भी प्राप्त होंगे।

समाधान—"तन्न, किं कारणं? सर्वास्रव-परिक्षयात्। भक्ति-स्नेह-कृपा-स्पृहादीनां रागविकल्पत्वाद्वीतरागे न ते संतीति" (पृष्ठ ३६२, ३६३—१०—४)। ऐसा नहीं है, कारण भगवान के सर्व कर्मों का आस्रव बंद हो गया है। भक्ति, स्नेह, कृपा, इच्छा आदि राग भाव के ही भेद हैं। वीतराग प्रभु में उनका सद्भाव नहीं है।

पुनरागमन का अभाव

प्रश्न—यदि भगवान कुछ काल पर्यन्त मोक्ष में रहकर पुनः संसार में आ जावें, तो क्या बाधा है?

सिद्धालय में निगोदिया

सिद्धलोक में सभी सिद्ध जीवों का ही निवास है, ऐसा सामान्यतया समझा जाता है, किन्तु आगम के प्रकाश में यह भी ज्ञात होता है कि अनन्तानत सूक्ष्म निगोदिया जीव सर्वत्र लोक में भरे हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा है "सव्वत्थ णिरंतरा सुहुमा" (१८४) सूक्ष्म जीव सर्वत्र निरन्तर भरे हैं। संस्कृत टीका में लिखा है, "सर्वलोके जले स्थले आकाशे वा निरतरा आधारानपेक्षितशरीरा: जीवा: सूक्ष्मा भवति" (पृ० ४११)।

अत: वे जीव सिद्धालय में भी भरे हुए हैं। इससे यह सोचना कि उन निगोदिया जीवों को कुछ विशेष सुख की प्राप्ति होगी, अनुचित है, क्योंकि प्रत्येक जीव सुख दु:ख का संवेदन अपने कर्मोदय के अनुसार करता है। इस नियम के अनुसार निगोदिया जीव कर्माष्टक के द्वारा कष्टों के समुद्र में डूबे रहते हैं और उसी आकाश के क्षेत्र में विद्यमान आत्मप्रदेशवाले सिद्धभगवान आत्मोत्थ, परमशुद्ध, निराबाध आनन्द का अनुभव करते हैं। अक्षर के अनतवें भाग ज्ञानवाली तथा अनतज्ञान वाली शुद्धात्मा एक ही स्थान पर निवास करती हैं।

स्याद्वाद दृष्टि

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा निगोदिया जीव भी सिद्धों के समान कहे जाते हैं, किन्तु परमागम में जिनेन्द्रदेव ने पर्यायदृष्टि का भी प्रतिपादन किया है। उसकी अपेक्षा दोनों का अंतर स्पष्ट है। भूल से एकान्तपक्षी विकारयुक्त दृष्टि के कारण सर्वथा सब जीवों को सिद्ध समान समझ बैठते हैं और धर्माचरण में प्रमादपूर्ण बन जाते हैं। स्याद्वाद दृष्टि का आश्रय लिए बिना यथार्थ रहस्य ज्ञात नहीं हो पाता है।

सिद्धों द्वारा लोक कल्याण

प्रश्न—कोई यह सोच सकता है कि भगवान में अनतज्ञान

है, अनन्तशक्ति है, और भी अनन्त गुण उनमें विद्यमान हैं। यदि वे दुःखी जीवों के हितार्थ कुछ कृपा करें, तो जीवों को बड़ी शान्ति मिलेगी।

समाधान—वस्तु का स्वभाव हमारी कल्पना के अनुसार नहीं बदलता है। पदार्थ के स्वभाव को स्वाश्रित कहा है। बीज के दग्ध हो जाने पर पुनः अंकुरोत्पादन कार्य नहीं होता है, इसी प्रकार कर्म के बीज रूप राग-द्वेष भावों का सर्वथा क्षय हो जाने से पुनः लोक कल्याणार्थ प्रवृत्ति के प्रेरक कर्मों का भी अभाव हो गया है। अब वे वीतराग हो गए हैं।

आचार्य अकलंकदेव ने राजवार्तिक में एक सुन्दर चर्चा की है। शंकाकार कहता है—"स्यात् एतत् व्यसनार्णवे निमग्नं जगदशेषं जानतः पश्यतश्च कारुण्यमुत्पद्यते।" सम्पूर्ण जगत् को दुःख के सागर में निमग्न जानते तथा देखते हुए सिद्ध भगवान के करुणाभाव उत्पन्न होता होगा। शंकाकार का भाव यह है कि अन्य सम्प्रदाय में परमात्मा जीवों के हितार्थ संसार में आता है। ऐसा ही सिद्ध भगवान करते होंगे। "ततश्च बंधः"—जब भगवान के मन में करुणाभाव इस प्रकार उत्पन्न होगा, तो वे बंध को भी प्राप्त होंगे।

समाधान—"तन्न, किं कारणं? सर्वास्रव-परिक्षयात्। भक्ति-स्नेह-कृपा-स्पृहादीनां रागविकल्पत्वाद्वीतरागे न ते संतीति" (पृष्ठ ३६२, ३६३—१०—४)। ऐसा नहीं है, कारण भगवान के सर्व कर्मों का आस्रव बंद हो गया है। भक्ति, स्नेह, कृपा, इच्छा आदि राग भाव के ही भेद हैं। वीतराग प्रभु में उनका सद्भाव नहीं है।

पुनरागमन का अभाव

प्रश्न—यदि भगवान कुछ काल पर्यन्त मोक्ष में रहकर पुनः संसार में आ जावें, तो क्या बाधा है?

समाधान—गभीर चिंतन से पता चलेगा, कि अपने ज्ञान द्वारा जब परमात्मा यह जानते है, कि मै राग, द्वेष, मोहादि शत्रुओं के द्वारा अनत दु.ख भोग चुका हूँ, तब वे सर्वज्ञ, समर्थ तथा आत्मानन्द का रस पान करने वाले योगेश्वर परमात्मा क्यो पाप-पक में डूबने का विचार करेंगे ? अपनी भूल के कारण पजर-बद्ध बुद्धिमान पक्षी भी एक बार पिंजरे से छूटकर स्वतन्त्रता का उपभोग छोड़कर पुनः पिंजरे मे आने का प्रयत्न नही करेगा ? तब निर्विकार, वीतराग, सर्वज्ञ, परमात्मा अपनी स्वतत्रता को छोड़कर पुन. माता के गर्भ मे आकर अत्यत मलिन मानव शरीर धारण करने की कल्पना भी करेगा; यह विचार मनोविज्ञान तथा स्वस्थ विचारधारा के पूर्णतया विरुद्ध होगा ।

उनका कार्य

प्रश्न—सिद्ध पर्याय प्राप्त करने पर वे भगवान अनंतकाल पर्यन्त क्या कार्य करते हैं ?

उत्तर—भगवान अब कृतकृत्य हो चुके । उन्हे कोई काम करना बाकी नही रहा है । सर्वज्ञ होने से ससार का चिरकाल चलने वाला विविध रसमय नाटक उनके सदा ज्ञानगोचर होता रहता है । उनके समान ही शुद्धोपयोग वाला तथा गुण वाला जीव विभाव का आश्रय ले चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता हुआ अनंत प्रकार का अभिनय करता है । विश्व के रग मंच पर चलने वाले इस महा-नाटक का ये महाप्रभु निर्विकार भाव से प्रेक्षण करते हुए अपनी आत्मानुभूति का रस पान करते रहते हैं । 'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रस लीन ।'

परम समाधि में निमग्नता

एक बात और यह है । सिद्ध भगवान योगीन्द्रों के भी परम आराध्य हैं । योगी जन समाधि के परम अनुरागी रहते हैं । जितना

महान तथा उच्च योगी होगा, उसकी समाधि उसी प्रकार की रहेगी। योगी यदि सर्वोच्च है, तथा पूर्ण समर्थ हैं, तो उनकी समाधि भी श्रेष्ठ रहेगी। सिद्ध भगवान परम समाधि में सर्वदा निमग्न रहते हैं। उनकी आत्म-समाधि कभी भी भंग न होगी, कारण अब क्षुधा, तृषादि की व्यथा का क्षय हो गया। भौतिक जड़ शरीर भी अब नहीं है। अब वे ज्ञान-शरीरी बन गए हैं। इस शुद्ध आत्म-समाधि में उन्हें अनंत तथा अक्षय आनन्द प्राप्त होता है। उस परब्रह्म समाधि में निमग्न रहने से उनमें बहिर्मुखी वृत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है।

जब तक ऋषभनाथ भगवान सयोगी तथा अयोगी जिन थे, तब तक वे सकल (शरीर) परमात्मा थे। उनके भव्यत्व नामका पारिणामिक भाव था। जिस क्षण वे सिद्ध भगवान हुए उसी समय वे नि-कल परमात्मा हो गए। भव्यत्व भाव भी दूर हो गया। अभव्य तो वे थे ही नहीं। भव्यपना विद्यमान था, वह भी दूर हो गया। इससे वे अभव्य-भव्य विकल्प से भी विमुक्त हो गए। कैलाशगिरि से एक समय में ही ऋजुगति द्वारा उर्ध्वगमन करके आदि भगवान सिद्धभूमि में पहुँच गए। वहां वे अनंत सिद्धों के समूह में सम्मिलित हो गए। वहां उनका व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता है। वेदान्ती मानते हैं ब्रह्मदर्शन के पश्चात् जीव परम ब्रह्म में विलीन होकर स्वयं के अस्तित्व से शून्य होता है। सर्वज्ञ प्रणीत परमागम कहता है, कि सत् का नाश नहीं होता; अतएव सिद्ध भगवान स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल तथा स्वभाव में अवस्थित रहते हैं।

साम्यता

इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने की है, कि सिद्ध भगवान सभी समान हैं। अनंत प्रकार के जो संसारी जीवों में कर्मकृत भेद पाए जाते हैं, उनका वहां अभाव है। सभी सिद्ध परमात्मा एक से हैं, एक नहीं हैं। उनमें सादृश्य है, एकत्व नहीं है। कोई कोई संप्रदाय मुक्ति प्राप्त करने वालों का ब्रह्म में विलीन होना मानकर एक ब्रह्म

कहते हैं । स्याद्वाद शासन बताता है कि एक ब्रह्म की कल्पना अपरमार्थ है । एक के स्थान मे एक सदृश अथवा एक से कहना परमार्थ कथन हो जाता है । सिद्धालय मे मुक्त जीवो का पूर्णतया साम्यवाद है । इस आध्यात्मिक साम्यवाद मे स्वाधीनता है ।

निगोदिया जीवों में साम्यवाद

सिद्ध भूमि मे पापात्माओ का भी साम्यवाद है । वहाँ रहने वाले अनतानत निगोदिया जीव दु ख तथा आत्म गुणो के ह्रास की अवस्था मे सभी समानता धारण करते हैं । पुण्यात्माओ का साम्यवाद सर्वार्थसिद्धि के देवो मे है । प्रत्येक प्राणी को अपनी शक्तिभर आध्यात्मिक साम्यवादी सिद्धो सदृश बनने का यविशुद्ध यत्न करना चाहिए ।

अद्वैत अवस्था

जब जीव कर्मो का नाश करके शुद्धावस्था युक्त निकल, परमात्मा बन जाता है, तब उसकी अद्वैत अवस्था हो जाती है । आत्मा अपने एकत्व को प्राप्त करता है और कर्म रूपी माया-जाल से मुक्त हो जाता है । मुक्तात्मा की अपेक्षा यह अद्वैत अवस्था है । इस तत्व को जगत् भर मे लगाकर सभी को अद्वैत के भीतर समाविष्ट मानना एकान्त मान्यता है । सिद्ध भगवान बधन रूप द्वैत अवस्था से छूटकर आत्मा की अपेक्षा अद्वैत पदवी को प्राप्त हो गए है । इस प्रकार का अद्वैत स्याद्वाद शासन स्वीकार करता है । यह अद्वैत अन्य द्वैत का विरोधक नही है । जो अद्वैत समस्त द्वैत के विनाश को केन्द्र बिन्दु बनाता है, वह स्वय शून्यता को प्राप्त होता है ।

अनंतपना

अनत गुण युक्त होने से सिद्ध भगवान को 'अनत' भी कहते हैं । वे द्रव्य की अपेक्षा एक है । वे ही गुणो की दृष्टि से अनंत है ।

कवि गण कल्पना द्वारा जिस अनंत की स्तुति करते हैं, वह अनंत सिद्ध भगवान रूप है।

भगवान तो कर्मों का विनाश होते ही सिद्ध परमात्मा हो गए। अतः अब कैलाशगिरि पर ऋषभनाथ प्रभु का दर्शन नहीं होता है। अब वे चिरकाल के लिए इन्द्रियों के अगोचर हो गए। गोम्मट-सार कर्मकांड की टीका में लिखा है—अयोगे मरणं कृत्वा भव्याः यांतिशिवालयं। (पृ० ७६२, गाथा ५५६)।

मोक्ष-कल्याणक की विधि

अब भगवान शिवालय में विराजमान हैं और उनका चैतन्य शून्य शरीर मात्र अष्टापद गिरि पर दृष्टिगोचर होता है। भगवान के निर्वाण होने की वार्ता विदित कर इन्द्र निर्वाण कल्याणक की विधि सम्पन्न करने को वहाँ आए। मोही व्यक्ति उस प्राणहीन देह को शव मान व्यथित होते थे, क्योंकि वे इस तत्व से अपरिचित थे कि भगवान की मृत्यु नहीं हुई। वे तो अजर तथा अमर हो गए। वे परम शिव हो गए।

मृत्यु की मृत्यु

यथार्थ में उन प्रभु ने मृत्यु के कारण कर्म का क्षय किया है अतएव यह कहना अधिक सत्य है कि आज मृत्यु की मृत्यु हुई है। भगवान ने मृत्यु को जीतकर अमृत्यु अर्थात् अमृतत्व की स्थिति प्राप्त की है। उस समय देव देवेन्द्रों ने आकर निर्वाणोत्सव किया।

भरत का मोह

महाज्ञानी चक्रवर्ती भरत को मोहनीय कर्म ने घेर लिया। उनके क्षेत्र से अश्रुधारा बह रही थी। सभवतः उन्होंने भगवान के शिवगमन को अपने पिता की मृत्यु के रूप में सोचा। भरत की मनोवेदना कौन कह सकता है? चक्रवर्ती की दृष्टि में भगवान के अनन्त उपकार

कहते है । स्याद्वाद शासन बताता है कि एक ब्रह्म की कल्पना अपरमार्थ है । एक के स्थान मे एक सदृश अथवा एक से कहना परमार्थ कथन हो जाता है । सिद्धालय में मुक्त जीवो का पूर्णतया साम्यवाद है । इस आध्यात्मिक साम्यवाद में स्वाधीनता है ।

निगोदिया जीवों में साम्यवाद

सिद्ध भूमि मे पापात्माओ का भी साम्यवाद है । वहाँ रहने वाले अनतानत निगोदिया जीव दु ख तथा आत्म गुणो के ह्रास की अवस्था मे सभी समानत धारण करते हैं । पुण्यात्माओ का साम्यवाद सर्वार्थसिद्धि के देवो मे है । प्रत्येक प्राणी को अपनी शक्तिभर आध्यात्मिक साम्यवादी सिद्धो सदृश बनने का अविशुद्ध यत्न करना चाहिए ।

अद्वैत अवस्था

जब जीव कर्मो का नाश करके शुद्धावस्था युक्त निकल, परमात्मा बन जाता है, तब उसकी अद्वैत अवस्था हो जाती है । आत्मा अपने एकत्व को प्राप्त करता है और कर्म रूपी माया-जाल से मुक्त हो जाता है । मुक्तात्मा की अपेक्षा यह अद्वैत अवस्था है । इस तत्व को जगत् भर मे लगाकर सभी को अद्वैत के भीतर समाविष्ट मानना एकान्त मान्यता है । सिद्ध भगवान बधन रूप द्वैत अवस्था से छूटकर आत्मा की अपेक्षा अद्वैत पदवी को प्राप्त हो गए है । इस प्रकार का अद्वैत स्याद्वाद शासन स्वीकार करता है । यह अद्वैत अन्य द्वैत का विरोधक नही है । जो अद्वैत समस्त द्वैत के विनाश को केन्द्र बिन्दु बनाता है, वह स्वय शून्यता को प्राप्त होता है ।

अनंतपना

अनत गुण युक्त होने से सिद्ध भगवान को 'अनंत' भी कहते हैं । वे द्रव्य की अपेक्षा एक है । वे ही गुणो की दृष्टि से अनंत हैं ।

कवि गण कल्पना द्वारा जिस अनंत की स्तुति करते हैं, वह अनंत सिद्ध भगवान रूप है।

भगवान तो कर्मों का विनाश होते ही सिद्ध परमात्मा हो गए। अतः अब कैलाशगिरि पर ऋषभनाथ प्रभु का दर्शन नहीं होता है। अब वे चिरकाल के लिए इन्द्रियों के अगोचर हो गए। गोम्मट-सार कर्मकांड की टीका में लिखा है—अयोगे मरणं कृत्वा भव्याः यांतिशिवालयं । (पृ० ७६२, गाथा ५५६)।

मोक्ष-कल्याणक की विधि

अब भगवान शिवालय में विराजमान हैं और उनका चैतन्य शून्य शरीर मात्र अष्टापद गिरि पर दृष्टिगोचर होता है। भगवान के निर्वाण होने की वार्ता विदित कर इन्द्र निर्वाण कल्याणक की विधि सम्पन्न करने को वहाँ आए। मोही व्यक्ति उस प्राणहीन देह को शव मान व्यथित होते थे, क्योंकि वे इस तत्व से अपरिचित थे कि भगवान की मृत्यु नहीं हुई। वे तो अजर तथा अमर हो गए। वे परम शिव हो गए।

मृत्यु की मृत्यु

यथार्थ में उन प्रभु ने मृत्यु के कारण कर्म का क्षय किया है अतएव यह कहना अधिक सत्य है कि आज मृत्यु की मृत्यु हुई है। भगवान ने मृत्यु को जीतकर अमृत्यु अर्थात् अमृतत्व की स्थिति प्राप्त की है। उस समय देव देवेन्द्रों ने आकर निर्वाणोत्सव किया।

भरत का मोह

महाज्ञानी चक्रवर्ती भरत को मोहनीय कर्म ने घेर लिया। उनके क्षेत्र से अश्रुधारा बह रही थी। सभवतः उन्होंने भगवान के शिवगमन को अपने पिता की मृत्यु के रूप में सोचा। भरत की मनोवेदना कौन कह सकता है? चक्रवर्ती की दृष्टि में भगवान के अनन्त उपकार

झूल रहे थे। बाल्यकाल के प्यार और दुलार से लेकर अन्त तक प्रभु ने क्या-क्या नही दिया ? जैसे जैसे भरतराज अतीत का स्मरण करते थे, वैसे-वैसे उनके हृदय मे एक गहरी वेदना होती थी। पराक्रम पुंज भरत के नेत्रो मे कभी अश्रु नही आए थे। विपत्ति में भी वह तेजस्वी म्लान मुख न हुआ। उसके नेत्रो से उस समय अवश्य अश्रुधारा वहती थी, जब कि वह भगवान की भक्ति तथा पूजा के रस में निमग्न हो आनन्द विभोर हो जाता था। वे आनन्दाश्रु थे, अभी शोकाश्रु हैं। देव, इन्द्र आदि आत्मीय भाव से चक्रवर्ती को समझते हैं कि इस आनन्द की वेला मे शोक करना आप सदृश ज्ञानी के लिए उचित नही है। भरत के दु.खी मन को सबका समझाना सान्त्वना दायक नही हुआ।

गणधर द्वारा सांत्वना

इस विषम परिस्थिति मे भरत के बन्धु वृषभसेन गणधर ने अपनी तात्विक देशना द्वारा भरत के मोहज्वर को दूर किया। गणधर देव के इन शब्दो ने भरतेश्वर को पूर्ण प्रतिबुद्ध कर दिया।

> प्राग्क्षि-गोचरः सम्प्रत्येष चेतसि वर्तते।
> भगवास्तत्र कः शोकः पश्यैनं तत्र सर्वदा ॥४७, ३६६ म० पु०

अरे भरत ! जो भगवान पहले नेत्र इन्द्रिय के गोचर थे, वे अब अंत करण मे विराजमान है, इसलिए इस सबध मे किस बात का शोक करते हो ? तुम उन भगवान का अपने मनोमदिर में सदा दर्शन कर सकते हो।

तत्वज्ञानी भरत की अंतर्दृष्टि खुल गई। चक्रवर्ती की समझ मे आ गया कि स्वात्मानुभूति के क्षण में चैतन्य ज्योति का मैं दर्शन करता हूँ। भगवान ने आज सिद्ध पदवी प्राप्त की है। इसमे और मेरे आत्म-स्वरूप में कोई अंतर नही है। इन दिव्य विचारो से भरतेश्वर को विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई। चक्रवर्ती भी व्यथा त्यागकर उस आनंदोत्सव में देवो के साथी हो गए। भरत के नेत्रों मे आनंदाश्रु आ गए।

स्व का राज्य

संसार में शरीरान्त होने पर शोक करने की प्रणाली है, किन्तु यहां आनंदोत्सव मनाया जा रहा है, कारण आज भगवान को चिरजीवन प्राप्त हुआ है। मृत्यु तो कर्मों की हुई है। वह आत्मा आज अपने निज भवन में आकर अनंत सिद्ध बंधुओं के पावन परिवार में सम्मिलित हुआ है। आज आत्मा ने स्व का राज्य रूप सार्थक 'स्वराज्य' प्राप्त किया है।

आनन्द की वेला

भगवान के अनंत आनन्द लाभ की वेला में कौन विवेकी व्यथित होगा ? इसी से देवों ने उस आध्यात्मिक महोत्सव की प्रतिष्ठा के अनुरूप आनन्द नामका नाटक किया। इस आनन्द नाटक के भीतर एक रहस्य का तत्व प्रतीत होता है। सच्चा आनन्द तो कर्मराशि के नष्ट होने से सिद्धों के उपभोग में आता है। संसारी जीव विषय भोग द्वारा सुख प्राप्ति का असफल प्रयत्न करते हैं। भगवान अनंत आनंद के स्वामी हो गए। अव्याबाध सुख की संपत्ति उनको मिली है। ऐसे प्रसंग पर सच्चे भक्त का कर्तव्य है कि अपने आराध्य देव की सफलता पर आनंद अनुभव करे।

समाधि-मरण शोक का हेतु नहीं

मिथ्यात्व युक्त मरण शोक का कारण है, समाधिमरण शोक का हेतु नहीं है। कहा भी है :—

> मिथ्यादृष्टेः सतोः जंतोर्मरणं शोचनाय हि।
> न तु दर्शनशुद्धस्य समाधिमरणं शुचे ॥६१ सर्ग, ६६॥ हरिवंशपुराण

पंडित-पंडित मरण

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कायगुप्ति की पूर्णता पूर्वक शरीर का त्याग अयोगी जिनके पाया जाता है। उस मरण का नाम 'पंडित-पंडित' मरण कहा है। मिथ्यात्वी जीव को बालबाल कहा

है। "पडा यस्यास्ति असौ पडित ।" जिसके पंडा का सद्भाव है, वह पडित है। मूलाराधाना टीका मे लिखा है —"पडा हि रत्नत्रय-परिणता बुद्धि" (पृष्ठ १०५) रत्नत्रय धर्म धारण मे उपयुक्त बुद्धि पण्डा है। उससे अलकृत व्यक्ति पडित है। सच्चा पाडित्य तो तब ही शोभायमान होना है, जब जीव हीनाचरण का त्याग कर विशुद्ध प्रवृत्ति द्वारा अपनी आत्मा को समलकृत करता है। आगम मे व्यवहार पडित, दर्शन पडित, ज्ञान पडित तथा चारित्र पडित रूप से पडित के भेद कहे गए है। अयोगी जिन परिपूर्ण दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र से सपन्न होने के कारण पडित-पडित है। उनका शरीरान्त पडित-पडित मरण है। इसके पश्चात् उस आत्मा का मरण पुन. नही होता है। जिस शुद्धोपयोगी, ज्ञान चेतना का अमृत पान करने वाले को ऐसा समाधि-मरण प्राप्त होता है, उसको जिनेन्द्र की अष्ट गुण रूप संपत्ति की प्राप्ति होती है। ऐसी अपूर्व अवस्था की सदा अभिलाषा की जाती है। सपूर्ण जगत मे छह माह आठ समय मे छह सौ आठ महान आत्माओ को आत्मगुण रूप विभूतिया प्राप्त होती है।

निर्वाण कल्याणक की श्रेष्ठता

जीवन मे मोक्ष प्राप्ति से बढकर श्रेष्ठ क्षण नही हो सकता है। अतएव विचारवान व्यक्ति की दृष्टि मे निर्वाण कल्याणक का सर्वोपरि महत्व है। वह अवस्था आत्मगुणो का चितवन करते हुए जीवन को उज्ज्वल बनाने की प्रेरणा प्रदान करती है।

शरीर का अंतिम-संस्कार

शरीर भर्तुरस्येति परार्ध्य-शिविकार्पितम्।
अग्नीन्द्र-रत्नाभा-भासि-प्रोत्तुंग-मुकुटोद्भवा ॥४७ पर्व, ३४४॥
चदनागरु-कर्पूर-पारी-काश्मीरजादिभिः।
घृत-क्षीरादिभि आप्तवृद्धिना हुतभोजिना ॥३४५॥
जगद् गृहस्य सौगंध्यं संपाद्याभूतपूर्वकं।
तदाकारोपमर्देन पर्यायान्तरमानयन् ॥३४६, म० पु०॥

उस समय निर्वाण कल्याणक की पूजा की इच्छा करते हुए सब देव वहां आए। उन्होंने पवित्र, उत्कृष्ट, मोक्ष के साधन, स्वच्छ तथा निर्मल ऐसे भगवान के शरीर को उत्कृष्ट मूल्यवाली पालकी में विराजमान किया। तदनंतर अग्निकुमार नाम के भवनवासी देवों के इन्द्र के रत्नों की कांति से देदीप्यमान ऐसे अत्यन्त उन्नत मुकुट से उत्पन्न की गई चंदन, अगर, कपूर, केशर आदि सुगंधित पदार्थों से तथा घृत, क्षीरादि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त अग्नि से त्रिभुवन में अभूत पूर्व सुगंध को व्याप्त करते हुए उस शरीर को अग्नि संस्कार द्वारा भस्म रूप पर्यायान्तर को प्राप्त करा दिया।

अग्नित्रय

> अभ्यर्चिताग्निकुंडस्य गंध-पुष्पादिभिस्तथा।
> तस्य दक्षिणभागेऽ भूद्गणभृत्-संस्क्रियानलः ॥३४७॥
> तस्यापरस्मिन् दिग्भागे शेष-केवलिकायगः।
> एवं वह्नित्रयं भूमावध्स्थाप्यामरेश्वराः ॥३४८॥

देवों ने गंध, पुष्पादि द्रव्यों से उस अग्नि कुंड की पूजा की, उसके दाहिनी ओर गणधर देवों की अंतिम संस्कार वाली गणधराग्नि स्थापित की, उसके वाम भाग में शेष केवलियों की अग्नि स्थापना की। इस प्रकार देवेन्द्रों ने पृथ्वी पर तीन प्रकार की अग्नि स्थापना की।

भस्म की पूज्यता

> ततो भस्म समादाय पंच-कल्याणभागिनः।
> वयं चैवं भवामेति स्वललाटे भुजद्वये ॥३४९॥
> कण्ठे हृदयदेशे च तेन संस्पृश्य भक्तितः।
> तत्पवित्रतमं मत्वा धर्मराग-रसाहिताः ॥३५०॥

तदनंतर देवों तथा देवेन्द्रों ने भक्ति-पूर्वक पंचकल्याण प्राप्त जिनेन्द्र के देहदाह से उत्पन्न वह भस्म लेकर 'हम भी ऐसे हों' यही विचार करते हुए अपने मस्तक, भुज युगल, कंठ तथा छाती में

लगाई। उन्होने उस भस्म को अत्यत पवित्र माना तथा वे धर्म के रस म निमग्न हो गए।

अन्वर्थ अमरत्व की आकांक्षा

जिनेन्द्र भगवान ने सचमुच मे मृत्यु के कारण रूप आयु कर्म का क्षय करके अन्वर्थ रूप मे अमर पद प्राप्त किया है। देवताओं को मृत्यु के वशीभूत होते हुए भी नाम निक्षेप से अमर कहते हैं। इसी से उन अमरो तथा उनके इद्रों ने उस भस्म को अपने अगों मे लगा कर यह भावना की, कि हम नाम के अमर न रहकर सचमुच मे वृषभ-नाथ भगवान के समान सच्चे अमर होवे। 'वय चैव भवाम।'

> चतुर्विधामराः सेन्द्रा निरतंद्राच्छ्रभक्तयः।
> कृत्वांत्येष्टिं तदागत्य स्वं स्वामावासमाश्रयन् ॥६३--५००॥

बडी भक्ति को धारण करने वाले प्रमाद रहित इन्द्रो सहित चारो प्रकार के देव वहा आए और भगवान के शरीर की अत्येष्टि (अतिम पूजा) कर अपने अपने स्थान को चले गए।

अंत्य-इष्टि का रहस्य

देवेन्द्रादि के द्वारा निर्वाण कल्याणक की लोकोत्तर पूजा को अत्येष्टि सस्कार कहते है। अन्य लोगो मे मरण प्राप्त व्यक्ति के देह दाह को अत्येष्टि-क्रिया कहने की पद्धति पाई जाती है। इस अर्थ शून्य शब्द का इतर सप्रदाय में प्रयोग जैन प्रभाव को सूचित करता है। निर्वाण कल्याणक मे शरीर की अतिम पूजा, अग्नि सस्कार आदि की महत्ता स्वतः सिद्ध है, किन्तु पशु पक्षियो की भाति अज्ञानपूर्वक मरने वाले शरीर की पूजा की कल्पना अयोग्य है।

वीरनाथ के शरीर का दाह संस्कार

महावीर भगवान का पावानगर के उद्यान मे कायोत्सर्ग आसन से मोक्ष होने पर देवो द्वारा शरीर का दाह संस्कार पावानगर

के उद्यान में संपन्न हुआ था। पूज्यपाद स्वामी ने निर्वाण भक्ति में लिखा है :—

> परिनिर्वृतं जिनेन्द्रं ज्ञात्वा विबुधा ह्यथाशु चागम्य।
> देवतरु-रक्तचन्दन-कालागुरु-सुरभि-गोशीर्षैः ॥१८॥
>
> अग्नींद्राज्जिनदेहं मुकुटानल-सुरभिधूप-वरमाल्यैः।
> अभ्यर्च्य गणधरानपि गता दिवं खं च वनभवने ॥१९॥

महावीर भगवान के मोक्ष कल्याणक का संवाद अवगत कर देव लोग शीघ्र ही आए। उन्होंने जिनेश्वर के देह की पूजा की तथा देवदारू, रक्त चन्दन, कृष्णागुरु, सुगंधित गोशीर चन्दन के द्वारा और अग्निकुमार देवों के इंद्र के मुकुट से उत्पन्न अग्नि तथा सुगंधित धूप तथा श्रेष्ठ पुष्पों द्वारा शरीर का दाहसंस्कार किया। गणधरों की भी पूजा करने के पश्चात् कल्पवासी, ज्योतिषी, व्यंतर तथा भवनवासी देव अपने अपने स्थान चले गए। अशग कवि कृत वर्धमान चरित्र में भी भगवान के अंतिम शरीर के दाह संस्कार का इस प्रकार कथन आया है :—

> अग्नीन्द्र-मौलि-वररत्न-विनिर्गतेऽग्नौ।
> कर्पूर-लोह-हरिचन्दन-सारकाष्ठैः॥
> संधुक्षिते सपदि वातकुमारनाथैः।
> इंद्रो मुदा जिनपतेर्जुहुवुः शरीरं ॥१८—१००॥

अग्नीन्द्र के मुकुट के उत्कृष्ट रत्न से उत्पन्न अग्नि में, जो कपूर, अगुरु, हरिचन्दन, देवदारु आदि सार रूप काष्ठ से तथा वायुकुमारों के इंद्रों द्वारा शीघ्र ही प्रज्वलित की गई थी, इंद्रों ने प्रभु के शरीर का सहर्ष दाह-संस्कार किया। हरिवंशपुराण में नेमिनाथ भगवान के परि-निर्वाण पर की गई पूजादि का इस प्रकार कथन किया गया है :—

हरिवंशपुराण का कथन

> परिनिर्वाण-कल्याणपूजामंत्यशरीरगाम्।
> चतुर्विधसुराः जैनीं चक्रुः शक्रपुरोगमाः ॥६५—११॥

जब नेमिनाथ प्रभु का परिनिर्वाण हो चुका, तब इंद्र और चारो प्रकार के देवो ने जिनेन्द्रदेव के अतिम शरीर सम्बन्धी निर्वाण-कल्याणक की पूजा की ।

गंध-पुष्पादिभिर्दिव्यैः पूजितास्तनवः क्षणात् ।
जैनाद्या द्योतयन्त्यो द्या विलीना विद्युतो यथा । ॥१२॥

जिस प्रकार विद्युत् देखते देखते शीघ्र विलय को प्राप्त होती है, उसी प्रकार गध पुष्पादि दिव्य पदार्थो से पूजित भगवान का शरीर क्षणभर मे दृष्टि के अगोचर हो गया ।

स्वभावोय जिनादीनां शरीरपरमाणव ।
मुचन्ति स्कन्धतामते क्षणात् क्षणरुचामिव ॥१३॥

यह स्वभाव है कि जिन भगवान के शरीर के परमाणु अंत समय में स्कन्धरुपता का परित्याग करते है और विजली के समान तत्काल विलय को प्राप्त होते है ।

निर्वाण स्थान के चिह्न

हरिवशपुराण में यह भी कहा है :—

ऊर्जयंतगिरो वज्री वज्रेणालिख्य पावनं ।
लोके सिद्धिशिलां चक्रे जिनलक्षण-पंक्तिभिः ॥१४ सर्ग ६५॥

गिरनार पर्वत पर इंद्र ने परम पवित्र 'सिद्धि-शिला' निर्मापी तथा उसे वज्र द्वारा भगवान के लक्षणों के समूह से अकित किया ।

स्वामी समंतभद्र ने स्वयंभू स्तोत्र में भी यह बात कही है, कि गिरनार पर्वत पर इन्द्र ने निर्वाणप्राप्त जिनेन्द्र नेमिनाथ के चिन्ह अकित किए थे । यहा हरिवश पुराण से यह विशेष बात ज्ञात होती है कि इन्द्र एक विशेष शिला-सिद्धिशिला की रचना करके उस पर जिनेन्द्र के निर्वाण सूचक चिन्हों का निर्माण करता है । आज परंपरा से प्राप्त चरण-चिन्हो की निर्वाणभूमि में अवस्थिति देखने से यह अनुमान किया जा सकता है, कि इंद्र ने मुक्ति प्राप्त करने वाले भगवान के स्मारक रूप मे चरणचिन्हो की स्थापना का कार्य किया था ।

ऋषभनाथ भगवान कैलाश पर्वत पर से मुक्त हुए, पश्चात् वे सिद्धालय में उर्ध्वगमन स्वभाव वश पहुँचे। इस दृष्टि से प्रथम मुक्तिस्थल ऋषभनाथ भगवान की अपेक्षा कैलाश पर्वत है, वासुपूज्य भगवान की दृष्टि से चंपापुर है, नेमिजिनेन्द्र की अपेक्षा गिरनार अर्थात् ऊर्जयन्तगिरि है, वर्धमान भगवान की अपेक्षा पावापुर है और शेष बीस तीर्थंकरों की अपेक्षा सम्मेदशिखर निर्वाण स्थल है। निर्वाण काण्ड में कहा है :—

> अट्ठावयम्मि उसहो चंपाए वासुपुज्जजिणणाहो।
> उज्जंते णेमिजिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो ॥१॥
> वीसं तु जिणवरिंदा अमरासुरवंदिदा धुदकिलेसा।
> सम्मेदे गिरिसिहरे णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥२॥

महत्व की बात

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि केवलज्ञान होने के पश्चात् भगवान का परम औदारिक शरीर पृथ्वीतल का स्पर्श नहीं करता है; इसलिए मोक्ष जाते समय उन्होंने भूतल का स्पर्श किया होगा यह विचार उचित नहीं है। भगवान के कर्म-जाल से छूटने का असली स्थान आकाश के वे प्रदेश हैं, जिनको मुक्त होने के पूर्व उनके परम पवित्र देह ने व्याप्त किया था। तिलोयपण्णत्ति में क्षेत्र-मंगल पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

> एदस्स उदाहरणं पावा-णगरुज्जयंत-चंपादी।
> आहुट्ठ-हत्थपहुदी-पणुवीसब्भहिय-पणसयधणूणि ॥
> देहअवट्ठिद-केवलणाणावट्ठद्ध-गयणदेसो वा।
> सेढ़ि-घणमेत्त-अप्पप्पदेसगदलोयपूरणा पुण्णा ॥१—२२, २३॥

इस क्षेत्र मंगल के उदाहरण पावानगर, उर्जयन्त और चंपापुर आदि हैं; अथवा साढ़े तीन हाथ से लेकर पांच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण शरीर में स्थित और केवलज्ञान से व्याप्त आकाश प्रदेशों को क्षेत्र मंगल समझना चाहिए; अथवा जगत् श्रेणी के घन मात्र अर्थात्

लोक प्रमाण आत्मा के प्रदेशों से लोकपूरण समुद्घात द्वारा पूरित सभी लोकों के प्रदेश भी क्षेत्र मगल है।

स्वयभूस्तोत्र में लिखा है कि उर्जयन्त गिरि से अरिष्ट नेमि जिनेन्द्र के मुक्त होने के पश्चात् इद्र ने पर्वत पर चिन्हो को अंकित किया था, जिससे भगवान के निर्वाण स्थान की पूजा की जा सके।

ककुदं भुवः खचर-योषिदुषित-शिखरैरलङ्कृत'।
मेघपटल-परिवीततटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ॥१२७॥

वह उर्जयन्त पर्वत पृथ्वी रूप बैल की ककुद के समान था। उसका शिखर विद्याधरो तथा विद्याधरियो से शोभायमान था तथा उसका तट मेघपटल से घिरा रहता था। उस पर वज्री अर्थात् इन्द्र ने नेमिनाथ भगवान के चिन्हो को उत्कीर्ण किया था।

इस कथन के आधार पर इद्र ने अन्य निर्वाण प्रदेशो पर भी भगवान के चरण चिन्हों की स्थापना की होगी, यह मानना उचित है।

काल-मङ्गल

जिस काल मे भगवान ने मोक्ष प्राप्त किया, वह समय समस्त पाप रूपी मल के गलाने का कारण होने से काल मङ्गल माना गया है।

कर्मो के नाश का अर्थ

प्रश्न—सत् पदार्थ का सर्वथा क्षय नही होता है, तब भगवान ने समस्त कर्मो का क्षय किया, इस कथन का क्या अभिप्राय है?

समाधान—यह बात यथार्थ है कि सत् का सर्वथा नाश नही होता है और न असत् का उत्पाद ही होता है। समंतभद्रस्वामी ने कहा है—"नैवाऽसतो जन्म, सतो न नाशो" अर्थात् असत् का जन्म नही होता, तथा सत् का नाश भी नही होता है। कर्मो के नाश

का अर्थ यह है कि आत्मा से उनका सम्बन्ध छूट जाता है तथा वे पुनः रागादि विकार उत्पन्न नहीं करते । यहाँ अभिप्राय यह है कि पुद्गल ने कर्मत्व पर्याय का त्याग कर दिया है । वह अकर्म पर्यायरूप में विद्यमान है । अन्य कषायवान् जीव उसे योग्य बनने पर पुनः कर्मपर्याय परिणत कर सकता है । मुक्त होने वाली आत्मा के साथ उस पुद्गल का अब कभी भी पुनः बन्ध नहीं होगा । कर्मक्षय का इतना ही मर्यादापूर्ण अर्थ करना उचित है ।

निर्वाण-भूमि का महत्त्व

आत्म निर्मलता सम्पादन में सिद्ध-भूमि का आश्रय ग्रहण करना भी उपयोगी माना गया है । निर्वाण-स्वामी (मुनि) सल्लेखना के हेतु निर्वाण-स्थल में निवास को अपने लिए हितकारी अनुभव करते हैं । क्षपकराज, चारित्रचक्रवर्ती १०८ आचार्य शांतिसागर महाराज नेआत्म-विशुद्धता के हेतु ही कुंथलगिरि रूप निर्वाणभूमि को अपनी अन्तिम तपोभूमि बनाया था ।

आचार्य शांतिसागर महाराज का अनुभव

आचार्य महाराज की पहले इच्छा थी, कि वे पावापुरी जाकर सल्लेखना को स्वीकार करें । उन्होंने कहा था—"हमारी इच्छा पावापुरी में सल्लेखना लेने की है । वहाँ जाते हुए यदि मार्ग में ही हमारा शरीरान्त हो जाय, तो हमारे शरीर को जहां हमारे पिता हैं, वहां पहुँचा देना ।"

मैंने पूछा था :— महाराज ! पिता से आपका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—"महावीर भगवान हमारे पिता हैं ।"

मेरे भाई प्रोफेसर सुशीलकुमार दिवाकरने प्रश्न किया—तब तो जिनवाणी आपकी माता हुई ?

उत्तर— 'बिल्कुल ठीक बात है। जिनवाणी हमारी माता है और महावीर भगवान हमारे पिता हैं।" उन्होंने यह भी कहा था, कि "सिद्धभूमि में रहने से भावों में विशेष निर्मलता आती है तथा वहाँ सुखपूर्वक बहुत उपवास बन जाते हैं ऐसा हमारा अनुभव है। यहाँ कुथलगिरि में पाँच उपवास करते हुए भी हमें ऐसा लगता है कि हमने एक उपवास किया हो।" ये उद्गार महाराज शांतिसागर जी ने १९५३ में कुथलगिरि चातुर्मास के समय व्यक्त किए थे।

निषीधिका

निर्वाणभूमि को निषीधिका कहा गया है। प्रतिक्रमण-ग्रंथ-त्रयी में गौतम गणधर ने लिखा है—"णमोत्थु दे णिसीधिए, णमोत्थु दे अरहंत, सिद्ध" (पृष्ठ २०)—निषीधिका को नमस्कार है। अरहंत को नमस्कार है। सिद्ध को नमस्कार है। संस्कृत टीका में आचार्य प्रभाचन्द्र ने निषीधिका के सत्रह अर्थ करते हुए उसका अर्थ सिद्धजीव निर्वाणक्षेत्र, उनके द्वारा आश्रित आकाश के प्रदेश भी किया है। उन्होंने यह गाथा भी उद्धृत की है :—

सिद्धा य सिद्धभूमी सिद्धाण-समाहियो णहो-देसो।
एयाओ अण्णाओ णिसीहियाओ सया वंदे॥

मैं सिद्ध, सिद्धभूमि, सिद्धों के द्वारा आश्रित आकाश के प्रदेश आदि निषीधिकाओं की सदा वंदना करता हूँ।

इस आगम के प्रकाश में कैलाशगिरि आदि निर्वाणभूमियों का महत्व स्पष्ट होता है।

मोक्ष का अभिप्राय

दार्शनिक भाषा में मोक्ष का स्वरूप है, 'जीव और कर्मों का पूर्णरुपेण संबंधविच्छेद।' बंध की अवस्था में कर्म ने जीव को

बांधा था, और जीव ने भी कर्मों को पकड़ लिया था। उस अवस्था में जीव और पुद्गल में विकार उत्पन्न होने से वैभाविक परिणमन हुआ था। मोक्ष होने पर जैसे जीव स्वतंत्र हो जाता है, उसी प्रकार बंधन-बद्ध कर्म रूप परिणत पुद्गल भी स्वतंत्र हो जाता है। जीव की स्वतंत्रता का फिर विनाश नहीं होता, किन्तु पुद्गल पुनः अशुद्ध पर्याय को प्राप्त कर अन्य संसारी जीवों में विकार उत्पन्न करता है। दोनों की स्वतंत्रता में इतना अंतर है।

निर्वाण और मृत्यु का भेद

भगवान के निर्वाण का दिन यथार्थ में 'आध्यात्मिक स्वाधीनता दिवस' है। निर्वाण तथा मृत्यु में अंतर है। संसार में आयु कर्म के नष्ट होने के पूर्व ही आगामी भव की आयु का बंध होता रहा है। वर्तमान आयु का क्षय होने पर वर्तमान शरीर का परित्याग होता है। पश्चात् जीव पूर्वबद्ध आयु कर्म के अनुसार अन्य देह को धारण करता है। इस प्रकार मृत्यु का संबंध आगामी जीवन से रहता है। मोक्ष में ऐसा नहीं होता है। परिनिर्वाण की अवस्था में आयु कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से जन्म-मरण की श्रृंखला सदा के लिए समाप्त हो जाती है।

इस पंचम काल में संहनन की हीनता के कारण मोक्ष के योग्य शुक्ल-ध्यान नहीं बन सकता है, अतः भरत क्षेत्र से मोक्ष गमन का अभाव है। सामान्य लोग निर्वाण के आंतरिक मर्म का अवबोध न होने से लोक प्रसिद्ध व्यक्ति की मृत्यु को भी परिनिर्वाण या महा-निर्वाण कह देते हैं। संपूर्ण परिग्रह को त्याग कर दिगम्बर मुद्राधारी श्रमण बनने वाले व्यक्ति को रत्नत्रय की पूर्णता होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। जो हिंसामय धर्म से अपने को उन्मुक्त नहीं कर पाए हैं, उनकी मृत्यु को निर्वाण मानना असम्यक् है। वीतरागता के पथ को स्वीकार किए बिना निर्वाण असंभव है।

मोक्ष का सुख

तत्वार्थसार मे एक सुन्दर शका उत्पन्न कर उसका समाधान किया गया है।

स्यादेतदशरीरस्य जतोर्नष्टाष्टकर्मणः ।
कथ भवति मुक्तस्य सुखमित्युत्तर श्रृणु ।।४६।। मोक्ष तत्वम् ।।

प्रश्न—अष्ट कर्मो के नाश करने वाले शरीर रहित मुक्तात्मा के कैसे सुख पाया जायगा ? शकाकार का अभिप्राय यह है कि शरीर के होने पर सुखोपभोग के लिए साधन रूप इन्द्रियो द्वारा विषयो से आनन्द की उपलब्धि होती थी । मुक्तावस्था मे शरीर नाश करने से सुख का सद्भाव कैसे माना जाय ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य इस प्रकार समाधान करते है।

समाधान

सुख शब्द का प्रयोग लोक मे विषय, वेदना का अभाव, विपाक तथा मोक्ष इन चार स्थानो मे होता है ।

लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुखशब्दः प्रयुज्यते ।
विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ।।४७।।

सुख वायु, सुखं वन्हि—यह पवन आनन्ददायी है। यह अग्नि अच्छी लगती है । यहाँ सुखके विषय मे सुख का प्रयोग हुआ है । दु ख का अभाव होने पर पुरुष कहता है—'सुखितोऽस्मि'—मै सुखी हूँ । पुण्यकर्म के विपाक से इन्द्रिय तथा पदार्थ से उत्पन्न सुख प्राप्त होता है । श्रेष्ठ सुख की प्राप्ति, कर्मक्लेश का अभाव होने से, मोक्ष मे होती है । मोक्ष के सुख के समान अन्य आनन्द नही है, इससे उस सुख को निरूपम कहा है । त्रिलोकसार में लिखा है—

चक्कि-कुरु-फणि-सुरेंदे- अहमिंदे जं सुह तिकालभवं ।
तत्तो अणतगुणिद सिद्धाणं खणसुहं होदि ।।५६०।।

चक्रवर्ती, कुरु, फणीन्द्र, सुरेन्द्र, अहमिन्द्रों में जो क्रमश' अनन्त गुणा सुख पाया जाता है; उनके सुखों को अनंत गुणित करने

से जो सुख होता है, उतना सुख सिद्ध भगवान को क्षण मात्र में प्राप्त होता है।

सुख-दुःख की मीमांसा

सुख और दुःख की सूक्ष्मता पूर्वक मीमांसा की जाय, तो ज्ञात होगा, कि सच्चा सुख तथा शांति भोग में नहीं, त्याग में है। भोग में तृष्णा की वृद्धि होती जाती है। उससे अनाकुलता रूप सुख का नाश होता जाता है। इन्द्रियजनित सुख का स्वरूप समझाते हुए आचार्य कहते हैं, तलवार की धार पर मधु लगा दिया जाय। उसको चाटते समय कुछ आनन्द अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु जीभ के कटने से अपार वेदना होती है। विषयजनित सुखों को दुःख कहने के बदले में सुखाभास नाम दिया गया है। परमार्थ दृष्टि से यह सुखाभास दुःख ही है। पंचाध्यायी में वैषयिक सुख के विषय में कहा है :—

"नह तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम्" ॥२३८॥

वह इन्द्रियजन्य सुख सुखाभास है। यथार्थ में वह दुःख ही है।

शक्र-चक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम्
तृष्णाबीजं रतिस्तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी ॥२-२५७॥

महान पुण्यशाली इन्द्र, चक्रवर्ती आदि जीवों के तृष्णा के बीज रूप रति अर्थात् आनन्द पाया जाता है। उनके सुख की प्राप्ति कैसे होगी? इन्द्रियजनित सुख कर्मोदय के अधीन है। सिद्धों का सुख स्वाधीन है। इन्द्रिय जन्य सुख अंत सहित है, पाप का बीज है तथा दुःखों से मिश्रित है। सिद्धावस्था का सुख अनंत है। वहां दुःख का लेश भी नहीं है; कारण विघ्नकारी कर्मों का पूर्ण क्षय हो चुका है।

निर्वाण अवस्था

नियमसार में कहा है :—

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
ण वि धम्म-सुक्कझाणे तत्थेव होइ णिव्वाणं ॥१८१॥

सिद्ध भगवान के कर्म तथा नोकर्म नहीं है। चिन्ता नहीं है। आर्त तथा रौद्र ध्यान नहीं है। धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान नहीं है। ऐसी अवस्था ही निर्वाण है।

निर्वाण तथा सिद्धों में अभेद

कुंदकुंदस्वामी ने यह भी कहा है —

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्ग-पज्जत्त ॥१८३॥नियमसार॥

निर्वाण ही सिद्ध है और सिद्ध ही निर्वाण है (दोनों मे अभेदपना है)। कर्मो से वियुक्त आत्मा लोकाग्र पर्यन्त जाती है।

सिद्धों के सुख का रहस्य

भोजन-पानादि द्वारा सुख का अनुभव ससारी जीवों को है। मुक्ति मे ऐसी सामग्री का अभाव होने से कैसे सुख माना जाय? यह शका स्थूलदृष्टि वालों की रहती है।

इसके समाधानार्थ 'सिद्धभक्ति' का यह कथन महत्व पूर्ण है। भगवान ने भूख-प्यास की प्रादुर्भूति के कारण कर्म का नाश कर दिया है। उसकी वेदना नष्ट होने से विविध भोजन, व्यंजन आदि व्यर्थ हो जाते हैं। अपवित्रता से सबध न होने के कारण सुगधित माला आदि का भी प्रयोजन नहीं है। ग्लानि तथा निद्रा के कारण रूप कर्मो का क्षय हो गया है, अतएव मृदु शयनासनादि की आवश्यकता नहीं है। भीषण रोगजनित पीडा का अभाव होने से उस रोग के उपशमन हेतु ली जाने वाली औषधि अनुपयोगी है अथवा दृश्यमान जगत् मे प्रकाशमान रहने पर दीप के प्रकाश का प्रयोजन नहीं रहता है। इसी प्रकार सिद्ध भगवान के समस्त इच्छाओं का अभाव है, इसलिए बाह्य इच्छा पूर्ति करने वाली सामग्री की आवश्यकता नहीं है। मोहज्वर से पीड़ित जगत् के जीवो का अनुभव मोहमुक्त, स्वस्थ

अर्थात् आत्म स्वभाव में अवस्थित सिद्ध भगवान के विषय में लगाना अनुचित है। कहा भी है :—

> नार्थःक्षुत्-तृड्-विनाशात् विविधरसयुतैरन्नपानैरशुच्या।
> नास्पृष्टेर्गंध-माल्यैर्नहि मृदुशयनैर्ग्लानि-निद्राद्यभावात्।
> आतंकार्तेरभावे तदुपशमनसद्भेषजा-नर्थतावद्।
> दीपानर्थक्यवद्वा व्यपगत-तिमिरे दृश्यमाने समस्ते ॥८॥

अवर्णनीय इंद्रियजनित सुख का अनुभव लेने वाले सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र सदा यही अभिलाषा करते हैं कि किस प्रकार उनको सिद्धों का स्वाधीन, इंद्रियातीत अविनाशी सुख प्राप्त हो। सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्रों में पूर्णतया समानता रहने से पुण्यात्माओं का परिपूर्ण साम्य पाया जाता है, ऐसा ही साम्य इनसे द्वादश योजन ऊंचाई पर विराजमान सिद्धों के मध्य पाया जाता है। यह आध्यात्मिक विभूतियों के मध्य स्थित साम्य है। अहमिन्द्रों का साम्य तेतीस सागर की आयु समाप्त होने पर तत्क्षण समाप्त होता है अर्थात् वहां से आयु क्षय होने पर अवस्थान्तर में आना पड़ता है। सिद्धों के मध्य का साम्य अविनाशी है। वे सब आत्माएं परिपूर्ण तथा स्वतंत्र हैं। एक दूसरे के परिणमन में न साधक हैं, न बाधक हैं।

सुख की कल्पना

आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण में बड़ी सुन्दर बात कही है :—

> जनेभ्यः सुखिनो भूपाः भूपेभ्य श्चक्रवर्तिनः।
> चक्रिभ्यो व्यंतरास्तेभ्यः सुखिनो ज्योतिषोऽमराः।१०५—१८७॥
> ज्योतिर्भ्यो भवनावासास्तेभ्यः कल्पभुवः क्रमात्।
> ततो ग्रैवेयकावासास्ततोऽनुत्तरवासिनः ॥१८८।
> अनंतानंत-गुणतस्तेभ्यः सिद्धि-पदस्थिताः।
> सुखं नापरमुत्कृष्टं विद्यते सिद्धसौख्यतः ॥१८९॥

मनुष्यों की अपेक्षा राजा सुखी है। राजाओं की अपेक्षा चक्रवर्ती सुखी है। चक्रवर्ती की अपेक्षा व्यंतरदेव तथा व्यंतरों की अपेक्षा ज्योतिषीदेव सुखी हैं। ज्योतिषी देवों की अपेक्षा भवनवासी

तथा भवनवासियों की अपेक्षा कल्पवासी सुखी है। कल्पवासियों की अपेक्षा ग्रैवेयकवामी तथा ग्रैवेयकवासियो की अपेक्षा विजय, वैजयन्त, जयत, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि रूप पच अनुत्तरवासी सुखी हैं। उनसे भी अनतानतगुणे सुखयुक्त सिद्धि पद को प्राप्त सिद्ध भगवान हैं। सिद्धो के सुख की अपेक्षा दूसरा और उत्कृष्ट आनद नही है।

सिद्ध परमेष्ठी की महत्ता को योगी लोग भली प्रकार जानते हैं। इससे महापुराणकार उनको 'योगिना गम्य'—योगियो के ज्ञान गोचर कहते हैं। जिनसेन स्वामी का यह कथन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए ध्यान देने योग्य है :—

वीतरागोप्यसौ ध्येयो भव्याना भवविच्छिदे।
विच्छिन्नबधनस्यास्य तादृग्नैसर्गिको गुणः ॥२१—११६॥

भव्यात्माओ को ससार का विच्छेद करने के लिए वीतराग होते हुए भी इन सिद्धो का ध्यान करना चाहिए। कर्म बंधनका विच्छेद करने वाले सिद्ध भगवान का यह नैसर्गिकगुण कहा गया है। आचार्य का अभिप्राय यह है कि सिद्ध भगवान वीतराग हैं। वे स्वयं किसी को कुछ नही देते हैं, किन्तु उनका ध्यान करने से तथा उनके निर्मल गुणों का चितवन करने से आत्मा की मलिनता दूर होती है और वह मुक्ति मार्ग में प्रगति करती है। निरजन निर्विकार तथा निराकार सिद्धों के ध्यान की 'रूपातीत' नाम के धर्म ध्यान में परिगणना की गई है।

रूपातीत-ध्यान

रूपातीत ध्यान मे सिद्ध परमात्मा का किस प्रकार योगी चिन्तवन करते है, यह ज्ञानार्णव में इस प्रकार कहा है :—

व्योमाकारमानाकार निष्पन्न शातमच्युतम्।
चरमाङ्गात्किंयन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ॥२२॥
लोकाग्र-शिखरासीनं शिवीभूतमनामयम्।
पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्तं च चिन्तयेत् ॥४०—२३॥

आकाश के समान अमूर्त, पौद्‌गलिक आकार रहित, परिपूर्ण, शांत, अविनाशी, चरम देहसे किंचित् न्यून, घनाकार आत्म प्रदेशों से युक्त, लोकाग्रके शिखर पर अवस्थित, कल्याणमय, स्वस्थ, स्पर्शादिगुण रहित तथा पुरुषाकार परमात्मा का चिंतवन रूपातीत ध्यान में करे।

ध्यान के लिए मार्ग-दर्शन

ध्यान के अभ्यासी के हितार्थ आचार्य शुभचंद ने ज्ञानार्णव में यह महत्व पूर्ण मार्गदर्शन किया है:—

> अनुप्रेक्षाश्च धर्म्यस्य स्युः सदैव निबंधनम्।
> चित्तभूमौ स्थिरीकृत्य स्व-स्वरूपं निरूपय॥४१—३॥

हे साधु! अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन सदा धर्मध्यान का कारण है, अतएव अपनी मनोभूमि में द्वादश भावनाओं को स्थिर करे तथा आत्म स्वरूप का दर्शन करे।

ब्रह्मदेव सूरि का यह अनुभव भी आत्म-ध्यान के प्रेमियों के ध्यान देने योग्य है,"यद्यपि प्राथमिकानां सविकल्पावस्थायां चित्तस्थिति-करणार्थं विषय-कषायरूप-दुर्ध्यानवंचनार्थं च जिनप्रतिमाक्षरादिकं ध्येयं भवतीति, तथापि निश्चय-ध्यानकाले स्वशुद्धात्मैव इति भावार्थः" (परमात्मप्रकाश टीका पृष्ठ ३०२, पद्य २८६)—यद्यपि सविकल्प अवस्था में प्रारंभिक श्रेणी वालों के चित्त को स्थिर करने के लिए तथा विषय-कषाय रूप दुर्ध्यान अर्थात् आर्तध्यान, रौद्रध्यान दूर करने के लिए जिन प्रतिमा तथा जिन वाचक अक्षरादिक भी ध्यान के योग्य हैं,तथापि निश्चय ध्यान के समय शुद्ध आत्मा ही ध्येय है।

जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति के निमित्त से आत्मा का रागभाव मन्द होता है, परिणाम निर्मल होते हैं तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

सिद्ध-प्रतिमा

सिद्ध परमात्मा का ध्यान करने के लिए भी जिनेन्द्र देव की प्रतिमा उपयोगी है। सिद्ध प्रतिमा के स्वरूप पर आचार्य वसुनंदि सिद्धांतचक्रवर्ती ने मूलाचार की टीका में इस प्रकार प्रकाश डाला है.—"अष्टमहाप्रातिहार्यसमन्विता अर्हत्प्रतिमा, तद्रहिता सिद्ध-प्रतिमा।"—जो प्रतिमा अष्टप्रातिहार्य समन्वित हो, वह अरहंत भगवान की प्रतिमा है। अष्टप्रतिहार्य रहित प्रतिमा को सिद्ध-प्रतिमा जानना चाहिए। इस विषय में यह कथन भी ध्यान देने योग्य है; "अथवा कृत्रिमाः यास्ता अर्हत्प्रतिमा, अकृत्रिमाः सिद्धप्रतिमाः" (पृष्ठ ३१ गाथा २५)—अथवा संपूर्ण कृत्रिम जिनेन्द्र प्रतिमाएं अरहंत प्रतिमा हैं। अकृत्रिम प्रतिमाओं को सिद्ध प्रतिमा कहा है।

इस आगम वाणी के होते हुए धातु विशेष में पुरुषाकार शून्य स्थान बनाकर उसके पीछे दर्पण को रखकर उसे सिद्ध प्रतिमा मानने का जब आगम में विधान नहीं है तब आगम की आज्ञा को शिरोधार्य करने वाला व्यक्ति अपना कर्तव्य और कल्याण स्वयं विचार सकता है। यह बात भी विचारणीय है, कि पोलयुक्त मूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा करते समय मंत्र-न्यास विधि किस प्रकार संपन्न की जायेगी, उसके अभाव में प्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित मूर्ति में किस प्रकार भेद किया जा सकेगा? मंत्र न्यास प्रतिष्ठा का मुख्य अंग है। (आशाधर प्रतिष्ठासारोद्धार ४, १४६) दक्षिण भारत के प्राचीन और महत्वपूर्ण जिन मंदिरों में इस प्रकार की सिद्ध प्रतिमाएं नहीं पाई जाती, जैसी उत्तर प्रांत में कहीं-कहीं देखी जाती है। आगम-प्राण सत्पुरुषों को परमागम प्रतिपादित प्रवृत्तियों को ही प्रोत्साहन प्रदान करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

निर्वाण पद और दिगम्बरत्व

सिद्ध पद को प्राप्त करने के लिए संपूर्ण परिग्रह का त्याग कर वस्त्र रहित (अचेल) मुद्रा का धारण करना अत्यंत आवश्यक

है। यह दिगम्बर मुद्रा निर्वाण का कारण है, इसलिए इसे निर्वाण मुद्रा भी कहते हैं। दक्षिण भारत में दिगम्बर दीक्षा लेने वाले मुनि राज को निर्वाण-स्वामी कहने का जनता में प्रचार है। अजैन भी निर्वाण-स्वामी को जानते हैं।

सिद्धों का ध्यान परम कल्याणदायी है, इतना मात्र जानकर भोग तथा विषयों में निमग्न व्यक्ति कुछ क्षण बैठकर ध्यान करने का अभिनय करता है, किन्तु इससे मनोरथ सिद्ध नहीं होगा। ध्यान के योग्य सामग्री का मूलाराधना टीका में इस प्रकार उल्लेख किया गया है :—

संग-त्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम्।
मनोक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मनः ॥पृ० ७४॥

वस्त्रादि परिग्रह का परित्याग, कषायों का निग्रह, व्रतों को धारण करना, मन तथा इंद्रियों का वश में करना रूप सामग्री ध्यान की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है।

द्रव्य परिग्रह-परित्याग का उपयोग

"बाह्यचेलादिग्रंथत्यागो अभ्यंतरपरिग्रहत्यागमूलः"— बाह्य पदार्थ-वस्त्रादि का परित्याग अंतरंग त्याग का मूल है; जैसे चांवल के ऊपर लगी हुई मलिनता दूर करने के पूर्व में तंदुल का छिलका दूर करना आवश्यक है, तत्पश्चात् चांवल के भीतर की मलिनता दूर की जा सकती है, इसी प्रकार बाह्य परिग्रह त्यागपूर्वक अंतरंग में निर्मलता प्राप्त करने की पात्रता प्राप्त होती है। जो बाह्य मलिनता को धारण करते हुए अंतरंग मलिनता को छोड़ ध्यान का आनन्द लेते हुए सिद्धों का ध्यान करना चाहिते हैं, कर्मों की निर्जरा तथा संवर करने की मनोकमना करते हैं, वे जल का मंथन करके घृत प्राप्ति का उद्योग सदृश कार्य करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि वस्त्रादि के भार से जो मुक्त नहीं हो सकते हैं, उनकी मुक्ति की ओर यथार्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है। जो देशसंयम धारण करते हुए

दिगम्बर मुद्रा की लालसा रखता है, वह श्रावक मार्गस्थ है। धीरे-धीरे वह अपनी प्रिय पदवी को प्राप्त कर सकेगा, किन्तु जो वस्त्र-त्यागादि को व्यर्थ सोचते हैं, वे सकलंक श्रद्धा वश अकलंक पदवी को स्वप्न मे भी नही प्राप्त कर सकते हैं। गभीर विचारवाला अनुभवी सत्पुरुष पूर्वोक्त बात का महत्व शीघ्र समझेगा।

मूलाराधना मे कहा है, भृकुटी चढाना आदि चिन्हों से जैसे अतरग में क्रोधादि विकारों का सद्भाव सूचित होता है, इसी प्रकार बाह्य अचेलता (वस्त्र त्याग) से अतर्मल दूर होते हैं। कहा भी है :—

बाहिरकरणविसुद्धी अब्भंतकरण-सोधणत्थाए।
ण हु कडमस्स सोधी सक्का सतुसस्स कादुंजे ॥१३४८॥

बाह्य तप द्वारा अंतरग मे विशुद्धता आती है तथा जो धान्य सतुष है, उसका अतर्मल नष्ट नही होता है। तुषशून्य धान्य ही शुद्ध किया जाता है।

इस धान्य के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि अतरग मल दूर करने के पूर्व बाह्य स्थूल परिग्रह रूप मलिनता का त्याग अत्यन्त आवश्यक है।

कोई कोई लोग सोचते हैं, अतरंग पवित्रता पहले आती है, पश्चात् परिग्रह का त्याग होता है। यह भ्रमपूर्ण दृष्टि है। वस्त्रादि त्याग के उपरान्त परिणाम अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। वस्त्रादि सामग्री समलंकृत शरीर के रहते हुए देशसंयम गुणस्थान से आगे परिणाम नही जा सकते हैं।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि ऐसे कृत्रिम नग्न मुद्राधारी भी व्यक्ति रहते हैं, जिन्होंने बाह्य परिग्रह का तो त्याग कर दिया है, किन्तु जिनका मन स्वच्छ नही है, उस उच्चपदवी के अनुकूल नहीं है। इसके सिवाय यह भी विषय नही भुलाना चाहिए कि जिसको आतंरिक शुद्धि है, उसके पहले बाह्य परिग्रह रूप विकृति दूर होनी चाहिए।

बाह्य परिग्रह द्वारा जीव-घात

बाह्य परिग्रह में जिनको दोष नहीं दिखता है, वे कम से कम यह तो सोच सकते हैं कि वस्त्रादि को स्वच्छ रखने में, उनको धोने आदि के कार्य में त्रस-स्थावर जीवों का घात होता है, वह हिंसा समर्थ आत्मा बचा सकती है, अतः बाह्य परिग्रह के त्याग द्वारा अहिंसादि की परिपालना होती है, यह बात समन्वयशील न्यायबुद्धि मानव को ध्यान में रखना उचित है।

कोई-कोई सोचते हैं, कि हमारे यहाँ शास्त्रों में वस्त्रादि परिग्रह के त्याग बिना भी साधुत्व माना जाता है। ऐसे लोगों को आत्महितार्थ गहरा विचार करना चाहिए। यह सोचना चाहिए कि मनुष्य जीवन का पाना खिलवाड़ नहीं है। आत्मकल्याण के लिए भय, संकोच, मोहादि का त्याग कर सत्य को शिरोधार्य करना सत्पुरुष का कर्तव्य है।

संपूर्ण कर्मों का नाश करने वाले सिद्ध परमेष्ठी की पदवी अरहंत भगवान से बड़ी है, यद्यपि भगवान शब्द दोनों के लिए उपयोग में आता है।

सिद्धों के विशेष गुण

इन सिद्धों के चार अनुजीवी गुण कहे गए हैं। जो घातिया कर्मों के विनाश से अरहंत अवस्था में ही उत्पन्न होते हैं, वे गुण भावात्मक कहे गए हैं। ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, दर्शनावरण के विनाश से केवलदर्शन, मोहनीय के उच्छेद से अविचलित सम्यक्त्व तथा अंतराय के नाश द्वारा अनंतवीर्यता रूप गुणचतुष्टय प्राप्त होते हैं। अघातिया कर्मों के अभाव में चार प्रतिजीवी गुण उत्पन्न होते हैं। वेदनीय के विनाश से अव्याबाधत्व प्रगट होता है। गोत्र के नाश होने पर अगुरुलघुगुण प्राप्त होता है। नाम कर्म के अभाव में अवगाहनत्व तथा आयुकर्म के (जिसे जगत् मृत्यु, यमराज आदि नाम से पुकारता

जंबूद्वीप मे भरतक्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र तथा विदेह क्षेत्र (देवकुरु तथा उत्तरकुरु को छोडकर) रूप कर्मभूमिया मानी गई है। आजकल जबूद्वीप सम्बन्धी विदेह मे पूर्व तथा पश्चिम विदेहों के दो दो भागो मे चार तीर्थंकर विद्यमान है। धातकीखण्ड मे उनकी सख्या आठ कही है, कारण वहाँ दो भरत, दो ऐरावत, दो विदेह कहे गए हैं। पुष्करार्ध द्वीप मे धातकीखण्ड सदृश वर्णन है। वहाँ भी आठ तीर्थंकर विद्यमान है। इस प्रकार कम से कम ४+८+८=२० बीस विद्यमान तीर्थंकर कहे गए है। अधिक से अधिक तीर्थंकरों की सख्या एक समय मे एक सौ सत्तर मानी गई है।

तीर्थंकरों की संख्या

पंच भरत, पंच ऐरावत क्षेत्रो मे दुषमासुषमा नामके चतुर्थ कालमे दस तीर्थंकर होते हैं। एक विदेह मे बत्तीस तीर्थंकर होते हैं। पाँच विदेहो मे १६० तीर्थंकर हुए। कुल मिलाकर उनकी सख्या १७० कही गई है। हरिवशपुराण में लिखा है —

द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु ससप्तति-शतात्मके।
धर्मक्षेत्रे त्रिकालेभ्यो जिनादिभ्यो नमो नमः ॥२२—२७॥

अढाई द्वीप में १७० धर्मक्षेत्रो मे भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् काल सम्बन्धी अरहतादि जिनेन्द्रो को नमस्कार हो।

विदेह में तीर्थंकारों के कल्याणक

विदेह के तीर्थंकरो मे सबके पाँचो कल्याणको का नियम नही है। भरत तथा ऐरावत मे पचकल्याणकवाले तीर्थंकर होते हैं। विदेह में किन्ही के पाँच कल्याणक होते है, किन्ही के तीन होते हैं, किन्ही के दो भी कल्याणक होते हैं। इस विषय मे विशेष बात इस प्रकार जानना चाहिये कि विदेह में जन्मप्राप्त श्रावक ने तीर्थंकर के पादमूल मे तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। वह यदि चरमशरीरी है, तो उस जीव के तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक तथा निर्वाणकल्याणक होगे।

यदि श्रावक के स्थान में मुनि पदवी प्राप्त महापुरुष ने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया और वह चरम शरीरी आत्मा है तो उनके ज्ञानकल्याणक तथा मोक्षकल्याणक होंगे। पाँच कल्याणक वाले तीर्थंकर तो सर्वत्र विख्यात हैं। चार कल्याणक तथा एक कल्याणक वाले तीर्थंकर नहीं होते। कहा भी है :—

"तीर्थबंधप्रारंभश्चरमांगाणामसंयत-देशसंयतयोस्तदा कल्याणानि निःक्रमणादीनि त्रीणि, प्रमत्ताप्रमत्तयोस्तदा ज्ञाननिर्वाणे द्वे। प्राग्भवे तदा गर्भावतारादीनि पंचेत्यवसेयम्" (गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ५४६, संस्कृतटीका पृष्ठ ७०८)—जब तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ चरमशरीरी असंयमी अथवा देशसंयमी करते हैं, तब तप, ज्ञान तथा निर्वाण ये तीन कल्याणक होते हैं। जब प्रमत्त संयत तथा अप्रमत्त संयत बंध का प्रारंभ करते है, तब ज्ञान और निर्वाण ये दो कल्याणक होते हैं। यदि पूर्वभव में बंध को प्रारम्भ किया था, तो गर्भावतरण आदि पंचकल्याणक होते हैं।

सूक्ष्म विचार

इस संबंध में सूक्ष्म विचार द्वारा यह महत्व की बात अवगत होगी कि तीर्थंकर प्रकृति सहित आत्मा को तीर्थंकर कहते हैं। उसका उदय केवली भगवान में रहता है। उसकी सत्ता में तो मिथ्यात्व गुण-स्थान तक हो सकता है। एक व्यक्तिने भरतक्षेत्र में तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया। वह मरण कर यदि दूसरे या तीसरे नरक में जन्म धारण करता है, तो अपर्याप्तावस्था में वह मिथ्यात्वी ही होगा। सम्यक्त्वी जीव का दूसरी आदि पृथ्वियों में जन्म नहीं होता है। उन पृथ्वियों में उत्पत्ति के उपरान्त सम्यक्त्व हो सकता है। तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला जीव तीसरे नरक तक जाता है। वहां सम्यक्त्व उत्पन्न होने के उपरान्त पुनः तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है। गो० कर्मकांड में कहा है "घम्मे तित्थं बंधदिवंसा-मेघाण पुण्णगो चेव।" (गाथा

है) विनाश होने पर सूक्ष्मत्व गुण प्रगट होते हैं । इन अनुजीवी तथा प्रतिजीवी गुणो से समलकृत यह सिद्ध पर्याय है । इसे स्वभाव-द्रव्य-व्यजन-पर्याय भी कहा है । आलाप-पद्धति मे लिखा है 'स्वभाव-द्रव्य-व्यजन-पर्यायाश्चरमशरीरात्-किंचित-न्यून-सिद्धपर्याय' (पृष्ठ १६६)

कैलाशगिरि पर चतुर्विंशति जिनालय

भगवान ऋषभदेव के निर्वाण के कारण कैलाश पर्वत पूज्य स्थल बन गया । चक्रवर्ती भरत ने उस पर्वत पर अपार वैभवपूर्ण जिन मदिर बनवाए थे । उन मदिरो की रक्षार्थ अजितनाथ भगवान के तीर्थ मे उत्पन्न सगर चक्रवर्ती के पुत्रो ने आसपास खाई खोदकर उसे जल से भरा था । उत्तरपुराण में कहा है :—

राज्ञाप्याज्ञापिता यूयं कैलासे भरतेशिना ।
गृहा कृता महारत्नैश्चतुर्विंशतिरर्हताम् ॥१०७॥
तेषां गंगां प्रकुर्वीध्वं परिखां परितो गिरिम् ।
इति तेपि तथा कुर्वन् दंडरत्नेन सत्वरम् ॥१०८॥ अध्याय १

चक्रवर्ती सगर ने अपने पुत्रों को आज्ञा दी, कि महाराज भरत ने कैलाश पर्वत पर महारत्नों के अरहंत देव के चौबीस जिनालय बनवाए हैं । उस पर्वत के चारो ओर खाई के रूप में गंगा का प्रवाह बहा दो । यह सुनकर उन राजपुत्रो ने दण्डरत्न लेकर शीघ्र ही उस काम को पूर्ण कर दिया ।

गुणभद्र आचार्य ने यह भी कथन किया है कि राजा भगीरथ ने वैराग्य उत्पन्न होने पर वरदत्त पुत्र को राज्यलक्ष्मी देकर कैलाश पर्वत पर जाकर शिवगुप्त महामुनि के समीप जिन दीक्षा ली और और गगा के किनारे ही प्रतिमायोग धारण किया । गंगा के तट से ही उन्होने मोक्ष प्राप्त किया था । इन्द्र ने आकर क्षीरसागर के जल से भागीरथ मुनि के चरणों का अभिषेक किया था । उस अभिषेक का जल गंगा में मिला; तब से ही यह गगा इस ससार में तीर्थ रूप में पूज्य मानी जाती है । गुणभद्राचार्य कहते हैं :—

सुरेन्द्रेणास्य दुग्धाब्धि-पयोभिरभि षेचनात्।
क्रमशो स्तत्प्रवाहस्य गंगायाः संगमे सति ॥१५०॥

तदाप्रभृति तीर्थदं गंगाप्यस्मिन्नुपागता।
कृत्वोत्कृष्टं तपो गंगातटे सौ निर्वृ ति गतः ॥१-१४१॥

वैदिक लोग भी कैलाशगिरि को पूज्य मानते हैं—वे हिमालय पर्वत के समीप जाकर कैलाश की यात्रा करते हैं। कैलाश का जैसा वर्णन उत्तरपुराण में किया गया है, वैसी सामग्री का सद्भाव अब तक ज्ञात नहीं हो सका है। उसके विषय में यदा कदा कोई लेख भी छपे हैं, किन्तु उनके द्वारा ऐसी सामग्री नहीं मिली है, जिसके आधार पर उस तीर्थ की वंदना का लाभ उठाया जा सके। कैलाश नाम के पर्वत का ज्ञान होने के साथ निर्वाण स्थल के सूचक कुछ जैनचिन्हों का सद्भाव ही उस तीर्थ के विषय में संदेहमुक्त कर सकेगा। अब तक तो उसके विषय में पूर्ण अजानकारी है।

उपयोगी चिंतवन

भव्यात्माओं को मोक्ष प्राप्त तीर्थंकरों के विषय में यह विचार करना चाहिये कि चैतन्य-ज्योति समलंकृत चौबीसों भगवान सिद्धालय में विराजमान हैं। भगवान ऋषभदेव, वासुपूज्य और नेमिनाथ ने पद्मासन से मोक्ष प्राप्त किया, शेष इक्कीस तीर्थंकरों की मुक्ति खड्गासन से हुई थी, अतः उनका उसी आसन में चिंतवन करना चाहिये। जैसे दीपावली के प्रभात समय महावीर प्रभु के विषय में ध्यान करते समय सोचना चाहिए कि पावापुरी के चरणों के ठीक ऊपर लोक के अग्रभाग में खड्गासन से सात हाथ ऊँचाई वाली आत्मज्योति विराजमान है। तिलोयपण्णत्ति में कहा है—

उसहो य वासुपुज्जो णेमी पल्लंकबद्धया सिद्धा।
काउसग्गेण जिणा सेसा मुत्ति समावण्णा ॥४—१२१०॥

मोक्ष की प्राप्ति के योग्य स्थान कर्मभूमि मानी गई हैं। पन्द्रह कर्मभूमियाँ जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड तथा पुष्करार्ध द्वीप में हैं।

जंबूद्वीप मे भरतक्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र तथा विदेह क्षेत्र (देवकुरु तथा उत्तरकुरु को छोडकर) रूप कर्मभूमियां मानी गई है। आजकल जवूद्वीप सम्बन्धी विदेह मे पूर्व तथा पश्चिम विदेहो के दो दो भागो में चार तीर्थकर विद्यमान है। धातकीखण्ड मे उनकी संख्या आठ कही है, कारण वहाँ दो भरत, दो ऐरावत, दो विदेह कहे गए हैं। पुष्करार्ध द्वीप मे धातकीखण्ड सदृश वर्णन है। वहाँ भी आठ तीर्थंकर विद्यमान है। इस प्रकार कम से कम ४+८+८=२० बीस विद्यमान तीर्थंकर कहे गए है। अधिक से अधिक तीर्थंकरों की संख्या एक समय मे एक सौ सत्तर मानी गई है।

तीर्थंकरों की संख्या

पच भरत, पच ऐरावत क्षेत्रो मे दुपमासुपमा नामके चतुर्थ कालमे दस तीर्थकर होते है। एक विदेह मे बत्तीस तीर्थकर होते हैं। पॉच विदेहो मे १६० तीर्थकर हुए। कुल मिलाकर उनकी सख्या १७० कही गई है। हरिवशपुराण में लिखा है —

> द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु ससप्तति-शतात्मके।
> धर्मक्षेत्रे त्रिकालेभ्यो जिनादिभ्यो नमो नमः ॥२२—२७॥

अढाई द्वीप मे १७० धर्मक्षेत्रो मे भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् काल सम्बन्धी अरहतादि जिनेन्द्रो को नमस्कार हो।

विदेह में तीर्थकारों के कल्याणक

विदेह के तीर्थकरो मे सबके पाँचो कल्याणको का नियम नही है। भरत तथा ऐरावत मे पचकल्याणकवाले तीर्थकर होते है। विदेह मे किन्ही के पॉच कल्याणक होते है, किन्ही के तीन होते हैं, किन्ही के दो भी कल्याणक होते हैं। इस विषय में विशेष बात इस प्रकार जानना चाहिये कि विदेह मे जन्मप्राप्त श्रावक ने तीर्थंकर के पादमूल में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। वह यदि चरमशरीरी है, तो उस जीव के तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक तथा निर्वाणकल्याणक होंगे।

यदि श्रावक के स्थान में मुनि पदवी प्राप्त महापुरुष ने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया और वह चरम शरीरी आत्मा है तो उनके ज्ञानकल्याणक तथा मोक्षकल्याणक होंगे। पाँच कल्याणक वाले तीर्थंकर तो सर्वत्र विख्यात हैं। चार कल्याणक तथा एक कल्याणक वाले तीर्थंकर नहीं होते। कहा भी है :—

"तीर्थबंधप्रारंभश्चरमांगाणामसंयत-देशसंयतयोस्तदा कल्याणानि निःक्रमणादीनि त्रीणि, प्रमत्ताप्रमत्तयोस्तदा ज्ञाननिर्वाणे द्वे। प्राग्भवे तदा गर्भावतारादीनि पंचेत्यवसेयम्" (गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ५४६, संस्कृतटीका पृष्ठ ७०८)—जब तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ चरमशरीरी असंयमी अथवा देशसंयमी करते हैं, तब तप, ज्ञान तथा निर्वाण ये तीन कल्याणक होते हैं। जब प्रमत्त संयत तथा अप्रमत्त संयत बंध का प्रारंभ करते है, तब ज्ञान और निर्वाण ये दो कल्याणक होते हैं। यदि पूर्वभव में बंध को प्रारम्भ किया था, तो गर्भावतरण आदि पंचकल्याणक होते हैं।

सूक्ष्म विचार

इस संबंध में सूक्ष्म विचार द्वारा यह महत्व की बात अवगत होगी कि तीर्थंकर प्रकृति सहित आत्मा को तीर्थंकर कहते हैं। उसका उदय केवली भगवान में रहता है। उसकी सत्ता में तो मिथ्यात्व गुणस्थान तक हो सकता है। एक व्यक्तिने भरतक्षेत्र में तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया। वह मरण कर यदि दूसरे या तीसरे नरक में जन्म धारण करता है, तो अपर्याप्तावस्था में वह मिथ्यात्वी ही होगा। सम्यक्त्वी जीव का दूसरी आदि पृथ्वियों में जन्म नहीं होता है। उन पृथ्वियों में उत्पत्ति के उपरान्त सम्यक्त्व हो सकता है। तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला जीव तीसरे नरक तक जाता है। वहां सम्यक्त्व उत्पन्न होने के उपरान्त पुनः तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है। गो० कर्मकांड में कहा है "घम्मे तित्थं बंधदिवंसा-मेघाण पुण्णगो चेव।" (गाथा

१०६) । तीर्थंकर प्रकृति के बंध का आरंभ मनुष्य गति में होता है, उसका निष्ठापन देवगति-तथा नरकगति मे भी होता है ।

तीर्थंकर का निर्वाण

तीर्थंकर रूप में जन्म धारण करने वाली आत्मा के गर्भ, जन्म, तप तथा ज्ञान कल्याणक होते है। इन अवस्थाओ में तीर्थंकर प्रकृति का अस्तित्व रहता है । अयोग केवली के अंतिम समय में तीर्थंकर प्रकृति का क्षय हो गया, अत उसकी सत्ता शेष नही रही । निर्वाण प्राप्त सिद्ध जीव के तीर्थंकर प्रकृति नही है । उनका निर्वाण-कल्याणक किस प्रकार तीर्थंकर का निर्वाण कल्याणक कहा जायेगा ? अब तो वे तीर्थंकर पद वाच्यता से अतीत हो चुके है, अतएव सूक्ष्म दृष्टि से तीर्थंकर नामकर्म सहित आत्मा के गर्भ, जन्म, दीक्षा तथा ज्ञान कल्याणक कहे जायंगे ।

यहा यह शंका उत्पन्न होती है कि आगम में तीर्थंकर को पचकल्याणक-सपन्न (पचकल्लाण-सपण्णाण) क्यो कहा है ? इसके समाधान मे यही कहा जायगा, कि भूतपूर्व नैगम नय की अपेक्षा यह कहा जाता है । एवभूतनय की अपेक्षा ऐसा नही कहा जा सकता । जैन धर्म का सौन्दर्य उसकी स्याद्वादमयी पवित्र देशनामे है, जिसके कारण अविरोध रूप से पदार्थ का कथन होता है । उसी स्याद्वाद से इस प्रश्न पर दृष्टि डालने पर शंका दूर हो जाती है ।

भरत तथा ऐरावत मे पचकल्याणक वाले ही तीर्थंकर क्यो होते है, विदेह के समान तीन अथवा दो कल्याणक सपन्न महापुरुष क्यों नही होते ? इसका विशेष कारण चितनीय है । भरत तथा ऐरावत में एक उत्सर्पिणी में चौबीस तीर्थंकर होते हैं और अवसर्पिणी में भी चौबीस होते है । अवसर्पिणी के चौथे काल में तथा उत्सर्पिणी के तीसरे काल में इनका सद्भाव माना गया है । दुषमा-सुषमा काल के सिवाय अन्य कालो के होने पर इन स्थानो मे मोक्षमार्ग

नहीं रहता । विदेह में नित्य मोक्षमार्ग है, कारण वहां दुषमासुषमा काल का सदा सद्भाव पाया जाता है । वहां तो ऐसा होता है कि एक तीर्थंकर के समक्ष कोई भव्य तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है । जब गुरुदेव तीर्थंकर मोक्ष चले गए, तो उस समय इस चरम शरीरी आत्मा के दीक्षा लेने पर तपादि कल्याणकों के क्रम में बाधा नहीं आती । दो तीर्थंकरों का परस्पर में दर्शन नही होता, जैसे दो चक्रवर्तियों आदि का भी परस्पर दर्शन नहीं होता । भरत तथा ऐरावत में ऐसी पद्धति है कि एक तीर्थंकर के समीप किसी ने तीर्थंकर प्रकृति क बंध किया है जैसे श्रेणिक राजा ने वीर भगवान के सानिध्य में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया था । उसके उपरान्त वह जीव या तो स्वर्ग में जायगा, या नरक में जायगा, इसके पश्चात वह तीसरे भव में तीर्थंकर होकर मुक्त होता है ।

विदेह नित्य धर्मभूमि है, अतएव वहां चरम शरीरी जीव तीर्थंकर प्रकृति का बंधकर उसी भवमें मोक्ष जाता है । भरतक्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र में एक ही भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके उसी भव से मोक्ष जाने का क्रम नहीं है । बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण कल्पकाल में भरत तथा ऐरावत में चौबीस तीर्थंकर उत्सर्पिणी में तथा चौबीस ही अवसर्पिणी में होंगे । विदेह का हाल अपूर्व है । इतने लम्बे काल में वहां से विपुल संख्या में तीर्थंकर मुक्ति प्राप्त करते हैं । एक कोटि पूर्व की आयु प्राप्त कर मोक्ष जाने के पश्चात् दूसरे तीर्थंकर की उत्पत्ति होने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है ।

सिद्धलोक और कर्मभूमि का क्षेत्रफल

कर्मभूमियों से ही जीव सिद्ध होते हैं, किन्तु सिद्धलोक का क्षेत्र पैतालीस लाख योजन प्रमाण कहा है, उसमें कर्मभूमि तथा भोगभूमियों का क्षेत्र आ जाता है । अतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत क्षेत्र, हरिक्षेत्र, रम्यक क्षेत्र, हैरण्यवत

क्षेत्रों से भी मोक्ष होता है ? यदि मोक्ष मानते हो, तो उनको भोगभूमि के स्थान में कर्मभूमि क्यों नही कहा गया है ?

इस प्रश्न का समाधान अत्यन्त सरल है। सर्वार्थसिद्धि का कथन ध्यान देने योग्य है, "कस्मिन् क्षेत्रे सिध्यन्ति ? प्रत्युत्पन्नग्राहिनयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे, स्वप्रदेशे, आकाश प्रदेशे वा सिद्धिर्भवति। भूतग्राहिनयापेक्षया जन्म प्रति पचदशासु कर्मभूमिषु, सहरण प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धि "(अध्याय १०, सूत्र ९ की टीका)।

प्रश्न—किस क्षेत्र में सिद्ध होते है ?

उत्तर—वर्तमान को ग्रहण करने वाले नय की अपेक्षा निर्वाणक्षेत्र से मुक्त होते है, अपनी आत्मा के प्रदेशो मे मुक्त होते हैं, अथवा शरीर के द्वारा गृहीत आकाश के प्रदेशो से सिद्धि होती है। भूतकाल को ग्रहण करने वाले नय की अपेक्षा से पंद्रह कर्मभूमि मे जन्म प्राप्त जीव वहा से सिद्ध होता है। वहां जन्म प्राप्त जीव को देव आदि अन्य क्षेत्रों मे ले जावे, तो समस्त मनुष्यक्षेत्र निर्वाणभूमि है। इस कथन से शका का निराकरण हो जाता है।

महत्व की बात

सर्वार्थसिद्धि मे एक और सुन्दर बात लिखी है, "अवसर्पिण्या सुषम-दु षमाया अन्त्ये भागे दु षमसुषमायां च जात. सिध्यति। न तु दु षमाया जातो दु षमाया सिध्यति। अन्यदा नैव सिध्यति। सहरणत. सर्वस्मिन्काले उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च सिध्यति" (१० अध्याय, सूत्र ९)—अवसर्पिणी काल मे सुषम-दु षमा नाम के तृतीय काल के अतिम भाग मे तथा दु षम-सुषमा नामके चतुर्थकाल में जन्मधारण करने वाला मोक्ष जाता है। दु षमा नामक पंचम काल में उत्पन्न हुआ पचम काल मे मुक्त नही होता। अन्यकालों मे मोक्ष नही होता। किसी देवादि के द्वारा लाया गया जीव उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के सभी कालों में सिद्ध पदवी को प्राप्त करता है। इस

कथन का भाव यह है कि विदेह सदृश कर्मभूमि में सदा मोक्षमार्ग चालू रहता है। अन्य कर्मभूमि के क्षेत्रों में काल कृत परिवर्तन होने से मोक्षमार्ग रुक गया। ऐसे काल में भी देवादि के द्वारा लाया जीव इन क्षेत्रों से मुक्त हो सकता है, जहां मुक्ति जाने योग्य चतुर्थ काल का सद्भाव नहीं है।

प्रश्न :—जब समस्त पैंतालीस लाख योजन प्रमाण मनुष्य क्षेत्र को निर्वाणस्थल माना है, तब पावापुरी, चम्पापुरी आदि कुछ विशेष स्थानों को निर्वाण स्थल मानकर पूजने की पद्धति का अन्तरंग रहस्य क्या है ?

समाधान—आगम में लिखा है कि छठवें काल के अन्त में जब उनचास दिन शेष रहते हैं, तब जीवों को त्रासदायक भयंकर प्रलयकाल प्रवृत्त होता है। उस समय महा गंभीर एवं भीषण संवर्तक वायु बहती है, जो सात दिन पर्यन्त वृक्ष, पर्वत और शिला आदि को चूर्ण करती है। इससे जीव मूर्च्छित होते हैं और मरण को प्राप्त करते हैं। मेघ शीतल और क्षार जल तथा विष जल में से प्रत्येक को सात-सात दिन तक बरसाते हैं। इसके सिवाय वे मेघ-धूम, धूलि, वज्र तथा अग्नि की सात-सात दिन तक वर्षा करते हैं। इस क्रम से भरत क्षेत्र के भीतर आर्य खण्ड में चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित वृद्धिगत एक योजन की भूमि जलकर नष्ट हो जाती है। वज्र और महाअग्नि के बल से आर्य खण्ड की बढ़ी हुई भूमि अपने पूर्ववर्ती स्वरूप को छोड़कर धूलि एवं कीचड़ की कलुषता से रहित हो जाती है। (तिलोयपण्णत्ति ३४७ पृष्ठ)। उत्तरपुराण में लिखा है :—

ततो धरण्याः वैषम्यविगमे सति सर्वतः।
भवेच्चित्रा समा भूमिः समाप्तात्रावसर्पिणी ॥७६—४५३॥

उनचास दिन की अग्नि आदि की वर्षा से पृथ्वी का विषमपना दूर होगा और समान चित्रा पृथ्वी निकल आयगी। यहाँ पर ही अवसर्पिणी काल समाप्त हो जायगा। इसके पश्चात् उत्सर्पिणी

काल प्रारम होगा। उस समय क्षीर, अमृत आदि जाति के मेघों की वर्षा होगी, उससे सब वस्तुओं में रस उत्पन्न होगा।

आगम के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि छठवे काल के अन्त मे सभी भवनादि कृत्रिम सामग्री इस आर्य खण्ड में नष्ट हो जायगी, तब निर्वाण स्थान आदि का भी पता नही रहेगा। उस स्थिति मे आगामी होने वाले जीव अपने समय मे मोक्ष जाने वाले महापुरुषों के निर्वाण स्थानो को पूजेंगे। इतनी विशेष बात है कि सम्मेदशिखर को आगम में तीर्थंकरो की स्थायी निर्वाण भूमि माना है। इस हुँडावसर्पिणी कालके कारण आदिनाथ भगवान का कैलाश, नेमिनाथ का गिरनार, वासुपूज्य का चंपापुर तथा वीर प्रभु का पावापुर निर्वाण स्थान बन गए। अन्य काल में ऐसा नही होता; इसलिए सम्मेदशिखर तो अविनाशी तीर्थरूपता धारण करता रहेगा। अन्य तीर्थों की ऐसी स्थिति नही है। इससे उनकी शाश्वतिकता स्वीकार नही की गई है।

यह बात भी विचारणीय है कि जिस स्थान से किन्ही पूज्य आत्माओ का साक्षात् संबध रहा है, जिसका इतिहास है, उस स्थान पर जाने से भक्त हृदय को पर्याप्त प्रेरणा मिलती है। उज्ज्वल भावनायें जागती हैं। अन्य स्थान में ऐसा नही होता। पावापुरी के पुण्य पद्मसरोवर में जो पवित्र परिणाम होते हैं, वे भाव समीपवर्ती अन्य ग्रामों मे नही होते, यद्यपि अतीत काल की अपेक्षा सभी स्थानों से मुक्त होने वाली आत्माओ का सम्बन्ध रहा है। अपने कल्याण तथा लाभ का प्रत्यक्ष विचार करने वाला व्यक्ति उन स्थानो की ही वंदना करता है, जहाँ के बारे मे निश्चित इतिहास ज्ञात होता है। किस स्थान से कौन, कब मोक्ष गए इसका पता न हो, तो वह क्या प्रेरणा प्रदान करेगा? विचारवान् व्यक्ति उन्ही कार्यों मे प्रवृत्त होता है, जिनसे उसका हित होता है। इस प्रकाश में शका का निराकरण हो जाता है।

सिद्धों को प्रणाम करने वाला व्यक्ति लोकाग्रभाग में विराजमान समस्त मुक्त आत्माओं को प्रणाम करता है ।

निर्वाण भूमि की वंदना में एक विशेष आनन्द की बात यह रहती है कि चरण चिन्हों के समीप खड़े होकर हम कल्पना के द्वारा उस स्थान के ठीक ऊपर सिद्धलोक में विराजमान भगवान का विचार करके उनको प्रणाम कर सकते हैं । उस जगह के ठीक ऊपर सिद्ध रूप में भगवान हैं, यह हम ज्ञान नेत्र से देख सकते हैं । जैनधर्म में ये कृतकृत्य सिद्ध जीव ही परमात्मा माने गए हैं ।

सिद्धों की संख्या

मूलाचार में सिद्धों के विषय में अल्पबहुत्व पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है :—

> मणुसगदीए थोवा तेहि असंखिज्जगुणा णिरये ।
> तेहि असंखिज्जगुणा देवगदीए हवे जीवा ।१७०। पर्याप्तिअधिकार ।

सबसे कम जीव मनुष्य गति में हैं । उनसे असंख्यातगुणें नरकगति में हैं । नारकियों से असंख्यातगुणें देवगति में हैं ।

> तेहितोणंतगुणा सिद्धगदीए भवंति भवरहिया ।
> तेहितोणंतगुणा तिरयगदीए किलेसंता ॥१७१॥

देवगति के देवों की अपेक्षा सिद्धगति में संसार परिभ्रमण रहित अनंतगुणें सिद्ध भगवान हैं । उन सिद्धों से अनंतगुणें जीव तिर्यंचगति में क्लेश पाते हैं । तिर्यंचों में भी निगोदिया एकेन्द्रिय जीव अनंतानंत हैं ।

> एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
> सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥१९६॥ गो० जी०॥

सिद्धराशि से अनंतगुणें तथा सर्व व्यतीत काल से अनंतगुणें जीव हैं ।

इन विकासहीन दुःखी निगोदिया जीवों की विचित्र कथा है।

अत्थि अणंताजीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो।
भाव-कलंक-सुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ॥१९७॥ गो० जी०॥

उन तिर्यचगति के जीवो में ऐसे जीव भी अनत सख्या में है, जिन्होंने अब तक त्रस पर्याय नही प्राप्त की है। वे मलिनता-प्रचुर भावों के कारण निगोदवास को नही छोड पाते है।

अभव्यों की संख्या

ऐसी जीवो की स्थिति विचारते हुए किसी महान आत्मा का निर्वाण प्राप्त करना कितनी कठिन बात है, यह विवेकी व्यक्ति सोच सकते है। जीव राशि मे एक सख्या अभव्य जीवो की है, जिनका कभी निर्वाण नही होगा और वे ससार परिभ्रमण करते ही रहेगे। भव्यो की अपेक्षा उनकी सख्या अत्यन्त अल्प है। अभव्य राशि को अनत गुणित करने पर जो सख्या प्राप्त होती है, उससे भी अनत गुणित सिद्धो की राशि कही गई है। गोम्मटसार कर्मकाड में लिखा है—

सिद्धाणंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव।
समयपबद्धं बंधदि जोगवसादो विसरित्थं ॥४॥

सिद्धराशि के अनतवे भाग तथा अभव्यराशि से अनंत गुणित प्रमाण एक समय मे कर्मसमूह रूप समय-प्रबद्ध को यह जीव बाधता है। यह बंध योग के अनुसार विसदृश होता है अर्थात् कभी न्यून, कभी अधिक परमाणुओ का बध होता है।

जीवप्रबोधिनी टीका में उपरोक्त कथन इस प्रकार किया गया है :—

"सिद्धराश्यनंतैकभागं, अभव्यसिद्धेभ्योऽनंतगुणं तु-पुनः योगवशात् विसदृशं समयप्रबद्धं बध्नाति। समये समये प्रबध्यते इति समयप्रबद्धः"।

उत्सर्पिणी काल में सिद्धों की अल्प संख्या

राजवार्तिक में अकलंक स्वामी लिखते हैं, उत्सर्पिणी काल में सिद्ध होने वाले जीव सबसे कम हैं। अवसर्पिणी काल में सिद्ध होने वालों की संख्या उनसे विशेष अधिक कही गई है। अनुत्सर्पिणी-उत्सर्पिणी काल (विदेह में नित्य चतुर्थकाल रहता है अतः वहां उत्सर्पिणी-अनुत्सर्पिणी का विकल्प नहीं हैं। वहां का काल अनुत्सर्पिणी-उत्सर्पिणी काल कहा जायगा) की अपेक्षा सिद्ध संख्यातगुणे हैं। कहा भी है "सर्वस्तोका उत्सर्पिणी सिद्धाः। अवसर्पिणी सिद्धाः विशेषाधिकाः। अनुत्सर्पिण्यवसर्पिणी सिद्धाः संख्येयगुणाः"—(अध्याय १०, सूत्र १०)।

विशेष कथन

पूज्यपाद स्वामी ने कहा है—"सर्वतः स्तोका लवणोदसिद्धाः, कालोदसिद्धाः संख्येयगुणाः। जंबूद्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः। धातकीखण्डसिद्धाः संख्येयगुणाः। पुष्करार्धसिद्धाः संख्येयगुणाः" (अध्याय १०, सूत्र १०)—सबसे न्यून संख्या लवणसमुद्र से सिद्ध होने वालों की है। उनसे संख्यातगुणें कालोदधि से सिद्ध हुए हैं। उनसे भी संख्यात गुणित जंबूद्वीप से सिद्ध हैं। धातकीखंड द्वीप से सिद्ध होने वाले संख्यातगुणे हैं। पुष्करार्धद्वीप से सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे हैं। उन्होंने यह भी कहा है :—"जघन्येन एकसमये एकः सिध्यति, उत्कर्षेणाष्टोत्तरसंख्या"—जघन्य से एक समय में एक जीव सिद्ध होता है, अधिक से अधिक एक सौ आठ जीव एक समय में मुक्त होते हैं।

ज्ञानानुयोग की अपेक्षा सिद्धों के विषय में इस प्रकार कथन किया गया है। मति-श्रुत-मनःपर्ययज्ञान को प्राप्त करके सिद्ध होने वाले सबसे कम हैं। उनसे संख्यातगुणें मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान से सिद्ध हुए हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यज्ञान से सिद्ध

सख्यातगुणे हैं। मति-श्रुत तथा अवधिज्ञान से सिद्ध उनसे भी संख्यात गुणे हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि मोक्ष जाने वाली सयमी आत्मा मति-श्रुतज्ञान युगल के साथ अवधिज्ञानावरण का भी क्षयोपशम प्राप्त करती है। राजवार्तिक मे लिखा है—"सर्वस्तोका. मति-श्रुत-मन पर्ययसिद्धाः मतिश्रुतज्ञानसिद्धा. सख्येयगुणा। मतिश्रुतावधि-मन.पर्ययज्ञानसिद्धाः सख्येयगुणा। मतिश्रुतावधिज्ञानसिद्धाः संख्येय-गुणा." (पृष्ठ ३६७, अध्याय १०—१०)

जीवों की सामर्थ्य के भेद से कोई कोई अन्योपदश द्वारा प्रतिबुद्ध हो मुक्त होते हैं। कोई-कोई स्वय सिद्धिपद के स्वामी बनते हैं। अकलकस्वामी ने कहा है—"केचित् प्रत्येकबुद्धसिद्धाः, परोपदेश-मनपेक्ष्य स्वशक्त्यैवाविर्भूतज्ञानातिशया.। अपरे बोधितबुद्ध-सिद्धाः, परोपदेशपूर्वकज्ञानप्रकर्षास्कदिन." (पृष्ठ ३६६)—कोई तो प्रत्येक बुद्ध-सिद्ध है, क्योकि उन्होने परोपदेश के विना अपनी शक्ति के द्वारा ज्ञानातिशय को प्राप्त किया है। अन्य बोधितबुद्ध-सिद्ध कहे गए हैं, वे परोपदेशपूर्वक ज्ञान की उत्कृष्टता को प्राप्त करते हैं। इस अपेक्षा से तीर्थंकर भगवान 'प्रत्येकबुद्ध सिद्ध' कहे जावेंगे।

परमार्थ-दृष्टि

इस प्रकार विविध दृष्टियों से सिद्ध भगवान के विषय में परमागम मे प्रकाश डाला गया है। परमार्थतः सब सिद्ध समानरूप से स्वभावरूप परिणत हैं। उनका यथार्थ बोध न मिलने से एकान्त पक्षवालो ने भ्रान्त धारणाएँ बना ली है।

सिद्ध भगवान के विषय मे विविध अपरमार्थ विचारो का निराकरण करते हुए सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र कहते हैं—

अट्ठविहकम्मवियला सीदी भूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्ग-णिवासिणो सिद्धा ॥गो जी० ६८॥

वे सिद्ध भगवान ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों से रहित है, अतएव वे सदाशिव मत की मान्यता के अनुसार सदा से मुक्त अवस्था संपन्न

नहीं है। वे जन्म, मरणादि रूप सहज दुःख, रागादि से उद्भूत शारीरिक दुःख, सर्पादि से उत्पन्न आगंतुक पीड़ा, आकुलता रूप मानसिक व्यथा आदि के संताप से रहित होने से शीतलता प्राप्त हैं, अतएव सुखी हैं। इससे साँख्यमत की कल्पना का निराकरण होता है, क्योंकि वह सांख्य मुक्तात्मा के सुख का अभाव कहता है:—"अनेन मुक्तौ आत्मनः सुखाभावं वदन् सांख्यमतमपाकृतम्"

वे भगवान कर्मों के आस्रव रूप मल रहित होने से निरंजन हैं। इससे सन्यासी (मस्करी नामके) मत का निराकरण होता है, जो कहता है, "मुक्तात्मनः पुनः कर्मांजनसंसर्गेण संसारोस्ति"—मुक्तात्मा के फिर से कर्मरूपी मल के संसर्ग होने के कारण संसार होता है। वे सिद्ध प्रति समय अर्थपर्यायों द्वारा परिणमन युक्त होते हुए उत्पाद-व्यय को प्राप्त करते हैं तथा विशुद्ध चैतन्य-स्वभाव के सामान्य भाव रूप जो द्रव्य का आकार है वह अन्वय रूप है, उसके कारण सर्व कालाश्रित अव्यय रूप होने से वे नित्यता युक्त हैं। इससे "परमार्थतो नित्यद्रव्यं न"—वास्तव में कोई नित्य पदार्थ नहीं है, किन्तु प्रतिक्षण विनाशीक पर्याय मात्र हैं, इस बौद्ध मत का निराकरण होता है। वे वे ज्ञानवीर्यादि अष्ट गुणयुक्त हैं। "इत्युपलक्षणं तेन तदनुसायनंत-गुणानां तेष्वेवांतर्भावः"—में आठ गुण उपलक्षण मात्र हैं। इनमें उन गुणों के अनुसारी अनंतानंत गुणों का अंतर्भाव हो जाता है। इससे नैयायिक तथा वैशेषिक मतों का निराकरण हो जाता है; जो कहते हैं, "ज्ञानादिगुणा-नामत्यंतोच्छित्तिरात्मनो मुक्तिः"—ज्ञानादि गुणों के अत्यन्ताभाव रूप मोक्ष है।

वे भगवान कृतकृत्य हैं, क्योंकि उन्होंने "कृतं निष्ठापितं कृत्यं सकलकर्मक्षयतत्कारणानुष्ठानादिकं यैस्ते कृतकृत्याः," सम्यग्दर्शन चारित्रादि के अनुष्ठान द्वारा सकल कर्मक्षय रूप कृत्य अर्थात् कार्य को संपन्न कर लिया है। इससे उस मान्यता का निराकरण होता है, जिसमें सदामुक्त ईश्वर को विश्व निर्माण में संलग्न बताकर अकृत-

कृत्य कहा गया है (ईश्वरः सदामुक्तोपि जगन्निर्माणे कृतादरत्वेना-कृतकृत्य.) ।

वे लोकत्रय के ऊपर तनुवातवलय के अंत में निवास करते हैं (तनुवातप्रांते निवासिनः—स्थास्नव·) । इससे माडलिक मत का निवारण होता है, जो मानता है कि मुक्त जीव विश्राम न कर निरन्तर ऊपर ही ऊपर चले जाते हैं (आत्मन उर्ध्वगमन-स्वाभाव्यात् मुक्ता-वस्थाया क्वचिदपि विश्रामाभावात् उपर्युपरि गमनमिति वदन्माडलिक-मत प्रत्यस्त । गो० जी० टीका पृष्ठ १७८) ।

पंचम सिद्धगति

मुक्तात्माओं की गति को सिद्धगति कहा है । यह चार गतियों से भिन्न है, जिनके कारण ससार में परिभ्रमण होता है । इस पंचम गति के विषय मे नेमिचंद्राचार्य कहते हैं :—

जाइ-जरा-मरण-भया संजोगविजोग-दुक्ख-सण्णाओ ।
रोगादिगा य जिस्से ण सति सा होदि सिद्धगई ।। गो० जी० १५२।।

जिस गति मे जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग वियोग-जनित दुःख,[1] आहारादि सज्ञाए, शारीरिक व्याधि का अभाव है, वह सिद्धगति है ।

---

१ इस सिद्धगति के विषय मे गाम्मटसार जावकाण्ड के अंग्रेजी अनुवाद में स्व० जस्टिस जे० एल० जैनी लिखित यह अंश मार्मिक है :—

"The condition of liberated souls is described here. Liberation implies freedom from Karmic matter, which shrouds the real glory of the soul, drags it into various conditions and makes it experience multifarious pleasures and pains. But when all the karmas are destroyed, the soul which by nature has got an upward motion rises to the highest point of the universe—the Siddha-Shila and there lives for endless time in the enjoyment of its own glorious qualities un-encumbered by the worldly pleasures or pains This is the ideal condition of a soul (Gommatasara—Page 101)

इस सिद्धगति की कामना करते हुए मूलाचार में कहा है :—

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी।
जा गदी वीतमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ॥११६॥

जो गति अरिहंतों की है, जो गति कृतकृत्य सिद्धों की है, जो गति वीतमोह मुनीन्द्रों की है, वह मुझे सदा प्राप्त हो।

मुक्ति का उपाय

इस मुक्ति की प्राप्ति का यथार्थ उपाय जिनेन्द्र वीतराग के धर्म की शरण ग्रहण करना है। जैन प्रार्थना का यह वाक्य महत्वपूर्ण है :—"चत्तारि सरणं पव्वज्जामि। अरहंतसरणं पव्वज्जामि। सिद्ध-सरणं पव्वज्जामि। साहूसरणं पव्वज्जामि। केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि"—मैं चार की शरण में जाता हूँ; अरहंतों की शरण में जाता हूँ। सिद्धों की शरण में जाता हूँ। साधुओं की शरण में जाता हूँ। केवली प्रणीत धर्म की शरण में जाता हूँ। यहां धर्म का विशेषण 'केवलिपण्णत्तो' अर्थात् सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित' महत्वपूर्ण है। संसार के चक्र में फंसे हुए संप्रदायों के प्रवर्तकों से यथार्थ धर्म की देशना नहीं प्राप्त होती है।

मार्मिक कथन

इस प्रसंग में विद्यावारिधि स्व० चंपतरायजी बार-एट-ला का कथन चिंतन पूर्ण है :—

यथार्थ में जैनधर्म के अवलंबन से निर्वाण प्राप्त होता है। यदि अन्य साधना के मार्गों से निर्वाण मिलता, तो वे मुक्तात्माओं के विषय में भी जैनियों के समान स्थान, नाम, समय आदि जीवन की बातें उपस्थित करते। "No other religion is in a position to furnish a list of men, who have attained to God-hood by following its teachings." (Change of Heart, page 21)–जैन धर्म के सिवाय कोई भी धर्म उन लोगों की

सूची उपस्थित करने में समर्थ नहीं है, जिन्होंने उस धर्म की आराधना द्वारा ईश्वरत्व प्राप्त किया है।

इस सबध में चौबीस तीर्थंकरो की पूजा में आगत पाठ के परिशीलन से पर्याप्त प्रकाश प्राप्त होता है तथा शांति मिलती है। यहा वर्तमानकालीन तीर्थंकरों के जन्मस्थान, यक्ष-यक्षी, माता-पितादि का कथन करते हुए निर्वाण भूमि का वर्णनपूर्वक नमस्कार अर्पण किया गया है।

"साकेतपुरे नाभिराजमरुदेव्योर्जाताय कनकवर्णाय पंचशत-धनुरुत्सेधाय वृषभलाञ्छनाय, गोमुख-चक्रेश्वरी-यक्षयक्षीसमेताय चतुर-शीतिलक्षपूर्वायुष्काय कैलासपर्वते कर्मक्षयं गताय वृषभतीर्थंकराय नमस्कारं कुर्वे।

साकेतपत्तने जितारिनृप-विजयादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय गजलाञ्छनाय पचाशदधिकशतचतुष्टधनुरुत्सेधाय महायक्ष-रोहिणी–यक्षयक्षीसमेताय द्वासप्ततिलक्षपूर्वायुष्काय सम्मेदे सिद्धिवरकूटे कर्मक्षय-गताय श्रीमदजिततीर्थंकराय नमस्कार कुर्वे।

सावतीपत्तने दृढरथभूपति-सुषेणादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय चतु शतधनुरुत्सेधाय श्रीमुख-प्रज्ञप्ती-यक्षयक्षीसमेताय अश्वलाञ्छनाय षष्ठिलक्षपूर्वायुष्काय संमेदगिरौ दत्तधवलकूटे परिनिर्वृताय श्रीशंभव-तीर्थंकराय नमस्कारं कुर्वे।

श्रीकौशलदेशे अयोध्यापत्तने संवरनृप-सिद्धार्थमहादेव्यो र्जाताय सुवर्णवर्णाय पंचाशदधिकत्रिशतधनुरुत्सेधाय पंचाशल्लक्ष-पूर्वायुष्काय कपिलाञ्छनाय यक्षेश्वरवज्रश्रृंखलायक्षयक्षीसमेताय सम्मेद-गिरौ आनदकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीमदभिनंदनतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे।

अयोध्यापुरे मेघरथनृप-सुमंगलादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय त्रिशतधनुरुत्सेधाय चक्रवाकलाञ्छनाय चत्वारिंशल्लक्षपूर्वायुष्काय तुंबर-

पुरुपदत्तायक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे अविचलकूटे कर्मक्षयं गताय श्रीसुमतितीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे।

कौशांबीपत्तने धरणनृप-सुपीमादेव्योर्जाताय लोहितवर्णाय कमललांछनाय त्रिंशल्लक्षपूर्वायुष्काय पंचाशदधिक-द्विशतधनुरुत्सेधाय पुष्प-मनोवेगायक्षयक्षीसमेताय सम्मेदगिरौ मोहनकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीपद्मप्रभतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे।

वाराणसीपत्तने सुप्रतिष्ठनृप – पृथ्वीदेमहादेव्योर्वोर्जाताय स्वस्तिकलांछनाय हरितवर्णाय द्विशतधनुरुत्सेधाय चतुर्विंशतिलक्ष-पूर्वायुष्काय वरनंदि-कालीयक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे प्रभासकूटे कर्म-क्षयंगताय श्रीसुपार्श्वतीर्थंकराय नमस्कारं कुर्वे।

चंद्रपुरीपत्तने महासेनमहाराज – लक्ष्मीमतीदेव्योर्जाताय चंद्रलांछनाय शुभ्र-वर्णाय पंचाशदधिकैकशत-धनुरुत्सेधाय दशलक्ष पूर्वायुष्काय शाम-ज्वालामालिनीयक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे ललितघन-कूटे कर्मक्षयंगताय श्रीचंद्रप्रभुतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे।

काकंदीपत्तने सुग्रीवमहाराज–जयरामादेव्योर्जाताय शुभ्र-वर्णाय शतधनु - रुत्सेधाय द्विलक्षपूर्वायुष्काय कर्कटलांछनाय अजित-महाकाली - यक्षयक्षीसमेताय संमेदगिरौ सुप्रभकूटे कर्मक्षयंगताय श्री पुष्पदंततीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे।

भद्रपुरेदृढ़रथमहाराजसुनंदादेव्योर्जाताय श्रीवृक्षलांछनाय इक्ष्वाकुवंशाय, सुवर्णवर्णाय नवतिधनुरुत्सेधाय एकलक्षपूर्वायुष्काय ब्रह्म-कालीयक्षयक्षीसमेताय सम्मेदगिरौ विद्युद्वरकूटे कर्मक्षयंगताय श्री शीतलतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे।

सिंहपुराधीश्वरविष्णुनृपति-नंदादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय गंडलांछनाय अशीतिधनुरुत्सेधाय चतुरशीतिलक्षवर्षा-युष्काय ईश्वरगौरीयक्ष-यक्षीसमेताय सम्मेदगिरौ संकुलकूटे कर्मक्षयं गताय श्रीश्रेयांसतीर्थंकराय नमस्कारं कुर्वे।

वसुपूज्यनृप-जयादेव्योर्जाताय कुमारवालब्रह्मचारिणे रक्त-वर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय महिषलाञ्छनाय सप्ततिधनुरुत्सेधाय द्वासप्तति-लक्षवर्षायुष्काय सुकुमार-गान्धारी-यक्षयक्षीसमेताय चंपापुरसमीपे रजतवालुकाख्यनदीतीरे मंदरशैलशिखरे मनोहरोद्याने मोक्षंगताय श्री वासुपूज्यतीर्थंकराय नमस्कार कुर्वे ।

काम्पिल्याख्यनगरे कृतवर्मनृप-आर्यश्यामादेव्योर्जाताय सुवर्ण-वर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय वराहलाञ्छनाय षष्ठिधनुरुत्सेधाय पञ्चाशल्लक्ष वर्षायुष्काय षण्मुख-वैरोटी-यक्षयक्षीसमेताय समेदगिरौ वीरसंकुल-कूटे कर्मक्षयगताय श्रीविमलतीर्थंकराय नमस्कार कुर्वे ।

अयोध्यापत्तने सिंहसेननृपति-जयश्यामादेव्योर्जाताय सुवर्ण-वर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय पञ्चाशद्धनुरुत्सेधाय त्रिंशल्लक्षवर्षायुष्काय भल्लूकलाञ्छनाय पातालअनंतमतीयक्षयक्षी–समेताय समेदगिरौ कर्मक्षयगताय श्रीमदनंततीर्थंकराय नमस्कार कुर्वे ।

रत्नपुरे भानुमहाराज-सुप्रभामहादेव्योर्जाताय हाटकवर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय वज्रलाञ्छनाय पंचोत्तरचत्वारिंशद्धनुरुत्सेधाय दशलक्ष-वर्षायुष्काय किन्नर-मानसीयक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे दत्तवरकूटे परिनिर्वृताय श्रीधर्मनाथतीर्थेश्वराय नमस्कार कुर्वे ।

हस्तिनापुरे विश्वसेनमहाराज - ऐराबामहादेव्योर्जाताय काञ्चनवर्णाय चत्वारिंशद्धनुरुत्सेधाय एकलक्षवर्षायुष्काय गरुड-महामानसी-यक्षयक्षीसमेताय हरिणलाञ्छनाय कुरुवंशाय सम्मेदशिखरे प्रभासाख्यकूटे कर्मक्षयगताय श्रीशांतिनाथतीर्थेश्वराय नमस्कार कुर्वे ।

हस्तिनाख्यपत्तने श्रीसूरसेनमहाराज-कमलामहादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय पञ्चाधिकत्रिंशद्धनुरुत्सेधाय पंचोत्तरनवतिसहस्त्रवर्षा-युष्काय अजलाञ्छनाय कुरुवंशाय गंधर्व–जयायक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे ज्ञानधरकूटे कर्मक्षयगताय श्रीकुंथुतीर्थेश्वराय नमस्कार कुर्वे ।

हस्तिनापुरे सुदर्शनमहाराज – सुमित्रादेव्योर्जाताय सुवर्ण-वर्णाय कुरुवंशाय त्रिंशद्धनुरुत्सेधाय मत्स्यलांछनाय चतुरशीतिसहस्र–वर्षायुष्काय माहेन्द्र-विजययक्षयक्षीसमेताय सम्मेदगिरौ नाटककूटे कर्मक्षयंगताय श्रीमदरतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

मिथिलापत्तने कुंभमहाराजप्रभावतीदेव्योर्जाताय हाटकवर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय पंचविंशतिधनुरुत्सेधाय पंचपंचाशतसहस्र - वर्षायुष्काय कुंभलांछनाय कुबेरअपराजित-यक्षयक्षीसमेताय श्रीसम्मेदे संबलकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीमल्लितीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

राजगृहपत्तने सुमित्रमहाराजपद्मावतीदेव्योर्जाताय इन्द्रनील-रत्नवर्णाय विंशतिचापोन्नताय त्रिंशत् सहस्रवर्षायुष्काय-कच्छपलांछनाय वरुणबहुरूपिणी - यक्षयक्षीसमेताय हरिवंशाय सम्मेदगिरौ निर्जरकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीमुनिसुव्रततीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

मिथिलाख्यपत्तने विजयनृप-वप्रिलामहादेव्योर्जाताय कनक-वर्णाय पंचदशधनुरुत्सेधाय दशसहस्रवर्षायुष्काय कैरवलांछनाय भृकुटि-चामुण्डीयक्षयक्षीसमेताय इक्ष्वाकुवंशाय सम्मेदगिरौ मित्र-धरकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीनमितीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

शौरीपुराधीश्वरसमुद्रविजयमहाराजमहादेवीशिवदेव्यो र्जाताय नीलनीरदनिभवर्णाय दशचापोन्नताय सहस्रवर्षायुष्काय शंख लांछनाय हरिवंशतिलकाय सर्वाह्न - कूष्माण्डिनी - यक्षयक्षीसमेताय ऊर्जयन्तशिखरे परिनिर्वृताय श्रीनेमितीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

वाराणसीनगरे विश्वसेनमहाराज - ब्रह्मामहादेव्योर्जाताय हरितवर्णाय नवकरोन्नताय शतवर्षायुष्काय सर्पलांछनाय धरणेन्द्र-पद्मावतीयक्षयक्षी-समेताय उग्रवंशाय सम्मेदगिरौ सुवर्णभद्रकूटे परि-निर्वृताय श्रीपार्श्वतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

श्रीकुण्डपुरे सिद्धार्थनरेशप्रियकारिणीदेव्योर्जाताय हेमवर्णाय सप्तहस्तोन्नताय द्वासप्ततिवर्षायुष्काय केसरिलांछनाय मातंग-

सिद्धायिनी-यक्षयक्षीसमेताय नाथवंशाय पावापुरमनोहरवनातरे बहूनां सरसां मध्ये महामणिशिलातले परिनिर्वृताय श्रीमहावीरवर्धमान-तीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।"

भूतकालीन चौबीस तीर्थंकर

"निर्वाण-सागर-महासाधु-विमलप्रभसु-दत्त-अमलप्रभ-उद्धर-अंगिर-सन्मति-सिंधु-कुसुमांजलि-शिवगण-उत्साह-ज्ञानेश्वर-परमेश्वर-विमलेश्वर-यशोधर-कृष्णमति-ज्ञानमति-शुद्धमति-श्रीभद्र-अतिक्रान्त-शांताश्चेति भूतकालसबन्धि-चतुर्विंशति-तीर्थंकरेभ्यो नमो नमः ।

भविष्यकालीन चौबीस तीर्थंकर

महापद्म-सुरदेव-सुपार्श्व-स्वयप्रभ-सर्वात्मभूत-देवपुत्र-कुलपुत्र-उदंक-प्रौष्ठिल-जयकीर्ति-मुनिसुव्रत-अर-निष्पाप-निष्कषाय-विपुल-निर्मल-चित्रगुप्त-स्वयभू-अनिवर्तक-जय-विमल-देवपाल-अनंतवीर्या-श्चेति-भविष्यत्कालसबन्धि-चतुर्विंशति-तीर्थकरेभ्यो नमो नमः ।

पञ्चविदेहस्थित विंशति तीर्थंकर

सीमधर-युगमंधर-बाहु-सुबाहु-सुजात-स्वयप्रभु-वृषभानन-अनन्तवीर्य-सुरप्रभ-विशालकीर्ति-बज्रधर-चन्द्रानन-भद्रबाहु-भुजंगम-ईश्वर-नेमिप्रभ-वीरसेन-महाभद्र-देवयश-अजितवीर्यश्चेति-विदेहक्षेत्र-स्थित-विंशति-तीर्थंकरेभ्यो नमो नमः ।"

भगवान के उपदेश का मर्म

जिनेन्द्र भगवान के कथन को एक ही गाथा द्वारा महामुनि कुंदकुद स्वामी इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंजुत्तो ।
एसो जिणोवएसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥समयसार

रागी जीव कर्मो का बंध करता है, वैराग्य-संपन्न जीव बंधन से मुक्त होता है; यह जिन भगवानका उपदेश है; अतः हे भव्य जीवो ! शुभ अशुभ कर्मो में राग भाव को छोड़ो ।

अभिवंदना

हम त्रिकालवर्ती तीर्थकरों को इन विनम्र शब्दों द्वारा प्रणामांजलि अर्पित करते हैं :—

सकल लोक में भानु सम तीर्थंकर जिनराय।
आत्म-शुद्धि के हेतु मैं वंदों तिनके पाय।।

'तीर्थंकर' पुस्तक पर अभिमत

जैन महिलारत्न, ब्रह्मचारिणी, पंडिता चन्दाबाईजी, आरा, प्रधान सम्पादिका 'जैन महिलादर्श' —

"पौराणिक ज्ञान के लिए यह रचना अनूठी, सुन्दर हुई है। तीर्थंकरों के पूर्ण पुराण को बाँचकर जो कुछ ज्ञान होता है, उससे अधिक ज्ञान इस पुस्तक के बाँचने से प्राप्त हो सकता है। श्री सुमेरचन्द जी दिवाकर ने जिनेन्द्र के पांचो कल्याणको का वर्णन करते हुए आधुनिक विज्ञान से भी जैनधर्म की तुलना की है। इससे वर्तमान युग के मनुष्यो का श्रद्धान दृढ होगा। पुस्तक मे लिखा है कि इन्द्र ने सर्वप्रथम योग, समय, नक्षत्र, लग्न आदि के सयोग होने पर अयोध्यापुरी के मध्य मे जिन मन्दिर की रचना की थी, पश्चात् चारों दिशाओ मे भी जिन मन्दिरो की रचना की इससे मन्दिर निर्माण करना भी आवश्यक ज्ञात होता है। दिवाकरजी सुप्रसिद्ध लेखक हैं। आपकी रचनाएँ चारो अनुयोगो मे जब भी प्रकाशित होती रहती हैं, उत्तम होती हैं। पुस्तक मँगाकर पाठक-पाठिकाओ को बांचना चाहिए और जैन परीक्षायो की पाठ्य पुस्तको मे (कोर्स मे) रखना चाहिए। जिससे विद्यार्थियो को तीर्थंकरो का ज्ञान होगा।"

न्यायाचार्य, प्रशम मूर्ति, क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी (मुनि गणेशकीर्ति जी महाराज)

श्रीमान् दिवाकर प० सुमेरचन्द्र जी, योग्य कल्याण भाजन हो।

महोदय पत्र मिला, समाचार जाने। हमारा स्वास्थ्य गर्मी के कारण अति कमजोर हो गया है। आपका समागम थोड़ा ही हमे मिला परन्तु बड़ा ही सुखद रहा। ऐसा सुयोग फिर भी मिलेगा। यहां माता कुथुमती जी तथा ऐलक सिद्धसागर जी आदि सब सघ आनन्द है। आप भी कुशल होगे। आपकी तीर्थंकर पुस्तक अनुपम है। एकत्र सर्वसामग्री का सयोग किया है। जैनधर्म की प्राचीनता इससे पूर्ण झलकती है। इतिहास के गवेषियों को यह सक्षेप मे अति गम्भीर शिक्षा देने वाली है। इसमें तीर्थंकरों की सर्वोदय सामग्री सन्निहित

है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए सच्चा शास्त्र है। इसके लेखक महाविद्वान् हैं। उन्होंने बहुत ही अनुभवपूर्ण लेखनी से इसे लिखा है। मैंने इसे सुना, सुनकर अपूर्व आल्हाद हुआ। आज ऐसे ही ग्रन्थों की लोक में आवश्यकता है। उसकी पूर्ति इस पुस्तक से हो गई है। घर में सबसे सुभाशीष कहना।"

आ० शु० वि० गणेश वर्णी

तर्करत्न, सिद्धान्त महोदधि, विद्वद्रत्न पं० माणिकचन्द्र जी न्यायाचार्य फिरोजाबाद :—

"तीर्थंकर पुस्तक बड़े परिश्रम से लिखी है। आपको चढ़ी हुई प्रतिभा: पूर्ण विद्वता का मूर्तिमान प्रतिबिम्ब इस पुस्तक में निबद्ध है। अनेक ग्रन्थियों को सुलझाया गया है। पौराणिक प्रमेयों को युक्ति-उदाहरणों द्वारा दार्शनिकों के गले उतार लिया है। तीर्थंकरों के पाँच कल्याणकों को सरल, मधुर भाषा आबाल-अबला वृद्धों को समझा दिया है। आपने अपने श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र को बहुत बढ़ा लिया है।"

भारतवर्षीय दि० जै० महासभा के संरक्षक दानवीर धर्मवीर सर सेठ भागचन्दजी सोनी, अजमेर :—

तीर्थंकर पुस्तक बड़े रोचक ढंग से लिखी गई है। बड़ी सरल एवं सरस भाषा में विषयों को समझाया गया है।

राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त :—

मैं समालोचना का अधिकारी नहीं; परन्तु इतना तो कह ही सकता हूँ, कि ऐसा ग्रन्थ लिखने की योग्यता और श्रद्धा आपमें भरपूर है। आपने सुन्दर और उपयोगी कार्य किया है। मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ का सर्वत्र समादर होगा।

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पद्मभूषण डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, कलकत्ता :—

आपकी रचनाओं में सांस्कृतिक सामग्री का विपुल भंडार है, जिसका व्यापक ज्ञान आवश्यक है। इस दृष्टि से आपके प्रकाशन अत्यन्त उपयोगी हैं।

जैन-मित्र, सूरत :—

पाचो कल्याणकों का ऐसा वर्णन प्रथम ही प्रगट हुआ है। बड़ी विद्वता के साथ वर्णन किया गया है।

जैन-दर्शन, सोलापुर :—

तीर्थंकरो के पचकल्याणक सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन बहुत सुन्दर ढग से किया गया है। यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है, विद्वान लेखक ने इसको लिखकर मुमुक्षु जनता के प्रति भारी उपकार किया है।

जैन-संदेश, मथुरा :—

ग्रथ में वर्णित विषयों का बड़े श्रमपूर्वक संकलन किया है। अनेकानेक अवतरण देकर ग्रथ को अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। विभिन्न गूढ़ विषयों पर लेखक ने अपनी लेखनी चलाई है।

तथा भवनवासियों की अपेक्षा कल्पवासी सुखी है। कल्पवासियों की अपेक्षा ग्रैवेयकवासी तथा ग्रैवेयकवासियों की अपेक्षा विजय, वैजयन्त, जयत, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि रूप पंच अनुत्तरवासी सुखी है। उनमें भी अनंतानंतगुणे सुखयुक्त सिद्धि पद को प्राप्त सिद्ध भगवान हैं। सिद्धो के सुख की अपेक्षा दूसरा और उत्कृष्ट आनंद नहीं है।

सिद्ध परमेष्ठी की महत्ता को योगी लोग भली प्रकार जानते हैं। इससे महापुराणकार उनको 'योगिना गम्य'—योगियो के ज्ञान गोचर कहते हैं। जिनसेन स्वामी का यह कथन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए ध्यान देने योग्य है :—

> वीतरागोऽप्यसौ ध्येयो भव्याना भवविच्छिदे।
> विच्छिन्नबंधनस्यास्य तादृग्नैसर्गिको गुणः॥२१—११६॥

भव्यात्माओ को ससार का विच्छेद करने के लिए वीतराग होते हुए भी इन सिद्धो का ध्यान करना चाहिए। कर्म बंधनका विच्छेद करने वाले सिद्ध भगवान का यह नैसर्गिकगुण कहा गया है। आचार्य का अभिप्राय यह है कि सिद्ध भगवान वीतराग है। वे स्वयं किसी को कुछ नही देते हैं, किन्तु उनका ध्यान करने से तथा उनके निर्मल गुणो का चिंतवन करने से आत्मा की मलिनता दूर होती है और वह मुक्ति मार्ग में प्रगति करती है। निरंजन निर्विकार तथा निराकार सिद्धो के ध्यान की 'रूपातीत' नाम के धर्म ध्यान मे परिगणना की गई है।

रूपातीत-ध्यान

रूपातीत ध्यान मे सिद्ध परमात्मा का किस प्रकार योगी चिन्तवन करते है, यह ज्ञानार्णव में इस प्रकार कहा है :—

> व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम्।
> चरमाङ्गात्कियन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम्॥२२॥
> लोकाग्र-शिखरासीनं शिवीभूतमनामयम्।
> पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्तं च चिन्तयेत्॥४०—२३॥

आकाश के समान अमूर्त, पौद्गलिक आकार रहित, परिपूर्ण, शांत, अविनाशी, चरम देहसे किंचित् न्यून, घनाकार आत्म प्रदेशों से युक्त, लोकाग्रके शिखर पर अवस्थित, कल्याणमय, स्वस्थ, स्पर्शादिगुण रहित तथा पुरुषाकार परमात्मा का चिंतवन रूपातीत ध्यान में करे।

ध्यान के लिए मार्ग-दर्शन

ध्यान के अभ्यासी के हितार्थ आचार्य शुभचंद ने ज्ञानार्णव में यह महत्व पूर्ण मार्गदर्शन किया है :—

> अनुप्रेक्षाश्च धर्म्यस्य स्युः सदैव निबंधनम्।
> चित्तभूमौ स्थिरीकृत्य स्व-स्वरूपं निरूपय ।।४१—३।।

हे साधु ! अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन सदा धर्मध्यान का कारण है, अतएव अपनी मनोभूमि में द्वादश भावनाओं को स्थिर करे तथा आत्म स्वरूप का दर्शन करे।

ब्रह्मदेव सूरि का यह अनुभव भी आत्म-ध्यान के प्रेमियों के ध्यान देने योग्य है,"यद्यपि प्राथमिकानां सविकल्पावस्थायां चित्तस्थिति-करणार्थं विषय-कषायरूप-दुर्ध्याननिवंचनार्थं च जिनप्रतिमाक्षरादिकं ध्येयं भवतीति, तथापि निश्चय-ध्यानकाले स्वशुद्धात्मैव इति भावार्थः" (परमात्मप्रकाश टीका पृष्ठ ३०२, पद्य २८६)—यद्यपि सविकल्प अवस्था में प्रारंभिक श्रेणी वालों के चित्त को स्थिर करने के लिए तथा विषय-कषाय रूप दुर्ध्यान अर्थात् आर्तध्यान, रौद्रध्यान दूर करने के लिए जिन प्रतिमा तथा जिन वाचक अक्षरादिक भी ध्यान के योग्य हैं,तथापि निश्चय ध्यान के समय शुद्ध आत्मा ही ध्येय है।

जिनेन्द्र भगवान की मूर्ति के निमित्त से आत्मा का रागभाव मन्द होता है, परिणाम निर्मल होते हैं तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

सिद्ध-प्रतिमा

सिद्ध परमात्मा का ध्यान करने के लिए भी जिनेन्द्र देव की प्रतिमा उपयोगी है। सिद्ध प्रतिमा के स्वरूप पर आचार्य वसुनदि सिद्धातचक्रवर्ती ने मूलाचार की टीका में इस प्रकार प्रकाश डाला है :—"अष्टमहाप्रातिहार्यसमन्विता अर्हत्प्रतिमा, तद्रहिता सिद्ध-प्रतिमा।"—जो प्रतिमा अष्टप्रातिहार्य समन्वित हो, वह अरहत भगवान की प्रतिमा है। अष्टप्रतिहार्य रहित प्रतिमा को सिद्ध-प्रतिमा जानना चाहिए। इस विषय मे यह कथन भी ध्यान देने योग्य है; "अथवा कृत्रिमाः यास्ता अर्हत्प्रतिमाः, अकृत्रिमाः सिद्धप्रतिमाः" (पृष्ठ ३१ गाथा २५)—अथवा सपूर्ण कृत्रिम जिनेन्द्र प्रतिमाएं अरहत प्रतिमा है। अकृत्रिम प्रतिमाओ को सिद्ध प्रतिमा कहा है।

इस आगम वाणी के होते हुए धातु विशेष में पुरुषाकार शून्य स्थान बनाकर उसके पीछे दर्पण को रखकर उसे सिद्ध प्रतिमा मानने का जब आगम मे विधान नही है तब आगम की आज्ञा को शिरोधार्य करने वाला व्यक्ति अपना कर्तव्य और कल्याण स्वय विचार सकता है। यह बात भी विचारणीय है, कि पोलयुक्त मूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा करते समय मत्र-न्यास विधि किस प्रकार संपन्न की जायेगी, उसके अभाव मे प्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित मूर्ति मे किस प्रकार भेद किया जा सकेगा? मत्र न्यास प्रतिष्ठा का मुख्य अग है। (आशाधर प्रतिष्ठासारोद्धार ४, १४६) दक्षिण भारत के प्राचीन और महत्वपूर्ण जिन मदिरो में इस प्रकार की सिद्ध प्रतिमाए नही पाई जाती, जैसी उत्तर प्रात मे कही-कही देखी जाती है। आगम-प्राण सत्पुरुषो को परमागम प्रति-पादित प्रवृत्तियो को ही प्रोत्साहन प्रदान करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

निर्वाण पद और दिगम्बरत्व

सिद्ध पद को प्राप्त करने के लिए सपूर्ण परिग्रह का त्याग कर वस्त्र रहित (अचेल) मुद्रा का धारण करना अत्यंत आवश्यक

है। यह दिगम्बर मुद्रा निर्वाण का कारण है, इसलिए इसे निर्वाण मुद्रा भी कहते हैं। दक्षिण भारत में दिगम्बर दीक्षा लेने वाले मुनि राज को निर्वाण-स्वामी कहने का जनता में प्रचार है। अजैन भी निर्वाण-स्वामी को जानते हैं।

सिद्धों का ध्यान परम कल्याणदायी है, इतना मात्र जानकर भोग तथा विषयों में निमग्न व्यक्ति कुछ क्षण बैठकर ध्यान करने का अभिनय करता है, किन्तु इससे मनोरथ सिद्ध नहीं होगा। ध्यान के योग्य सामग्री का मूलाराधना टीका में इस प्रकार उल्लेख किया गया है :—

> संग-त्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम्।
> मनोक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मनः ॥पृ० ७४॥

वस्त्रादि परिग्रह का परित्याग, कपायों का निग्रह, व्रतों को धारण करना, मन तथा इंद्रियों का वश में करना रूप सामग्री ध्यान की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है।

द्रव्य परिग्रह-परित्याग का उपयोग

"बाह्यचेलादिग्रंथत्यागो अभ्यंतरपरिग्रहत्यागमूलः"— वाह्य पदार्थ-वस्त्रादि का परित्याग अंतरंग त्याग का मूल है; जैसे चांवल के ऊपर लगी हुई मलिनता दूर करने के पूर्व में तंदुल का छिलका दूर करना आवश्यक है, तत्पश्चात् चांवल के भीतर की मलिनता दूर की जा सकती है, इसी प्रकार वाह्य परिग्रह त्यागपूर्वक अंतरंग में निर्मलता प्राप्त करने की पात्रता प्राप्त होती है। जो बाह्य मलिनता को धारण करते हुए अंतरंग मलिनता को छोड़ ध्यान का आनन्द लेते हुए सिद्धों का ध्यान करना चाहिते हैं, कर्मों की निर्जरा तथा संवर करने की मनोकमना करते हैं, वे जल का मंथन करके घृत प्राप्ति का उद्योग सदृश कार्य करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि वस्त्रादि के भार से जो मुक्त नहीं हो सकते हैं, उनकी मुक्ति की ओर यथार्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है। जो देशसंयम धारण करते हुए

दिगम्बर मुद्रा की लालसा रखता है, वह श्रावक मार्गस्थ है। धीरे-धीरे वह अपनी प्रिय पदवी को प्राप्त कर सकेगा, किन्तु जो वस्त्र-त्यागादि को व्यर्थ सोचते हैं, वे सकलंक श्रद्धा वश अकलंक पदवी को स्वप्न में भी नही प्राप्त कर सकते हैं। गभीर विचारवाला अनुभवी सत्पुरुष पूर्वोक्त बात का महत्व शीघ्र समझेगा।

मूलाराधना मे कहा है, भृकुटी चढाना आदि चिन्हो से जैसे अतरग मे क्रोधादि विकारों का सद्भाव सूचित होता है, इसी प्रकार बाह्य अचेलता (वस्त्र त्याग) से अतर्मल दूर होते हैं। कहा भी है :—

बाहिरकरणविसुद्धी अब्भंतकरण-सोधणत्थाए।
ण हु कडयस्स सोधी सक्का सतुसस्स कादुंजे ॥१३४८॥

बाह्य तप द्वारा अंतरग मे विशुद्धता आती है तथा जो धान्य सतुष है, उसका अतर्मल नष्ट नही होता है। तुषशून्य धान्य ही शुद्ध किया जाता है।

इस धान्य के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि अतरग मल दूर करने के पूर्व बाह्य स्थूल परिग्रह रूप मलिनता का त्याग अत्यन्त आवश्यक है।

कोई कोई लोग सोचते हैं, अतरंग पवित्रता पहले आती है, पश्चात् परिग्रह का त्याग होता है। यह भ्रमपूर्ण दृष्टि है। वस्त्रादि त्याग के उपरान्त परिणाम अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। वस्त्रादि सामग्री समलंकृत शरीर के रहते हुए देशसंयम गुण-स्थान से आगे परिणाम नही जा सकते हैं।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि ऐसे कृत्रिम नग्न मुद्राधारी भी व्यक्ति रहते है, जिन्होंने बाह्य परिग्रह का तो त्याग कर दिया है, किन्तु जिनका मन स्वच्छ नही है, उस उच्चपदवी के अनुकूल नहीं है। इसके सिवाय यह भी विषय नही भुलाना चाहिए कि जिसकी आंतरिक शुद्धि है, उसके पहले बाह्य परिग्रह रूप विकृति दूर होनी चाहिए।

बाह्य परिग्रह द्वारा जीव-घात

बाह्य परिग्रह में जिनको दोप नहीं दिखता है, वे कम से कम यह तो सोच सकते हैं कि वस्त्रादि को स्वच्छ रखने में, उनको धोने आदि के कार्य में त्रस-स्थावर जीवों का घात होता है, वह हिंसा समर्थ आत्मा बचा सकती है, अतः बाह्य परिग्रह के त्याग द्वारा अहिंसादि की परिपालना होती है, यह बात समन्वयशील न्यायबुद्धि मानव को ध्यान में रखना उचित है।

कोई-कोई सोचते हैं, कि हमारे यहाँ शास्त्रों में वस्त्रादि परिग्रह के त्याग बिना भी साधुत्व माना जाता है। ऐसे लोगों को आत्महितार्थ गहरा विचार करना चाहिए। यह सोचना चाहिए कि मनुष्य जीवन का पाना खिलवाड़ नहीं है। आत्मकल्याण के लिए भय, संकोच, मोहादि का त्याग कर सत्य को शिरोधार्य करना सत्पुरुष का कर्तव्य है।

संपूर्ण कर्मों का नाश करने वाले सिद्ध परमेष्ठी की पदवी अरहंत भगवान से बड़ी है, यद्यपि भगवान शब्द दोनों के लिए उपयोग में आता है।

सिद्धों के विशेष गुण

इन सिद्धों के चार अनुजीवी गुण कहे गए हैं। जो घातिया कर्मों के विनाश से अरहंत अवस्था में ही उत्पन्न होते हैं, वे गुण भावात्मक कहे गए हैं। ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, दर्शनावरण के विनाश से केवलदर्शन, मोहनीय के उच्छेद से अविचलित सम्यक्त्व तथा अंतराय के नाश द्वारा अनंतवीर्यता रूप गुणचतुष्टय प्राप्त होते हैं। अघातिया कर्मों के अभाव में चार प्रतिजीवी गुण उत्पन्न होते हैं। वेदनीय के विनाश से अव्याबाधत्व प्रगट होता है। गोत्र के नाश होने पर अगुरुलघुगुण प्राप्त होता है। नाम कर्म के अभाव में अवगाहनत्व तथा आयुकर्म के (जिसे जगत् मृत्यु, यमराज आदि नाम से पुकारता

जंबूद्वीप मे भरतक्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र तथा विदेह क्षेत्र (देवकुरु तथा उत्तरकुरु को छोडकर) रूप कर्मभूमियां मानी गई है। आजकल जबूद्वीप सम्बन्धी विदेह मे पूर्व तथा पश्चिम विदेहों के दो दो भागो मे चार तीर्थंकर विद्यमान है। धातकीखण्ड मे उनकी सख्या आठ कही है, कारण वहाँ दो भरत, दो ऐरावत, दो विदेह कहे गए है। पुष्करार्ध द्वीप मे धातकीखण्ड सदृश वर्णन है। वहाँ भी आठ तीर्थंकर विद्यमान है। इस प्रकार कम से कम ४+८+८=२० बीस विद्यमान तीर्थंकर कहे गए है। अधिक से अधिक तीर्थंकरों की सख्या एक समय मे एक सौ सत्तर मानी गई है।

तीर्थंकरों की संख्या

पंच भरत, पंच ऐरावत क्षेत्रो मे दुपमासुपमा नामके चतुर्थ कालमे दस तीर्थंकर होते हैं। एक विदेह मे बत्तीस तीर्थंकर होते हैं। पाँच विदेहों मे १६० तीर्थंकर हुए। कुल मिलाकर उनकी सख्या १७० कही गई है। हरिवंशपुराण में लिखा है —

> द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु सप्तति-शतात्मके।
> धर्मक्षेत्रे त्रिकालेभ्यो जिनादिभ्यो नमो नमः ॥२२—२७॥

अढाई द्वीप मे १७० धर्मक्षेत्रो मे भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् काल सम्बन्धी अरहतादि जिनेन्द्रो को नमस्कार हो।

विदेह में तीर्थंकारों के कल्याणक

विदेह के तीर्थंकरो मे सबके पाँचो कल्याणको का नियम नही है। भरत तथा ऐरावत मे पचकल्याणकवाले तीर्थंकर होते हैं। विदेह में किन्ही के पाँच कल्याणक होते है, किन्ही के तीन होते है, किन्ही के दो भी कल्याणक होते हैं। इस विषय मे विशेष बात इस प्रकार जानना चाहिये कि विदेह में जन्मप्राप्त श्रावक ने तीर्थंकर के पादमूल मे तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। वह यदि चरमशरीरी है, तो उस जीव के तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक तथा निर्वाणकल्याणक होगे।

यदि श्रावक के स्थान में मुनि पदवी प्राप्त महापुरुष ने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया और वह चरम शरीरी आत्मा है तो उनके ज्ञानकल्याणक तथा मोक्षकल्याणक होंगे। पाँच कल्याणक वाले तीर्थंकर तो सर्वत्र विख्यात हैं। चार कल्याणक तथा एक कल्याणक वाले तीर्थंकर नहीं होते। कहा भी है :—

"तीर्थबंधप्रारंभश्चरमांगाणामसंयत-देशसंयतयोस्तदा कल्याणानि निःक्रमणादीनि त्रीणि, प्रमत्ताप्रमत्तयोस्तदा ज्ञाननिर्वाणे द्वे। प्राग्भवे तदा गर्भवतारादीनि पंचेत्यवसेयम्" (गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ५४६, संस्कृतटीका पृष्ठ ७०८)—जब तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ चरमशरीरी असंयमी अथवा देशसंयमी करते हैं, तब तप, ज्ञान तथा निर्वाण ये तीन कल्याणक होते हैं। जब प्रमत्त संयत तथा अप्रमत्त संयत बंध का प्रारंभ करते हैं, तब ज्ञान और निर्वाण ये दो कल्याणक होते हैं। यदि पूर्वभव में बंध को प्रारम्भ किया था, तो गर्भावतरण आदि पंचकल्याणक होते हैं।

सूक्ष्म विचार

इस संबंध में सूक्ष्म विचार द्वारा यह महत्व की बात अवगत होगी कि तीर्थंकर प्रकृति सहित आत्मा को तीर्थंकर कहते हैं। उसका उदय केवली भगवान में रहता है। उसकी सत्ता में तो मिथ्यात्व गुण-स्थान तक हो सकता है। एक व्यक्तिने भरतक्षेत्र में तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया। वह मरण कर यदि दूसरे या तीसरे नरक में जन्म धारण करता है, तो अपर्याप्तावस्था में वह मिथ्यात्वी ही होगा। सम्यक्त्वी जीव का दूसरी आदि पृथ्वियों में जन्म नहीं होता है। उन पृथ्वियों में उत्पत्ति के उपरान्त सम्यक्त्व हो सकता है। तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला जीव तीसरे नरक तक जाता है। वहां सम्यक्त्व उत्पन्न होने के उपरान्त पुनः तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है। गो० कर्मकांड में कहा है "घम्मे तित्थं बंधदिवंसा-मेघाण पुण्णगो चेव।" (गाथा

है) विनाश होने पर सूक्ष्मत्व गुण प्रगट होते हैं । इन अनुजीवी तथा प्रतिजीवी गुणों से समलकृत यह सिद्ध पर्याय है । इसे स्वभाव-द्रव्य-व्यजन-पर्याय भी कहा है । आलाप-पद्धति मे लिखा है 'स्वभाव-द्रव्य-व्यजन-पर्यायाश्चरमशरीरात्-किंचित-न्यून-सिद्धपर्याय' (पृष्ठ १६६)

कैलाशगिरि पर चतुर्विंशति जिनालय

भगवान ऋषभदेव के निर्वाण के कारण कैलाश पर्वत पूज्य स्थल बन गया । चक्रवर्ती भरत ने उस पर्वत पर अपार वैभवपूर्ण जिन मदिर बनवाए थे । उन मदिरो की रक्षार्थ अजितनाथ भगवान के तीर्थ मे उत्पन्न सगर चक्रवर्ती के पुत्रो ने आसपास खाई खोदकर उसे जल से भरा था । उत्तरपुराण में कहा है :—

राज्ञाप्याज्ञापिता यूयं कैलासे भरतेशिना ।
गृहा कृता महारत्नैश्चतुर्विंशतिरर्हताम् ॥१०७॥
तेषा गंगा प्रकुर्वीध्वं परिखा परितो गिरिम् ।
इति तेपि तथा कुर्वन् दंडरत्नेन सत्वरम् ॥१०८॥ अध्याय १

चक्रवर्ती सगर ने अपने पुत्रों को आज्ञा दी, कि महाराज भरत ने कैलाश पर्वत पर महारत्नो के अरहंत देव के चौबीस जिनालय बनवाए है । उस पर्वत के चारो ओर खाई के रूप में गंगा का प्रवाह बहा दो । यह सुनकर उन राजपुत्रो ने दण्डरत्न लेकर शीघ्र ही उस काम को पूर्ण कर दिया ।

गुणभद्र आचार्य ने यह भी कथन किया है कि राजा भगीरथ ने वैराग्य उत्पन्न होने पर, वरदत्त पुत्र को राज्यलक्ष्मी देकर कैलाश पर्वत पर जाकर शिवगुप्त महामुनि के समीप जिन दीक्षा ली और और गगा के किनारे ही प्रतिमायोग धारण किया । गंगा के तट से ही उन्होने मोक्ष प्राप्त किया था । इन्द्र ने आकर क्षीरसागर के जल से भागीरथ मुनि के चरणों का अभिषेक किया था । उस अभिषेक का जल गगा में मिला, तब से ही यह गगा इस ससार में तीर्थ रूप में पूज्य मानी जाती है । गुणभद्रचार्य कहते है :—

सुरेन्द्रेणास्य दुग्धाब्धि-पयोभिरभि षेचनात् ।
क्रमयो स्तत्प्रवाहस्य गंगायाः संगमे सति ।।१५०।।
तदाप्रभृति तीर्थत्वं गंगाप्यस्मिन्नुपागता ।
कृत्वोत्कृष्टं तपो गंगातटे सौ निर्वृति गतः ।।१-१४१।।

वैदिक लोग भी कैलाशगिरि को पूज्य मानते हैं—वे हिमालय पर्वत के समीप जाकर कैलाश की यात्रा करते हैं। कैलाश का जैसा वर्णन उत्तरपुराण में किया गया है, वैसी सामग्री का सद्भाव अब तक ज्ञात नहीं हो सका है। उसके विषय में यदा कदा कोई लेख भी छपे हैं, किन्तु उनके द्वारा ऐसी सामग्री नहीं मिली है, जिसके आधार पर उस तीर्थ की वंदना का लाभ उठाया जा सके। कैलाश नाम के पर्वत का ज्ञान होने के साथ निर्वाण स्थल के सूचक कुछ जैनचिन्हों का सद्भाव ही उस तीर्थ के विषय में संदेहमुक्त कर सकेगा। अब तक तो उसके विषय में पूर्ण अजानकारी है।

उपयोगी चिंतवन

भव्यात्माओं को मोक्ष प्राप्त तीर्थंकरों के विषय में यह विचार करना चाहिये कि चैतन्य-ज्योति समलंकृत चौबीसों भगवान सिद्धालय में विराजमान हैं। भगवान ऋषभदेव, वासुपूज्य और नेमिनाथ ने पद्मासन से मोक्ष प्राप्त किया, शेष इक्कीस तीर्थंकरों की मुक्ति खड्गासन से हुई थी, अतः उनका उसी आसन में चिंतवन करना चाहिये। जैसे दीपावली के प्रभात समय महावीर प्रभु के विषय में ध्यान करते समय सोचना चाहिए कि पावापुरी के चरणों के ठीक ऊपर लोक के अग्रभाग में खड्गासन से सात हाथ ऊँचाई वाली आत्मज्योति विराजमान है। तिलोयपण्णत्ति में कहा है—

उसहो य वासुपुज्जो णेमी पल्लंकबद्धया सिद्धा ।
काउसग्गेण जिणा सेसा मुत्ति समावण्णा ।।४—१२१०।।

मोक्ष की प्राप्ति के योग्य स्थान कर्मभूमि मानी गई हैं। पन्द्रह कर्मभूमियाँ जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड तथा पुष्करार्ध द्वीप में हैं।

जंबूद्वीप मे भरतक्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र तथा विदेह क्षेत्र (देवकुरु तथा उत्तरकुरु को छोडकर) रूप कर्मभूमियां मानी गई है। आजकल जंबूद्वीप सम्बन्धी विदेह में पूर्व तथा पश्चिम विदेहो के दो दो भागो में चार तीर्थंकर विद्यमान है। धातकीखण्ड मे उनकी संख्या आठ कही है, कारण वहाँ दो भरत, दो ऐरावत, दो विदेह कहे गए है। पुष्करार्ध द्वीप मे धातकीखण्ड सदृश वर्णन है। वहाँ भी आठ तीर्थंकर विद्यमान है। इस प्रकार कम से कम ४+८+८=२० बीस विद्यमान तीर्थंकर कहे गए है। अधिक से अधिक तीर्थंकरों की संख्या एक समय मे एक सौ सत्तर मानी गई है।

तीर्थंकरों की संख्या

पच भरत, पच ऐरावत क्षेत्रो मे दुपमासुपमा नामके चतुर्थ कालमे दस तीर्थंकर होते है। एक विदेह मे बत्तीस तीर्थंकर होते हैं। पॉच विदेहो मे १६० तीर्थंकर हुए। कुल मिलाकर उनकी सख्या १७० कही गई है। हरिवशपुराण मे लिखा है :—

> द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु ससप्तति-शतात्मके।
> धर्मक्षेत्रे त्रिकालेभ्यो जिनादिभ्यो नमो नमः ॥२२—२७॥

अढाई द्वीप मे १७० धर्मक्षेत्रो मे भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् काल सम्बन्धी अरहतादि जिनेन्द्रो को नमस्कार हो।

विदेह में तीर्थकारों के कल्याणक

विदेह के तीर्थंकरो मे सबके पाँचो कल्याणको का नियम नही है। भरत तथा ऐरावत मे पचकल्याणकवाले तीर्थंकर होते है। विदेह मे किन्ही के पॉच कल्याणक होते है, किन्ही के तीन होते है, किन्ही के दो भी कल्याणक होते हैं। इस विषय मे विशेष बात इस प्रकार जानना चाहिये कि विदेह मे जन्मप्राप्त श्रावक ने तीर्थंकर के पादमूल में तीर्थंकर प्रकृति का बध किया। वह यदि चरमशरीरी है, तो उस जीव के तपकल्याणक, ज्ञानकल्याणक तथा निर्वाणकल्याणक होगे।

यदि श्रावक के स्थान में मुनि पदवी प्राप्त महापुरुष ने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया और वह चरम शरीरी आत्मा है तो उनके ज्ञानकल्याणक तथा मोक्षकल्याणक होंगे। पाँच कल्याणक वाले तीर्थंकर तो सर्वत्र विख्यात हैं। चार कल्याणक तथा एक कल्याणक वाले तीर्थंकर नहीं होते। कहा भी है :—

"तीर्थबंधप्रारंभश्चरमांगाणामसंयत-देशसंयतयोस्तदा कल्याणानि निःक्रमणादीनि त्रीणि, प्रमत्ताप्रमत्तयोस्तदा ज्ञाननिर्वाणे द्वे। प्राग्भवे तदा गर्भावतारादीनि पंचेत्यवसेयम्" (गोम्मटसार कर्मकांड गाथा ५४६, संस्कृतटीका पृष्ठ ७०८)—जब तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ चरमशरीरी असंयमी अथवा देशसंयमी करते हैं, तब तप, ज्ञान तथा निर्वाण ये तीन कल्याणक होते हैं। जब प्रमत्त संयत तथा अप्रमत्त संयत बंध का प्रारंभ करते हैं, तब ज्ञान और निर्वाण ये दो कल्याणक होते हैं। यदि पूर्वभव में बंध को प्रारम्भ किया था, तो गर्भावितरण आदि पंचकल्याणक होते हैं।

सूक्ष्म विचार

इस संबंध में सूक्ष्म विचार द्वारा यह महत्व की बात अवगत होगी कि तीर्थंकर प्रकृति सहित आत्मा को तीर्थंकर कहते हैं। उसका उदय केवली भगवान में रहता है। उसकी सत्ता में तो मिथ्यात्व गुण-स्थान तक हो सकता है। एक व्यक्तिने भरतक्षेत्र में तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया। वह मरण कर यदि दूसरे या तीसरे नरक में जन्म धारण करता है, तो अपर्याप्तावस्था में वह मिथ्यात्वी ही होगा। सम्यक्त्वी जीव का दूसरी आदि पृथ्वियों में जन्म नहीं होता है। उन पृथ्वियों में उत्पत्ति के उपरान्त सम्यक्त्व हो सकता है। तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला जीव तीसरे नरक तक जाता है। वहां सम्यक्त्व उत्पन्न होने के उपरान्त पुनः तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो सकता है। गो० कर्मकांड में कहा है "धम्मे तित्थं बंधदिवंसा-मेघाण पुण्णगो चेव।" (गाथा

१०६) । तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ मनुष्य गति में होता है, उसका निष्ठापन देवगति-तथा नरकगति में भी होता है ।

तीर्थंकर का निर्वाण

तीर्थंकर रूप में जन्म धारण करने वाली आत्मा के गर्भ, जन्म, तप तथा ज्ञान कल्याणक होते हैं। इन अवस्थाओं में तीर्थंकर प्रकृति का अस्तित्व रहता है । अयोग केवली के अंतिम समय में तीर्थंकर प्रकृति का क्षय हो गया, अत उसकी सत्ता शेष नहीं रही । निर्वाण प्राप्त सिद्ध जीव के तीर्थंकर प्रकृति नहीं है । उनका निर्वाण-कल्याणक किस प्रकार तीर्थंकर का निर्वाण कल्याणक कहा जायेगा ? अब तो वे तीर्थंकर पद वाच्यता से अतीत हो चुके हैं, अतएव सूक्ष्म दृष्टि से तीर्थंकर नामकर्म सहित आत्मा के गर्भ, जन्म, दीक्षा तथा ज्ञान कल्याणक कहे जायंगे ।

यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि आगम में तीर्थंकर को पंचकल्याणक-संपन्न (पंचकल्लाण-सपण्णाण) क्यों कहा है ? इसके समाधान मे यही कहा जायगा, कि भूतपूर्व नैगम नय की अपेक्षा यह कहा जाता है । एवभूतनय की अपेक्षा ऐसा नहीं कहा जा सकता । जैन धर्म का सौन्दर्य उसकी स्याद्वादमयी पवित्र देशनामे है, जिसके कारण अविरोध रूप से पदार्थ का कथन होता है । उसी स्याद्वाद से इस प्रश्न पर दृष्टि डालने पर शंका दूर हो जाती है ।

भरत तथा ऐरावत मे पंचकल्याणक वाले ही तीर्थंकर क्यों होते हैं, विदेह के समान तीन अथवा दो कल्याणक संपन्न महापुरुष क्यों नहीं होते ? इसका विशेष कारण चिंतनीय है । भरत तथा ऐरावत मे एक उत्सर्पिणी में चौबीस तीर्थंकर होते हैं और अवसर्पिणी मे भी चौबीस होते हैं । अवसर्पिणी के चौथे काल में तथा उत्सर्पिणी के तीसरे काल में इनका सद्भाव माना गया है । दुषमा-सुषमा काल के सिवाय अन्य कालो के होने पर इन स्थानो मे मोक्षमार्ग

नहीं रहता। विदेह में नित्य मोक्षमार्ग है, कारण वहां दुषमासुषमा काल का सदा सद्भाव पाया जाता है। वहां तो ऐसा होता है कि एक तीर्थंकर के समक्ष कोई भव्य तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है। जब गुरुदेव तीर्थंकर मोक्ष चले गए, तो उस समय इस चरम शरीरी आत्मा के दीक्षा लेने पर तपादि कल्याणकों के क्रम में बाधा नहीं आती। दो तीर्थंकरों का परस्पर में दर्शन नहीं होता, जैसे दो चक्रवर्तियों आदि का भी परस्पर दर्शन नहीं होता। भरत तथा ऐरावत में ऐसी पद्धति है कि एक तीर्थंकर के समीप किसी ने तीर्थंकर प्रकृति क बंध किया है जैसे श्रेणिक राजा ने वीर भगवान के सानिध्य में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया था। उसके उपरान्त वह जीव या तो स्वर्ग में जायगा, या नरक में जायगा, इसके पश्चात वह तीसरे भव में तीर्थंकर होकर मुक्त होता है।

विदेह नित्य धर्मभूमि है, अतएव वहां चरम शरीरी जीव तीर्थंकर प्रकृति का बंधकर उसी भवमें मोक्ष जाता है। भरतक्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र में एक ही भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके उसी भव से मोक्ष जाने का क्रम नहीं है। बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण कल्पकाल में भरत तथा ऐरावत में चौबीस तीर्थंकर उत्सर्पिणी में तथा चौबीस ही अवसर्पिणी में होगे। विदेह का हाल अपूर्व है। इतने लम्बे काल में वहां से विपुल संख्या में तीर्थंकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। एक कोटि पूर्व की आयु प्राप्त कर मोक्ष जाने के पश्चात् दूसरे तीर्थंकर की उत्पत्ति होने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

सिद्धलोक और कर्मभूमि का क्षेत्रफल

कर्मभूमियों से ही जीव सिद्ध होते हैं, किन्तु सिद्धलोक का क्षेत्र पैंतालीस लाख योजन प्रमाण कहा है, उसमें कर्मभूमि तथा भोगभूमियों का क्षेत्र आ जाता है। अतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत क्षेत्र, हरिक्षेत्र, रम्यक क्षेत्र, हैरण्यवत

क्षेत्रों से भी मोक्ष होता है ? यदि मोक्ष मानते हो, तो उनको भोगभूमि के स्थान में कर्मभूमि क्यों नहीं कहा गया है ?

इस प्रश्न का समाधान अत्यन्त सरल है । सर्वार्थसिद्धि का कथन ध्यान देने योग्य है, "कस्मिन् क्षेत्रे सिध्यन्ति ? प्रत्युत्पन्नग्राहिनयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे, स्वप्रदेशे, आकाश प्रदेशे वा सिद्धिर्भवति । भूतग्राहिनयापेक्षया जन्म प्रति पचदशसु कर्मभूमिषु, सहरण प्रति मानुपक्षेत्रे सिद्धि "(अध्याय १०, सूत्र ६ की टीका) ।

प्रश्न—किस क्षेत्र में सिद्ध होते है ?

उत्तर—वर्तमान को ग्रहण करने वाले नय की अपेक्षा निर्वाणक्षेत्र से मुक्त होते है, अपनी आत्मा के प्रदेशो मे मुक्त होते हैं, अथवा शरीर के द्वारा गृहीत आकाश के प्रदेशो से सिद्धि होती हैं । भूतकाल को ग्रहण करने वाले नय की अपेक्षा से पंद्रह कर्मभूमि मे जन्म प्राप्त जीव वहा से सिद्ध होता है । वहा जन्म प्राप्त जीव को देव आदि अन्य क्षेत्रों मे ले जावे, तो समस्त मनुष्यक्षेत्र निर्वाणभूमि है । इस कथन से शका का निराकरण हो जाता है ।

महत्व की बात

सर्वार्थसिद्धि मे एक और सुन्दर बात लिखी है, "अवसर्पिण्या सुपम-दु पमाया अन्त्ये भागे दु पमसुपमायॉ च जात. सिध्यति । न तु दु पमाया जातो दु पमाया सिध्यति । अन्यदा नैव सिध्यति । सहरणत. सर्वस्मिन्काले उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च सिध्यति" (१० अध्याय, सूत्र ६)—अवसर्पिणी काल में सुपम-दु पमा नाम के तृतीय काल के अतिम भाग मे तथा दु पम-सुपमा नामके चतुर्थकाल में जन्मधारण करने वाला मोक्ष जाता हैं । दु.पमा नामक पंचम काल में उत्पन्न हुआ पचम काल मे मुक्त नही होता । अन्यकालों मे मोक्ष नही होता । किसी देवादि के द्वारा लाया गया जीव उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के सभी कालों में सिद्ध पदवी को प्राप्त करता है । इस

कथन का भाव यह है कि विदेह सदृश कर्मभूमि में सदा मोक्षमार्ग चालू रहता है। अन्य कर्मभूमि के क्षेत्रों में काल कृत परिवर्तन होने से मोक्षमार्ग रुक गया। ऐसे काल में भी देवादि के द्वारा लाया जीव इन क्षेत्रों से मुक्त हो सकता है, जहां मुक्ति जाने योग्य चतुर्थ काल का सद्भाव नहीं है।

प्रश्न :—जब समस्त पैंतालीस लाख योजन प्रमाण मनुष्य क्षेत्र को निर्वाणस्थल माना है, तब पावापुरी, चम्पापुरी आदि कुछ विशेष स्थानों को निर्वाण स्थल मानकर पूजने की पद्धति का अन्तरंग रहस्य क्या है ?

समाधान—आगम में लिखा है कि छठवें काल के अन्त में जब उनचास दिन शेष रहते हैं, तब जीवों को त्रासदायक भयंकर प्रलयकाल प्रवृत्त होता है। उस समय महा गंभीर एवं भीषण संवर्तक वायु बहती है, जो सात दिन पर्यन्त वृक्ष, पर्वत और शिला आदि को चूर्ण करती है। इससे जीव मूर्च्छित होते हैं और मरण को प्राप्त करते हैं। मेघ शीतल और क्षार जल तथा विष जल में से प्रत्येक को सात-सात दिन तक बरसाते हैं। इसके सिवाय वे मेघ-धूम, धूलि, वज्र तथा अग्नि की सात-सात दिन तक वर्षा करते हैं। इस क्रम से भरत क्षेत्र के भीतर आर्य खण्ड में चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित वृद्धिगत एक योजन की भूमि जलकर नष्ट हो जाती है। वज्र और महाअग्नि के बल से आर्य खण्ड की बढ़ी हुई भूमि अपने पूर्ववर्ती स्वरूप को छोड़कर धूलि एवं कीचड़ की कलुषता से रहित हो जाती है। (तिलोयपण्णत्ति ३४७ पृष्ठ)। उत्तरपुराण में लिखा है :—

ततो धरण्याः वैषम्यविगमे सति सर्वतः।
भवेच्चित्रा समा भूमिः समाप्तात्रावसर्पिणी ॥७६—४५३॥

उनचास दिन की अग्नि आदि की वर्षा से पृथ्वी का विषमपना दूर होगा और समान चित्रा पृथ्वी निकल आयगी। यहाँ पर ही अवसर्पिणी काल समाप्त हो जायगा। इसके पश्चात् उत्सर्पिणी

काल प्रारम होगा। उस समय क्षीर, अमृत आदि जाति के मेघों की वर्षा होगी, उससे सब वस्तुओं में रस उत्पन्न होगा।

आगम के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि छठवे काल के अन्त मे सभी भवनादि कृत्रिम सामग्री इस आर्य खण्ड में नष्ट हो जायगी, तब निर्वाण स्थान आदि का भी पता नही रहेगा। उस स्थिति मे आगामी होने वाले जीव अपने समय मे मोक्ष जाने वाले महापुरुषों के निर्वाण स्थानो को पूजेंगे। इतनी विशेष बात है कि सम्मेदशिखर को आगम में तीर्थंकरो की स्थायी निर्वाण भूमि माना है। इस हुँडावसर्पिणी कालके कारण आदिनाथ भगवान का कैलाश, नेमिनाथ का गिरनार, वासुपूज्य का चपापुर तथा वीर प्रभु का पावापुर निर्वाण स्थान बन गए। अन्य काल में ऐसा नही होता; इसलिए सम्मेदशिखर तो अविनाशी तीर्थरूपता धारण करता रहेगा। अन्य तीर्थो की ऐसी स्थिति नही है। इससे उनकी शाश्वतिकता स्वीकार नही की गई है।

यह बात भी विचारणीय है कि जिस स्थान से किन्ही पूज्य आत्माओं का साक्षात् सबध रहा है, जिसका इतिहास है, उस स्थान पर जाने से भक्त हृदय को पर्याप्त प्रेरणा मिलती है। उज्ज्वल भावनायें जागती है। अन्य स्थान में ऐसा नही होता। पावापुरी के पुण्य पद्मसरोवर में जो पवित्र परिणाम होते है, वे भाव समीपवर्ती अन्य ग्रामों मे नही होते, यद्यपि अतीत काल की अपेक्षा सभी स्थानों से मुक्त होने वाली आत्माओं का सम्बन्ध रहा है। अपने कल्याण तथा लाभ का प्रत्यक्ष विचार करने वाला व्यक्ति उन स्थानो की ही वदना करता है, जहाँ के बारे मे निश्चित इतिहास ज्ञात होता है। किस स्थान से कौन, कब मोक्ष गए इसका पता न हो, तो वह क्या प्रेरणा प्रदान करेगा? विचारवान् व्यक्ति उन्ही कार्यों मे प्रवृत्त होता है, जिनसे उसका हित होता है। इस प्रकार से शका का निराकरण हो जाता है।

सिद्धों को प्रणाम करने वाला व्यक्ति लोकाग्रभाग में विराजमान समस्त मुक्त आत्माओं को प्रणाम करता है ।

निर्वाण भूमि की वंदना में एक विशेष आनन्द की बात यह रहती है कि चरण चिन्हों के समीप खड़े होकर हम कल्पना के द्वारा उस स्थान के ठीक ऊपर सिद्धलोक में विराजमान भगवान का विचार करके उनको प्रणाम कर सकते हैं। उस जगह के ठीक ऊपर सिद्ध रूप में भगवान हैं, यह हम ज्ञान नेत्र से देख सकते हैं। जैनधर्म में ये कृतकृत्य सिद्ध जीव ही परमात्मा माने गए हैं ।

सिद्धों की संख्या

मूलाचार में सिद्धों के विषय में अल्पबहुत्व पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है :—

> मणुसगदीए थोवा तेहि असंखिज्जगुणा णिरये।
> तेहि असंखिज्जगुणा देवगदीए हवे जीवा ।१७०। पर्याप्ति-अधिकार।

सबसे कम जीव मनुष्य गति में हैं। उनसे असंख्यातगुणें नरकगति में हैं। नारकियों से असंख्यातगुणें देवगति में हैं।

> तेहिंतोणंतगुणा सिद्धिगदीए भवंति भवरहिया।
> तेहिंतोणंतगुणा तिरयगदीए किलेसंता ॥१७१॥

देवगति के देवों की अपेक्षा सिद्धगति में संसार परिभ्रमण रहित अनंतगुणें सिद्ध भगवान हैं। उन सिद्धों से अनंतगुणे जीव तिर्यंचगति में क्लेश पाते हैं। तिर्यंचों में भी निगोदिया एकेन्द्रिय जीव अनंतानंत हैं ।

> एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
> सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥१९६॥ गो० जी०॥

सिद्धराशि से अनंतगुणें तथा सर्व व्यतीत काल से अनंतगुणें जीव हैं।

इन विकासहीन दु:खी निगोदिया जीवों की विचित्र कथा है।

अत्थि अणंताजीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भाव-कलंक-सुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ॥१९७॥ गो० जी०॥

उन तिर्यचगति के जीवो में ऐसे जीव भी अनत सख्या में है, जिन्होने अब तक त्रस पर्याय नही प्राप्त की है। वे मलिनता-प्रचुर भावों के कारण निगोदवास को नही छोड पाते है।

अभव्यों की संख्या

ऐसी जीवों की स्थिति विचारते हुए किसी महान आत्मा का निर्वाण प्राप्त करना कितनी कठिन बात है, यह विवेकी व्यक्ति सोच सकते है। जीव राशि मे एक सख्या अभव्य जीवो की है, जिनका कभी निर्वाण नही होगा और वे ससार परिभ्रमण करते ही रहेगें। भव्यो की अपेक्षा उनकी सख्या अत्यन्त अल्प है। अभव्य राशि को अनत गुणित करने पर जो सख्या प्राप्त होती है, उससे भी अनत गुणित सिद्धो की राशि कही गई है। गोम्मटसार कर्मकाड में लिखा है—

सिद्ध णंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव।
समयपबद्धं बंधदि जोगवसादो विसरित्थं ॥४॥

सिद्धराशि के अनतवे भाग तथा अभव्यराशि से अनंत गुणित प्रमाण एक समय मे कर्मसमूह रूप समय-प्रबद्ध को यह जीव बाधता है। यह बंध योग के अनुसार विसदृश होता है अर्थात् कभी न्यून, कभी अधिक परमाणुओ का वध होता है।

जीवप्रबोधिनी टीका में उपरोक्त कथन इस प्रकार किया गया है :—

"सिद्धराश्यनंतैकभागं, अभव्यसिद्धेभ्योऽनंतगुणं तु-पुनः योगवशात् विसदृशं समयप्रबद्धं बध्नाति। समये समये प्रबध्यते इति समयप्रबद्धः"।

उत्सर्पिणी काल में सिद्धों की अल्प संख्या

राजवार्तिक में अकलंक स्वामी लिखते हैं, उत्सर्पिणी काल में सिद्ध होने वाले जीव सबसे कम हैं। अवसर्पिणी काल में सिद्ध होने वालों की संख्या उनसे विशेष अधिक कही गई है। अनुत्सर्पिणी-उत्सर्पिणी काल (विदेह में नित्य चतुर्थकाल रहता है अतः वहां उत्सर्पिणी-अनुत्सर्पिणी का विकल्प नहीं हैं। वहां का काल अनुत्सर्पिणी-उत्सर्पिणी काल कहा जायगा) की अपेक्षा सिद्ध संख्यातगुणे हैं। कहा भी है "सर्वस्तोका उत्सर्पिणी सिद्धाः। अवसर्पिणी सिद्धाः विशेषाधिकाः। अनुत्सर्पिण्यवसर्पिणी सिद्धाः संख्येयगुणाः"—(अध्याय १०, सूत्र १०)।

विशेष कथन

पूज्यपाद स्वामी ने कहा है—"सर्वतः स्तोका लवणोदसिद्धाः, कालोदसिद्धाः संख्येयगुणाः। जंबूद्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः। धातकीखण्डसिद्धाः संख्येयगुणाः। पुष्करार्धसिद्धाः संख्येयगुणाः" (अध्याय १०, सूत्र १०)—सबसे न्यून संख्या लवणसमुद्र से सिद्ध होने वालों की है। उनसे संख्यातगुणें कालोदधि से सिद्ध हुए हैं। उनसे भी संख्यात गुणित जंबूद्वीप से सिद्ध हैं। धातकीखंड द्वीप से सिद्ध होने वाले संख्यातगुणे हैं। पुष्करार्धद्वीप से सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यात-गुणे हैं। उन्होंने यह भी कहा है:—"जघन्येन एकसमये एकः सिध्यति, उत्कर्षेणाष्टोत्तरसंख्या"—जघन्य से एक समय में एक जीव सिद्ध होता है, अधिक से अधिक एक सौ आठ जीव एक समय में मुक्त होते हैं।

ज्ञानानुयोग की अपेक्षा सिद्धों के विषय में इस प्रकार कथन किया गया है। मति-श्रुत-मनःपर्ययज्ञान को प्राप्त करके सिद्ध होने वाले सबसे कम हैं। उनसे संख्यातगुणें मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान से सिद्ध हुए हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यज्ञान से सिद्ध

सख्यातगुणे है। मति-श्रुत तथा अवधिज्ञान से सिद्ध उनसे भी संख्यात गुणे है। इससे यह ज्ञात होता है कि मोक्ष जाने वाली सयमी आत्मा मति-श्रुतज्ञान युगल के साथ अवधिज्ञानावरण का भी क्षयोपशम प्राप्त करती है। राजवार्तिक मे लिखा है—"सर्वस्तोकाः मति-श्रुत-मन पर्ययसिद्धाः मतिश्रुतज्ञानसिद्धा. सख्येयगुणा। गतिश्रुतावधि-मन पर्ययज्ञानसिद्धाः सख्येयगुणा। मतिश्रुतावधिज्ञानसिद्धाः संख्येय-गुणा."(पृष्ठ ३६७, अध्याय १०—१०)

जीवो की सामर्थ्य के भेद से कोई कोई अन्योपदश द्वारा प्रतिबुद्ध हो मुक्त होते है। कोई-कोई स्वय सिद्धिपद के स्वामी बनते है। अकलकस्वामी ने कहा है—"केचित् प्रत्येकबुद्धसिद्धाः, परोपदेश-मनपेक्ष्य स्वशक्त्यैवाविर्भूतज्ञानातिशया.। अपरे बोधितबुद्ध-सिद्धाः परोपदेशपूर्वकज्ञानप्रकर्षास्कंदिन." (पृष्ठ ३६६)—कोई तो प्रत्येक बुद्ध-सिद्ध है, क्योकि उन्होने परोपदेश के बिना अपनी शक्ति के द्वारा ज्ञानातिशय को प्राप्त किया है। अन्य बोधितबुद्ध-सिद्ध कहे गए है, वे परोपदेशपूर्वक ज्ञान की उत्कृष्टता को प्राप्त करते है। इस अपेक्षा से तीर्थंकर भगवान 'प्रत्येकबुद्ध सिद्ध' कहे जावेगे।

परमार्थ-दृष्टि

इस प्रकार विविध दृष्टियो से सिद्ध भगवान के विषय में परमागम मे प्रकाश डाला गया है। परमार्थतः सब सिद्ध समानरूप से स्वभावरूप परिणत हैं। उनका यथार्थ बोध न मिलने से एकान्त पक्षवालो ने भ्रान्त धारणाएँ बना ली है।

सिद्ध भगवान के विषय मे विविध अपरमार्थ विचारो का निराकरण करते हुए सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र कहते है—

अट्ठविहकम्मवियला सीदी भूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्ग-णिवासिणो सिद्धा ॥गो जी० ६८॥

वे सिद्ध भगवान ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों से रहित हैं, अतएव वे सदाशिव मत की मान्यता के अनुसार सदा से मुक्त अवस्था संपन्न

नहीं है। वे जन्म, मरणादि रूप सहज दुःख, रागादि से उद्भूत शारीरिक दुःख, सर्पादि से उत्पन्न आगंतुक पीड़ा, आकुलता रूप मानसिक व्यथा आदि के संताप से रहित होने से शीतलता प्राप्त हैं, अतएव सुखी हैं। इससे साँख्यमत की कल्पना का निराकरण होता है, क्योंकि वह सांख्य मुक्तात्मा के सुख का अभाव कहता है:—"अनेन मुक्तौ आत्मनः सुखाभावं वदन् सांख्यमतमपाकृतम्"

वे भगवान कर्मों के आस्रव रूप मल रहित होने से निरंजन हैं। इससे सन्यासी (मस्करी नामके) मत का निराकरण होता है, जो कहता है, "मुक्तात्मनः पुनः कर्माजनसंसर्गेण संसारोस्ति"—मुक्तात्मा के फिर से कर्मरूपी मल के संसर्ग होने के कारण संसार होता है। वे सिद्ध प्रति समय अर्थपर्यायों द्वारा परिणमन युक्त होते हुए उत्पाद-व्यय को प्राप्त करते हैं तथा विशुद्ध चैतन्य-स्वभाव के सामान्य भाव रूप जो द्रव्य का आकार है वह अन्वय रूप है, उसके कारण सर्व कालाश्रित अव्यय रूप होने से वे नित्यता युक्त हैं। इससे "परमार्थतो नित्यद्रव्यं न"—वास्तव में कोई नित्य पदार्थ नहीं है, किन्तु प्रतिक्षण विनाशीक पर्याय मात्र हैं, इस बौद्ध मत का निराकरण होता है। वे वे ज्ञानवीर्यादि अष्ट गुणयुक्त हैं। "इत्युपलक्षणं तेन तदनुसार्यनंत-गुणानां तेष्वेवांतर्भावः"—में आठ गुण उपलक्षण मात्र हैं। इनमें उन गुणों के अनुसारी अनंतानंत गुणों का अंतर्भाव हो जाता है। इससे नैयायिक तथा वैशेषिक मतों का निराकरण हो जाता है; जो कहते हैं, "ज्ञानादिगुणा-नामत्यंतोच्छित्तिरात्मनो मुक्तिः"—ज्ञानादि गुणों के अत्यन्ताभाव रूप मोक्ष है।

वे भगवान कृतकृत्य हैं, क्योंकि उन्होंने "कृतं निष्ठापितं कृत्यं सकलकर्मक्षयतत्कारणानुष्ठानादिकं यैस्ते कृतकृत्याः," सम्यग्दर्शन चारित्रादि के अनुष्ठान द्वारा सकल कर्मक्षय रूप कृत्य अर्थात् कार्य को संपन्न कर लिया है। इससे उस मान्यता का निराकरण होता है, जिसमें सदामुक्त ईश्वर को विश्व निर्माण में संलग्न बताकर अकृत-

कृत्य कहा गया है (ईश्वरः सदामुक्तोपि जगन्निर्माणे कृतादरत्वेनाकृतकृत्य.)।

वे लोकत्रय के ऊपर तनुवातवलय के अंत में निवास करते हैं (तनुवातप्रांते निवासिनः—स्थास्नवः)। इससे माडलिक मत का निवारण होता है, जो मानता है कि मुक्त जीव विश्राम न कर निरन्तर ऊपर ही ऊपर चले जाते हैं (आत्मन उर्ध्वगमन-स्वाभाव्यात् मुक्तावस्थायां क्वचिदपि विश्रामाभावात् उपर्युपरि गमनमिति वदन्माडलिकमत प्रत्यस्त। गो० जी० टीका पृष्ठ १७८)।

पंचम सिद्धगति

मुक्तात्माओ की गति को सिद्धगति कहा है। यह चार गतियों से भिन्न है, जिनके कारण ससार में परिभ्रमण होता है। इस पंचम गति के विषय मे नेमिचंद्राचार्य कहते हैं :—

जाइ-जरा-मरण-भया सजोगविजोग-दुक्ख-सण्णाओ।
रोगादिगा य जिस्से ण संति सा होदि सिद्धगई॥ गो० जी० १५२॥

जिस गति मे जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग वियोग-जनित दुःख,[1] आहारादि संज्ञाए, शारीरिक व्याधि का अभाव है, वह सिद्धगति है।

---

१ इस सिद्धगति के विषय मे गाम्मटसार जावकाण्ड के अंग्रेजी अनुवाद में स्व० जस्टिस जे० एल० जैनी लिखित यह अंश मार्मिक है :—

"The condition of liberated souls is described here. Liberation implies freedom from Karmic matter, which shrouds the real glory of the soul, drags it into various conditions and makes it experience multifarious pleasures and pains. But when all the karmas are destroyed, the soul which by nature has got an upward motion rises to the highest point of the universe—the Siddha-Shila and there lives for endless time in the enjoyment of its own glorious qualities un-encumbered by the worldly pleasures or pains. This is the ideal condition of a soul (Gommatasara—Page 101)

इस सिद्धगति की कामना करते हुए मूलाचार में कहा है :—

जा गदी अरहंताणं णिट्ठिदट्ठाणं च जा गदी।
जा गदी वीतमोहाणं सा मे भवदु सस्सदा ॥११६॥

जो गति अरिहंतों की है, जो गति कृतकृत्य सिद्धों की है, जो गति वीतमोह मुनीन्द्रों की है, वह मुझे सदा प्राप्त हो।

मुक्ति का उपाय

इस मुक्ति की प्राप्ति का यथार्थ उपाय जिनेन्द्र वीतराग के धर्म की शरण ग्रहण करना है। जैन प्रार्थना का यह वाक्य महत्वपूर्ण है :—"चत्तारि सरणं पव्वज्जामि। अरहंतसरणं पव्वज्जामि। सिद्ध-सरणं पव्वज्जामि। साहूसरणं पव्वज्जामि। केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि"—मैं चार की शरण में जाता हूँ; अरहंतों की शरण में जाता हूँ। सिद्धों की शरण में जाता हूँ। साधुओं की शरण में जाता हूँ। केवली प्रणीत धर्म की शरण में जाता हूँ। यहां धर्म का विशेषण 'केवलिपण्णत्तो' अर्थात् सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित' महत्वपूर्ण है। संसार के चक्र में फंसे हुए संप्रदायों के प्रवर्तकों से यथार्थ धर्म की देशना नहीं प्राप्त होती है।

मार्मिक कथन

इस प्रसंग में विद्यावारिधि स्व० चंपतरायजी बार-एट-ला का कथन चिंतन पूर्ण है :—

यथार्थ में जैनधर्म के अवलंबन से निर्वाण प्राप्त होता है। यदि अन्य साधना के मार्गों से निर्वाण मिलता, तो वे मुक्तात्माओं के विषय में भी जैनियों के समान स्थान, नाम, समय आदि जीवन की बातें उपस्थित करते। "No other religion is in a position to furnish a list of men, who have attained to God-hood by following its teachings." (Change of Heart, page 21)—जैन धर्म के सिवाय कोई भी धर्म उन लोगों की

सूची उपस्थित करने में समर्थ नहीं है, जिन्होंने उस धर्म की आराधना द्वारा ईश्वरत्व प्राप्त किया है ।

इस सबध मे चौबीस तीर्थंकरों की पूजा में आगे पाठ के परिशीलन से पर्याप्त प्रकाश प्राप्त होता है तथा शांति मिलती है। यहां वर्तमानकालीन तीर्थंकरों के जन्मस्थान, यक्ष-यक्षी, माता-पितादि का कथन करते हुए निर्वाण भूमि का वर्णनपूर्वक नमस्कार अर्पण किया गया है ।

"साकेतपुरे नाभिराजमरुदेव्योर्जाताय कनकवर्णाय पंचशत-धनुरुत्सेधाय वृषभलाछनाय, गोमुख-चक्रेश्वरी-यक्षयक्षीसमेताय चतुर-शीतिलक्षपूर्वायुष्काय कैलासपर्वते कर्मक्षयं गताय वृषभतीर्थकराय नमस्कारं कुर्वे ।

साकेतपत्तने जितारिनृप-विजयादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय गजलाछनाय पचाशदधिकशतचतुष्टयधनुरुत्सेधाय महायक्ष-रोहिणी–यक्षयक्षीसमेताय द्वासप्ततिलक्षपूर्वायुष्काय सम्मेदे सिद्धिवरकूटे कर्मक्षय-गताय श्रीमदजिततीर्थकराय नमस्कार कुर्वे ।

सावतीपत्तने दृढरथभूपति-सुषेणादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय चतु शतधनुरुत्सेधाय श्रीमुख-प्रज्ञप्ती-यक्षयक्षीसमेताय अश्वलांछनाय षष्ठिलक्षपूर्वायुष्काय संमेदगिरौ दत्तधवलकूटे परिनिर्वृताय श्रीशंभव-तीर्थकराय नमस्कारं कुर्वे ।

श्रीकौशलदेशे अयोध्यापत्तने संवरनृप-सिद्धार्थामहादेव्यो र्जाताय सुवर्णवर्णाय पंचाशदधिकत्रिशतधनुरुत्सेधाय पंचाशल्लक्ष-पूर्वायुष्काय कपिलाछनाय यक्षेश्वरवज्रशृंखलायक्षयक्षीसमेताय सम्मेद-गिरौ आनदकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीमदभिनंदनतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

अयोध्यापुरे मेघरथनृप-सुमंगलादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय त्रिशतधनुरुत्सेधाय चक्रवाकलांछनाय चत्वारिंशल्लक्षपूर्वायुष्काय तुंबर-

पुरुषदत्तायक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे अविचलकूटे कर्मक्षयं गताय श्रीसुमतितीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

कौशांबीपत्तने धरणनृप-सुपीमादेव्योर्जाताय लोहितवर्णाय कमललांछनाय त्रिंशल्लक्षपूर्वायुष्काय पंचाशदधिक-द्विशतधनुरुत्सेधाय पुष्प-मनोवेगायक्षयक्षीसमेताय सम्मेदगिरौ मोहनकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीपद्मप्रभतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

वाराणसीपत्तने सुप्रतिष्ठनृप – पृथ्वीदेमहादेव्योर्जाताय स्वस्तिकलांछनाय हरितवर्णाय द्विशतधनुरुत्सेधाय चतुर्विंशतिलक्ष-पूर्वायुष्काय वरनंदि-कालीयक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे प्रभासकूटे कर्म-क्षयंगताय श्रीसुपार्श्वतीर्थंकराय नमस्कारं कुर्वे ।

चंद्रपुरीपत्तने महासेनमहाराज – लक्ष्मीमतीदेव्योर्जाताय चंद्रलांछनाय शुभ्र-वर्णाय पंचाशदधिकैकशत-धनुरुत्सेधाय दशलक्ष पूर्वायुष्काय शाम-ज्वालामालिनीयक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे ललितघन-कूटे कर्मक्षयंगताय श्रीचंद्रप्रभु-तीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

काकंदीपत्तने सुग्रीवमहाराज–जयरामादेव्योर्जाताय शुभ्र-वर्णाय शतधनु - रुत्सेधाय द्विलक्षपूर्वायुष्काय कर्कटलांछनाय अजित-महाकाली - यक्षयक्षीसमेताय संमेदगिरौ सुप्रभकूटे कर्मक्षयंगताय श्री पुष्पदंततीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

भद्रपुरेदृढ़रथमहाराजसुनंदादेव्योर्जाताय श्रीवृक्षलांछनाय इक्ष्वाकुवंशाय, सुवर्णवर्णाय नवतिधनुरुत्सेधाय एकलक्षपूर्वायुष्काय ब्रह्म-कालीयक्षयक्षीसमेताय सम्मेदगिरौ विद्युद्वरकूटे कर्मक्षयंगताय श्री शीतलतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

सिंहपुराधीश्वरविष्णुनृपति-नंदादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय गंडलांछनाय अशीतिधनुरुत्सेधाय चतुरशीतिलक्षवर्षा-युष्काय ईश्वरगौरीयक्ष-यक्षीसमेताय सम्मेदगिरौ संकुलकूटे कर्मक्षयं गताय श्रीश्रेयांसतीर्थंकराय नमस्कारं कुर्वे ।

वसुपूज्यनृप-जयादेव्योर्जाताय कुमारवालब्रह्मचारिणे रक्त-वर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय महिषलाछनाय सप्ततिधनुरुत्सेधाय द्वासप्तति-लक्षवर्षायुष्काय सुकुमार-गांधारी-यक्षयक्षीसमेताय चंपापुरसमीपे रजतवालुकाख्यनदीतीरे मदरशैलशिखरे मनोहरोद्याने मोक्षंगताय श्री वासुपूज्यतीर्थंकराय नमस्कार कुर्वे ।

काम्पिल्याख्यनगरे कृतवर्मनृप-आर्यश्यामादेव्योर्जाताय सुवर्ण-वर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय वराहलाछनाय षष्ठिधनुरुत्सेधाय पञ्चाशल्लक्ष वर्षायुष्काय षण्मुख-वैरोटी-यक्षयक्षीसमेताय समेदगिरौ वीरसकुल-कूटे कर्मक्षयगताय श्रीविमलतीर्थंकराय नमस्कार कुर्वे ।

अयोध्यापत्तने सिंहसेननृपति-जयश्यामादेव्योर्जाताय सुवर्ण-वर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय पञ्चाशद्धनुरुत्सेधाय त्रिंशल्लक्षवर्षायुष्काय भल्लूकलाछनाय पातालअनंतमतीयक्षयक्षी–समेताय समेदगिरौ कर्मक्षयगताय श्रीमदनंततीर्थंकराय नमस्कारं कुर्वे ।

रत्नपुरे भानुमहाराज-सुप्रभामहादेव्योर्जाताय हाटकवर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय वज्रलाछनाय पंचोत्तरचत्वारिंशद्धनुरुत्सेधाय दशलक्ष-वर्षायुष्काय किन्नर-मानसीयक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे दत्तवरकूटे परिनिर्वृताय श्रीधर्मनाथतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

हस्तिनापुरे विश्वसेनमहाराज - ऐराबामहादेव्योर्जाताय काचनवर्णाय चत्वारिंशद्धनुरुत्सेधाय एकलक्षवर्षायुष्काय गरुड-महामानसी-यक्षयक्षीसमेताय हरिणलाछनाय कुरुवंशाय सम्मेदशिखरे प्रभासाख्यकूटे कर्मक्षयगताय श्रीशांतिनाथतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

हस्तिनाख्यपत्तने श्रीसूरसेनमहाराज-कमलामहादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय पंचाधिकत्रिंशद्धनुरुत्सेधाय पंचोत्तरनवतिसहस्त्रवर्षा-युष्काय अजलाछनाय कुरुवंशाय गंधर्व–जयायक्षयक्षीसमेताय सम्मेदे ज्ञानधरकूटे कर्मक्षयगताय श्रीकुंथुतीर्थेश्वराय नमस्कार कुर्वे ।

हस्तिनापुरे सुदर्शनमहाराज – सुमित्रादेव्योर्जाताय सुवर्णवर्णाय कुरुवंशाय त्रिंशद्धनुरुत्सेधाय मत्स्यलांछनाय चतुरशीतिसहस्र –वर्षायुष्काय माहेन्द्र-विजयायक्षयक्षीसमेताय सम्मेदगिरौ नाटककूटे कर्मक्षयंगताय श्रीमदरतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

मिथिलापत्तने कुंभमहाराजप्रभावतीदेव्योर्जाताय हाटकवर्णाय इक्ष्वाकुवंशाय पंचविंशतिधनुरुत्सेधाय पंचपंचाशतसहस्र - वर्षायुष्काय कुंभलांछनाय कुबेरअपराजित-यक्षयक्षीसमेताय श्रीसम्मेदे संवलकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीमल्लितीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

राजगृहपत्तने सुमित्रमहाराजपद्मावतीदेव्योर्जाताय इन्द्रनील-रत्नवर्णाय विंशतिचापोन्नताय त्रिंशत् सहस्रवर्षायुष्काय-कच्छपलांछनाय वरुणबहुरूपिणी - यक्षयक्षीसमेताय हरिवंशाय सम्मेदगिरौ निर्जरकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीमुनिसुव्रततीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

मिथिलाख्यपत्तने विजयनृप-वर्मिलामहादेव्योर्जाताय कनकवर्णाय पंचदशधनुरुत्सेधाय दशसहस्रवर्षायुष्काय कैरवलांछनाय भृकुटि-चामुण्डीयक्षयक्षीसमेताय इक्ष्वाकुवंशाय सम्मेदगिरौ मित्रधरकूटे कर्मक्षयंगताय श्रीनमितीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

शौरीपुराधीश्वरसमुद्रविजयमहाराजमहादेवीशिवदेव्यो र्जाताय नीलनीरदनिभवर्णाय दशचापोन्नताय सहस्रवर्षायुष्काय शंख लांछनाय हरिवंशतिलकाय सर्वाह्न - कूष्माण्डिनी - यक्षयक्षीसमेताय ऊर्जयन्तशिखरे परिनिर्वृताय श्रीनेमितीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

वाराणसीनगरे विश्वसेनमहाराज - ब्राह्मामहादेव्योर्जाताय हरितवर्णाय नवकरोन्नताय शतवर्षायुष्काय सर्पलांछनाय धरणेन्द्र-पद्मावतीयक्षयक्षी-समेताय उग्रवंशाय सम्मेदगिरौ सुवर्णभद्रकूटे परिनिर्वृताय श्रीपार्श्वतीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

श्रीकुण्डपुरे सिद्धार्थनरेशप्रियकारिणीदेव्योर्जाताय हेमवर्णाय सप्तहस्तोन्नताय द्वासप्ततिवर्षायुष्काय केसरिलांछनाय मातंग-

सिद्धायिनी-यक्षयक्षीसमेताय नाथवंशाय पावापुरमनोहरवनांतरे बहूनां सरसां मध्ये महामणिशिलातले परिनिर्वृताय श्रीमहावीरवर्धमान-तीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।"

भूतकालीन चौबीस तीर्थंकर

"निर्वाण-सागर-महासाधु-विमलप्रभसु-दत्त-अमलप्रभ-उद्धर-अंगिर-सन्मति-सिंधु-कुसुमांजलि-शिवगण-उत्साह-ज्ञानेश्वर-परमेश्वर-विमलेश्वर-यशोधर-कृष्णमति-ज्ञानमति-शुद्धमति-श्रीभद्र-अतिक्रान्त-शांताश्चेति भूतकालसबन्धि-चतुर्विंशति-तीर्थंकरेभ्यो नमो नमः ।

भविष्यकालीन चौबीस तीर्थंकर

महापद्म-सुरदेव-सुपार्श्व-स्वयप्रभ-सर्वात्मभूत-देवपुत्र-कुलपुत्र-उदक-प्रौष्ठिल-जयकीर्ति-मुनिसुव्रत-अर-निष्पाप-निष्कषाय-विपुल-निर्मल-चित्रगुप्त-स्वयभू-अनिवर्तक-जय-विमल-देवपाल-अनंतवीर्या-श्चेति-भविष्यत्कालसबन्धि-चतुर्विंशति-तीर्थंकरेभ्यो नमो नमः ।

पञ्चविदेहस्थित विंशति तीर्थंकर

सीमंधर-युगमंधर-बाहु-सुबाहु-सुजात-स्वयप्रभु-वृषभानन-अनन्तवीर्य-सुरप्रभ-विशालकीर्ति-वज्रधर-चन्द्रानन-भद्रबाहु-भुजंगम-ईश्वर-नेमिप्रभ-वीरसेन-महाभद्र-देवयश-अजितवीर्यश्चेति-विदेहक्षेत्र-स्थित-विंशति-तीर्थंकरेभ्यो नमो नमः ।"

भगवान के उपदेश का मर्म

जिनेन्द्र भगवान के कथन को एक ही गाथा द्वारा महामुनि कुंदकुंद स्वामी इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

> रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंजुत्तो ।
> एसो जिणोवएसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥समयसार

रागी जीव कर्मों का बंध करता है, वैराग्य-संपन्न जीव बंधन से मुक्त होता है; यह जिन भगवानका उपदेश है; अतः हे भव्य जीवो ! शुभ अशुभ कर्मों में राग भाव को छोड़ो ।

अभिवंदना

हम त्रिकालवर्ती तीर्थकरों को इन विनम्र शब्दों द्वारा प्रणामांजलि अर्पित करते हैं :—

सकल लोक में भानु सम तीर्थंकर जिनराय ।
आत्म-शुद्धि के हेतु मैं वंदों तिनके पाय ।।

'तीर्थंकर' पुस्तक पर अभिमत

जैन महिलारत्न, ब्रह्मचारिणी, पंडिता चन्दाबाईजी, आरा, प्रधान सम्पादिका 'जैन महिलादर्श' —

"पौराणिक ज्ञान के लिए यह रचना अनूठी, सुन्दर हुई है। तीर्थंकरों के पूर्ण पुराण को बाँचकर जो कुछ ज्ञान होता है, उससे अधिक ज्ञान इस पुस्तक के बाँचने से प्राप्त हो सकता है। श्री सुमेरचन्द जी दिवाकर ने जिनेन्द्र के पाँचों कल्याणको का वर्णन करते हुए आधुनिक विज्ञान से भी जैनधर्म की तुलना की है। इससे वर्तमान युग के मनुष्यो का श्रद्धान दृढ होगा। पुस्तक मे लिखा है कि इन्द्र ने सर्वप्रथम योग, समय, नक्षत्र, लग्न आदि के सयोग होने पर अयोध्यापुरी के मध्य मे जिन मन्दिर की रचना की थी, पश्चात् चारों दिशाओ मे भी जिन मन्दिरो की रचना की इससे मन्दिर निर्माण करना भी आवश्यक ज्ञात होता है। दिवाकरजी सुप्रसिद्ध लेखक हैं। आपकी रचनाएँ चारो अनुयोगो मे जब भी प्रकाशित होती रहती हैं, उत्तम होती हैं। पुस्तक मँगाकर पाठक-पाठिकाओ को बाँचना चाहिए और जैन परीक्षायो को पाठ्य पुस्तको मे (कोर्स मे) रखना चाहिए। जिससे विद्यार्थियो को तीर्थंकरो का ज्ञान होगा।"

न्यायाचार्य, प्रशम मूर्ति, क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी (मुनि गणेशकीर्ति जी महाराज)

श्रीमान् दिवाकर प० सुमेरचन्द्र जी, योग्य कल्याण भाजन हो।

महोदय पत्र मिला, समाचार जाने। हमारा स्वास्थ्य गर्मी के कारण अति कमजोर हो गया है। आपका समागम थोडा ही हमें मिला परन्तु बडा ही सुखद रहा। ऐसा सुयोग फिर भी मिलेगा। यहाँ माता कुंथुमती जी तथा ऐलक सिद्धसागर जी आदि सब सघ आनन्द है। आप भी कुशल होगें। आपकी तीर्थंकर पुस्तक अनुपम है। एकत्र सर्वसामग्री का सयोग किया है। जैनधर्म की प्राचीनता इससे पूर्ण झलकती है। इतिहास के गवेषियो को यह सक्षेप मे अति गम्भीर शिक्षा देने वाली है। इसमें तीर्थंकरों की सर्वोदय सामग्री सन्निहित

है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए सच्चा शास्त्र है। इसके लेखक महाविद्वान् हैं। उन्होंने बहुत ही अनुभवपूर्ण लेखनी से इसे लिखा है। मैंने इसे सुना, सुनकर अपूर्व आल्हाद हुआ। आज ऐसे ही ग्रन्थों की लोक में आवश्यकता है। उसकी पूर्ति इस पुस्तक से हो गई है। घर में सबसे सुभाशीष कहना।"

आ० शु० चि० गणेश वर्णी

तर्करत्न, सिद्धान्त महोदधि, विद्वद्रत्न पं० माणिकचन्द्र जी न्यायाचार्य फिरोजाबाद :—

"तीर्थंकर पुस्तक बड़े परिश्रम से लिखी है। आपकी चढ़ी हुई प्रतिभा: पूर्ण विद्वता का मूर्तिमान प्रतिविम्ब इस पुस्तक में निबद्ध है। अनेक ग्रन्थियों को सुलझाया गया है। पौराणिक प्रमेयों को युक्ति-उदाहरणों द्वारा दार्शनिकों के गले उतार लिया है। तीर्थंकरों के पाँच कल्याणकों को सरल, मधुर भाषा आबाल-अबला वृद्धों को समझा दिया है। आपने अपने श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र को बहुत बढ़ा लिया है।"

भारतवर्षीय दि० जैन० महासभा के संरक्षक दानवीर धर्मवीर सर सेठ भागचन्दजी सोनी, अजमेर :—

तीर्थंकर पुस्तक बड़े रोचक ढंग से लिखी गई है। बड़ी सरल एवं सरस भाषा में विषयों को समझाया गया है।

राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त :—

मैं समालोचना का अधिकारी नहीं; परन्तु इतना तो कह ही सकता हूँ, कि ऐसा ग्रन्थ लिखने की योग्यता और श्रद्धा आपमें भरपूर है। आपने सुन्दर और उपयोगी कार्य किया है। मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ का सर्वत्र समादर होगा।

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पद्मभूषण डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, कलकत्ता :—

आपकी रचनाओं में सांस्कृतिक सामग्री का विपुल भंडार है, जिसका व्यापक ज्ञान आवश्यक है। इस दृष्टि से आपके प्रकाशन अत्यन्त उपयोगी हैं।

जैन-मित्र, सूरत :—

पाचो कल्याणकों का ऐसा वर्णन प्रथम ही प्रगट हुआ है। बड़ी विद्वता के साथ वर्णन किया गया है।

जैन-दर्शन, सोलापुर :—

तीर्थंकरो के पचकल्याणक सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन बहुत सुन्दर ढग से किया गया है। यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है, विद्वान लेखक ने इसको लिखकर मुमुक्षु जनता के प्रति भारी उपकार किया है।

जैन-संदेश, मथुरा :—

ग्रथ में वर्णित विषयों का बड़े श्रमपूर्वक संकलन किया है। अनेकानेक अवतरण देकर ग्रथ को अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। विभिन्न गूढ़ विषयों पर लेखक ने अपनी लेखनी चलाई है।